* श्री वीरायनमः *

जम्बूकुमार

—****—

लेखक :

स्व० जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री

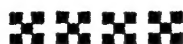
चौथमलजी महाराज



प्रकाशकः—

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाजार :: ब्यावर (अजमेर)



चतुर्थ वृत्ति २०००

मूल्य २) ५०

वीराब्द २४९७

विक्रमाब्द २०२८

प्रसिडेन्ड:—
लखमी चन्द्जी तालेड़ा

मन्त्री:—
अभयराजजी नाहर

कार्य संचालक:—
श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर

—★ दो शब्द ★—

——**——

विषय विकारों से हट कर संमय के मार्ग में अग्रसर होने के लिये त्यागी पुरुषों का जीवन चरित्र ज्योति स्तम्भ का कार्य करता है। वर्त्तमान शताब्दी में जब अश्लील पुस्तकों और चलचित्रों को मोहक से मोहक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, तथा जन साधारण काम रूपी भंवर में फंसे जा रहे हैं, उनकी रक्षा के लिये यह पुस्तक नौका का काम देगी।

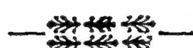
पुस्तक में एक ऐसी महान् आत्मा का जीवन चित्रण किया गया है जिसके जीवन पर हमारे जैसे हजारों जीवन न्यौछावर हैं। चरित्र नायक राजगृही के सेठ ऋषभदत्त का पुत्र जम्बूकुमार है। यौवनावस्था में ही आपको भगवत् भजन से प्रेम और संसार से उपराम हो जाता है। माता पिता के लाखों की सम्पत्ति है, वह ज्यों-ज्यों करके जम्बूकुमार की शादी आठ नवयुवतियों से कर देते है। आठों स्त्रियां सुन्दरता तथा गुणों में देवाङ्गनाओं के समान है। उनका रूप अपूर्व है। बुद्धि विशाल है। प्रथम रात अथवा सुहाग रात को जब जम्बू कुमार अपने सुसज्जित शयनागार में जाते है, वहां आठों स्त्रियां मस्त नयनों से आप का स्वागत करती हैं। उनका सुन्दर शरीर बहुमूल्य आभूषणों और महीन वस्त्रों से आच्छादित है। प्रत्येक को पूरा २ विश्वास है कि उसका रूप, सौन्दर्य तथा प्रेम कुमार पर अवश्य विजयी

होगा। उस परीक्षा की सुन्दर रात में जम्बूकुमार का मन कामदेव पर ही अभूतपूर्व विजय पाता है। तथा आठों सुन्दरियों को मर्मस्पर्शी कहानियों से किसी प्रकार समझाते हैं, और पांच सौ चोरों का सरदार प्रभव जो दहेज में आई करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति को चुराने आया था, किस प्रकार श्री जम्बूकुमार की दिव्य आत्मा से प्रभावित होकर चोरी का त्याग कर देता है, इसका सुन्दर चित्रण स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पण्डित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने इस पुस्तक में बहुत सरल तथा सुन्दर भाषा में किया गया है। पुस्तक एक मनोरंजक उपन्यास है और एक बार शुरू करने के बाद छोड़ने को जी नहीं चाहता। जनता की अधिक मांग देखकर इसकी चतुर्थ आवृती करनी पड़ी। आशा है कि पाठक गण इसे पढ़कर अपना जीवन संयमी बनाएगें।

विनीत:—

प्रकाशक

जम्बू स्वामी



प्रवेश

श्रमण भगवान् महावीर को निर्वाण पद प्राप्त किये २४६६ शताब्दियां व्यतीत हो चुकी हैं। एक समय था, जब इतिहास घोर अधकार में चक्कर काट रहा था, और आर्यावर्त्त के इस श्रेष्ठतम महापुरुष के विषय में अनेक भ्रमों का भार उठाये फिरता था। धीरे-धीरे जैन साहित्य सूर्य का उदय हुआ—वह सर्व साधारण विद्वानों के सामने आया और इतिहास को भी प्रकाश मिला। उस प्रकाश में विद्वानों ने दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के अस्तित्व का निश्चय किया। अब उनकी सत्ता निर्विवाद सत्य का स्थान ग्रहण कर चुकी है। इतिहासज्ञ विद्वान् ने केवल उनकी परन्तु उनसे पूर्ववर्त्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की भी सत्ता को स्वीकार करते है।

भगवान् महावीर स्वामी की सत्ता की भांति ही यह भी एक सर्व सम्मत सत्य है कि जब वे आर्यावर्त्त में अवतीर्ण हुए तब

आर्यावर्त्त धर्म के मर्म को भूल चुका था। धर्म का स्थान आत्मा है। जीवन के साथ धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह हमारी भावनाओं में वास करता है। इस सत्य को विस्मरण कर देने के कारण आर्यावर्त्त की जनता वास्तविक धर्म से वहुत दूर हट गई थी। वाह्य क्रियाकांड, आडम्बर और दिखावे ने धर्म के पवित्र आसन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसी में लोगों की धार्मिक भावना परिसमाप्त हो जाती थी। बाह्य क्रियाकांडों में यज्ञ की प्रणाली का मुख्य स्थान था। अनगिनते पशु धर्म के पवित्र नाम पर तलवार के घाट उतारे जाते थे। यह वीभत्स कांड ही उस समय धर्म का चिह्न था और हिंसा जैसे क्रूर कर्म को करने वाले लोग धर्मात्मा कहला कर प्रतिष्ठा के पात्र वनते थे। सचमुच धर्म का यह वीभत्स और रौद्र रूप चिरकाल से अध्यात्म की साधना और उपासना करने वाले आर्यावर्त्त के प्रशान्त ललाट पर कलंक था। यही नहीं वल्कि उससे मानव-समाज के श्रेयस के वदले अश्रेयस ही हो रहा था।

पशुओं के इस भयङ्कर संहार तक ही वह धर्म सीमित नहीं था। उसने मनुष्यों में भी जन्मगत उच्चता-नीचता का वैषम्य पैदा कर मानव-जाति की मौलिक एकता का विघात किया था। इस कल्पित वैषम्य के विष से मनुष्य-जाति का एक भाग घोर निकृष्ट कार्य करते हुए भी पूजा का पात्र वना रहता था, जव कि दूसरा भाग सदाचार परायण होने पर भी घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। जनता की भावना में ही इस विषमता का रास होता तो कुछ गनीमत भी थी, पर वहां तो शास्त्रों में भी ऐसे ही विधान वना कर घुसेड़ दिये थे और किसी भी ग्रन्थ को शास्त्र

रूप में स्वीकार करना कुछ स्वार्थप्रिय लोगों के हाथ की बात थी। अंधेर की इस प्रकार कोई सीमा न रही थी। मानव जाति के इस अनुचित भिवाजन और पशु-वर्ग के भीपण संहार ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को छिपा दिया था।

उस समय भगवान् महावीर इस आर्यावर्त्त में अवत्तीर्ण हुए थे। उन्होंने धर्म के इन भ्रमों का निराकरण करने के लिए अपनी शक्ति लगाई। उनका समस्त जीवन घोर साधना के पश्चात् इन भ्रमों को दूर करने और असली धर्म का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में व्यतीत हुआ। उन्होंने आर्यावर्त्त में एक अपूर्व ज्योति जगाई। कल्पित भेदों और मिथ्या आडम्बरों को धर्म की शीतल छाया से दूर कर मानव-जगत् को कल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई। धर्म को अपना आशन मिला। वह युग इतिहास में स्वर्ण वर्णों में अंकित किया जायगा इसमें जरा भी संदेह नही।

इसी युग की यह कहानी है। स्वप्न की भांति कल्पित नहीं, प्रत्यक्ष की भांति सत्य है। भगवान् महावीर के समय में राजगृही नगरी अत्यन्त विशाल प्रासादों से सुशोभित, धन धान्य से परिपूर्ण, दर्शन के नेत्रों को हरण करने वाली और मनोहर बाग-बगीचों से अतिशय रमणीय थी। वह भारत की प्रसिद्ध नगरी थी।

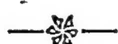
राजगृही के राजसिंहासन पर उस समय प्रसिद्ध श्रेणिक विराजमान थे। महाराज श्रेणिक के सुयोग्य और बुद्धिशाली सुपुत्र अभयकुमार मन्त्री थे। श्रेणिक के राज्य में प्रजा सब प्रकार से समृद्ध, सुखी, सम्पन्न और स्वस्थ थी। श्रेणिक राजा थे, पर वास्तव में वह प्रजा के पिता थे। जैसे आदर्श पिता अपनी समस्त

शक्तियां पुत्र के लालन-पालन और संरक्षण में व्यय करता है उसी प्रकार श्रेणिक अपनी प्रजा के पालन पोषण और संरक्षण में लगाते थे आदर्श राजा, प्रजा के सुख-दुःख को ही अपना सुख-दुःख समझता है। वह मानो अपनी सत्ता को—अपने व्यक्तित्व को सारी प्रजा में बिखेर देता है और अपनी प्रजा को ही 'आप' मानता है। इसलिए प्रजा से भिन्न उसकी अपनी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। प्रजा ही राजा और राजा ही प्रजा बन जाती है। भारतीय इतिहास में राजा-प्रजा का यह अभेद सम्बन्ध एक आदर्श वस्तु है। यही कारण है कि राजा के एक इशारे पर प्रजा अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाती थी और प्रजा के कल्याण के लिए राजा प्रसन्नतापूर्वक अपना जीवन निछावर कर देता था। वास्तव में वह सम्न्ध अत्यन्त सरस और मधुर था। उसी सम्वन्ध के कारण उस समय प्रजा में खूब अमन चैन था और राजा निर्भय एवं निष्कटक थे।

खेद है कि राजा उस पवित्र परम्परा को कायम न रख सके। ज्यों ज्यों राजा प्रजा का संवंध क्षीण होता गया त्यों-त्यों मुसिवतों के पहाड़ गिरने लगे। आज तो यह अवस्था है कि राजा, प्रजा से अत्यन्त शंकित रहते है। कड़े पहरे में कैदियों की भांति रहते हैं और प्रजा को अयना प्रवल शत्रु समझते हैं। वास्तव में उनकी समझ निराधार भी नहीं है। राजाओं की स्वार्थप्रियता ने प्रजा से उन्हें वहुत दूर हटा दिया है। अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए वे प्रजा पर क्रूर से क्रूर अत्याचार करने में हिचकते नहीं हैं। अब राजा और प्रजा परस्पर विरोधी दो शक्तियां बन गई हैं। राजतन्त्र धीरे-धीरे उठता चला जाता है और प्रजातन्त्र की विजय

होती जाती है। इस परिवर्तन के मूल में राजाओं की मनोवृत्ति ही कारण है। प्राचीन भारत में यह खेंचातान न थी और इसी कारण प्रजा-राजा दोनों ही एक बड़े कुटुम्ब की भांति प्रेम पूर्वक रहते थे। महाराज श्रेणिक के समय में यही अवस्था थी। वह प्रजा के प्राण थे और प्रजा उनका प्राण।

राजकुमार अभयकुमार मन्त्री पद पर कार्य करते हुए शासन के संचालन में महत्वपूर्ण सहायता देते थे। वे इतने चतुर और बुद्धिमान थे कि उन्हें धोखा देने का कोई साहस नहीं कर सकता था। मिथ्या, मिश्र और सत्य बातों में से शुद्ध सत्य को खोज निकालने में उन्हें कमाल हासिल था। हंस जैसे क्षीर-नीर को अलग अलग कर देता है उसी प्रकार वे सत्य असत्य को जुदा कर देते थे। अतएव श्रेणिक की राज सभा में अन्याय की गुंजाइश नहीं थी। जो मामला अत्यन्त पेचीदा होता था, जिसे सुनकर अन्य सभासद किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहते थे, उस मामले में भी अभयकुमार की तीक्ष्ण बुद्धि बड़ी सरलता से प्रवेश करती थी और अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढङ्ग से वे वह मामला तय कर देते थे। उस समय का न्याय भी सस्ता और यथार्थ होता था। तब आजकल की भांति कचहरी (बाल तक उखाड़ने वाली) का गोरखधंधा नहीं था। अभयकुमार का बुद्धिकौशल आज भी विख्यात है और उनके सबंध की अनेक कहानियां अब भी रुचि से पढ़ी जाती है।



भगवान् का पदार्पण

एक बार श्रमण भगवान् महावीर धर्म का उपदेश देते हुए,

भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग बताकर उसमें प्रवृत्त करते हुए राजगृही नगरी में पधारे। वे नगरी से बाहर एक सुन्दर उद्यान में विराजमान हुए। उद्यानपाल ने भगवान् के पदार्पण का शुभ संवाद महाराज श्रेणिक के पास पहुँचाया। वह राजसभा में जाकर बोला—'श्री महाराज ! आज राजगृही नगरी के धन्य भाग्य से श्रमण भगवान् का पदार्पण हुआ है, जिनके दर्शन के लिए आप और नगर की समस्त जनता अत्यन्त उत्सुक रहती है।

उद्यानपाल के इन शब्दों ने श्रेणिक के कर्ण कुहरों में जैसे मिश्री घोल दी। यह मधुर वचन सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ शुभ संवाद सुनाने के उपलक्ष्य में श्रेणिक ने मुकुट के अतिरिक्त उस समय धारण किये हुए समस्त बहुमूल्य आभूषण उद्यानपाल को पुरस्कार स्वरूप दे दिये। उसी समय महाराज श्रेणिक ने भगवान् के पावन दर्शन की तैयारी की। भगवान् के पदार्पण का शुभ समाचार बिजली के वेग से सारी राजगृही में फैल गया। प्रजा भी उनके दर्शन करने हेतु वर्षाकालीन नदी के प्रवाह की भांति गुणशील नामक उद्यान की ओर उमड़ पड़ी। महाराज श्रेणिक राजसी ठाट बाट के साथ उच्च पदाधिकारियों तथा प्रतिष्ठित पुरुषों को लेकर रवाना हुए। गुणशील उद्यान में पहुँचकर वह विराट जनसमूह सभा के रूप में परिणित हो गया। श्रमण भगवान् महावीर ने उपस्थित जनता को धर्म देशना दी। भगवान् की सौम्य, शान्त और प्रशस्त मुख-मुद्रा दर्शकों को आन्तरिक आह्लाद उत्पन्न करती थी और उनके मुखारविन्द से निकलने वाले मंगलमय वचन श्रोताओं के हृदय पर गहरी छाप लगाते जाते थे। श्रोता एकदम शान्त-चित्रलिखित से बैठे थे। भगवान्

ने आज अपनी वृत्तियों को सुसंस्कृत करने का उपदेश दिया। सात कुव्यसन किस प्रकार मनुष्य को अपने जाल में फंसा लेते हैं, किस प्रकार गुलाम बना डालते हैं और उनका गुलाम बनकर मनुष्य कैसी कैसी दुर्दशा का पात्र बनता है, यह स्पष्ट रूप से समझाया। जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, मदिरा पान करना, वेश्या गमन करना, चौर्य कर्म करना, शिकार खेलना, पर स्त्री गमन करना, यह सात कुव्यसन हैं। मनुष्य इन कुव्यसनों के सेवन से लोक में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। वह अपनी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। कुव्यसन मनुष्य की अत्यन्त दारूण दुर्दशा में पहुँचा देते हैं। पाण्डव जैसे प्रचण्ड शक्ति के धारक जगत् में सम्मानित और विवेकशील पुरुष भी केवल जूआ खेलने के कारण भयंकर दुःख के यात्र बने थे। उन्होंने अपने विशाल राज्य से हाथ धोये, जंगलों में मारे-मारे फिरे और दास-वृत्ति स्वीकार की। तो साधारण पुरुषों की बात ही क्या है ? इस प्रकार एक एक व्यसन ही मनुष्य का जीवन उसकी इज्जत आबरू मिट्टी में मिला देता है। अतएव जो मनुष्प प्रतिष्ठा युक्त जोवन व्यतीत करना चाहते है, जो अपनी सतान को अपने सुंदर व्यवहार से धार्मिक बनाना चाहते है, और सुख शान्ति के साथ रहना च हते है उन्हें इन व्यसनों से दूर-सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

महावीर स्वामी की धर्मदेशना से श्रोताओं के कान ही पवित्र नही वरन् हृदय भी पवित्र हो गया। जिन हृदय में कुसंस्कारों के बीज विद्यमान थे वे दूर हो गये। सब यथाशक्ति कुव्यसनों का परित्याग करके और यथा विधि वन्दना-नमस्कार करके घर की ओर लौटे।

जम्बूकुमार का पूर्व परिचय

देव का आगमन और वृत्तान्त

उस समय स्वर्ग से एक देव भगवान् महावीर के निकट आया। भगवान् को भक्ति पूर्वक वन्दना-नमस्कार करके उसने पूछा—भगवन्! आपके इस दास की आयु कितनी शेष है ?

भगवन् बोले—देवानुप्रिय! सात दिवस

भगवन् से इस प्रकार उत्तर पाकर देव अपने स्थान को ओर चला गया। महाराज श्रेणिक इस समय श्री भगवान् की सेवा में उपस्थित थे। उन्हें देव के विषय में अधिक जानने की इच्छा हुई। वे विनम्रता पूर्वक बोले—भंते! सात दिन के पश्चात् यह देव काल करके कहां जन्म धारण करेगा? कृपया विस्तृत विवरण बताकर अनुगृहीत कीजिये।

भगवान् बोले—मध्य लोक में असंख्यात द्वीप-समूह है। सब द्वीप के मध्य में जम्बू द्वीप है। वह एक लाख योजन विस्तृत है। जम्बू द्वीप में पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा में लम्बे छह हिमवन आदि पर्वत है। इन पर्वतों के कारण जम्बू द्वीप सात विभागों में विभक्त हो गया है। इन विभागों को क्षेत्र कहते हैं। दक्षिण दिशा से पहला क्षेत्र भरत क्षेत्र कहलाता हैं इसी भरत क्षेत्र में 'पुर' नामक एक साधारण ग्राम है। उसमें रावड़ नाम के ब्राह्मण के घर कंदरा नामक ब्राह्मणी की कूंख से वह देवता जन्म लेगा। वे दो भाई होंगे। एक का नाम भवदेव होगा और दूसरा भावदेव नाम से प्रसिद्ध होगा। रावड़ ब्राह्मण अत्यन्त दरिद्र होने के कारण अपना और अपने कुटुम्बीजनों

का पेट पालने में भी पूर्ण रूपसे समर्थ न होगा। प्रतिदिन इधर उधर से भीख मांगकर किसी प्रकार अपना निर्वाह करेगा।

महाराज श्रेणिक यह भावी वृत्तान्त सुनकर विस्मित से हुए और भगवान् को यथा विधि वन्दना-नमस्कार आदि किया करके लौट आये।

जम्बूस्वामी के पूर्व भव

सर्वज्ञ भगवान् भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के समस्त भावों को करतल-आमलक के समान स्पष्ट रूप से जानते है। उनके ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है और पूर्ण ज्ञान होने पर अजान का लेश भी नहीं रह जाता। अतएव भगवान् ने देव का जो भावी वृत्तान्त कहा था वह ठीक उसी रूप में घटित हुआ। रावड़ ब्राह्मण के घर देव का जन्म हुआ और उसके एक भाई और भी उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण की दीन-दरिद्र दशा देखकर भवदेव को अत्यन्त उद्वेग हुआ। वह अपने पूर्वकृत कर्मों को कोसता रहता था। ससार उसे नीरस-सा प्रतीत होता था।

जीव का जब कल्याण होने वाला होता है और पुण्य कर्म का उदय होता है तो संयोगवश अनुकुल साधन मिल जाते है। भवदेव के विषय में यही हुआ। उसे एक दिन शौभाग्यवश एक मुनिराज के दर्शन हो गये। उसने मुनिराज से कहा--भगवन्! में अत्यन्त दीन हूँ, दुखी हूँ करुणापात्र हूँ ससारिक सुखों से मेरा परिचय ही नहीं हुआ है। जान पड़ता है मेरे लिए संसार दुःखमय ही वना है। इसलिए संसार में मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं है। मुझे वह फीका नजर आता है। जब ससारिक

सुखों ने मेरा परित्याग कर रखा है तो मैं स्वयं भी उनका परित्याग कर देना श्रेयस्कर समझता हूँ ! मैं ऐसे सुख की कामना भी न करूंगा। कृपा कर मुझे भी आप अपनी स्थिति में ले आइए।

मुनिराज ने भवदेव को दीक्षा का सुयोग्य पात्र समझ कर उसकी प्रार्थना अंगीकार करली और उसे मुनिधर्म में दीक्षित कर लिया। भवदेव की शास्त्र अध्ययन करने की तीव्र अभिलाषा थी। उसने शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया और थोड़े ही दिनों में वह पारंगत विद्वान बन गया। शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके आन्तरिक नेत्र खुल गये। हिताहित का उसे विशिष्ठ बोध हो गया। उसने गुरु की विनययुक्त शुश्रूषा करके जो ज्ञान प्राप्त किया था उसके बल पर वह अन्य मुमुक्षु जीवों को भी प्रतिबोध देने लगा।

भाई को प्रतिबोध

एक बार भवदेव मुनि ने अपने भाई भावदेव को प्रतिबोध देने का विचार किया। सोचा—'नाना प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण संसार में अन्ततः किसी को शान्ति और सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर अपने भाई को भी इस दुःखमय संसार से विरक्त कर जन्म-मरण के दुःख से क्यों न बचा लूं?' ऐसा विचार कर भवदेव मुनि ने अपने गुरुजी के समक्ष अपना संकल्प प्रस्तुत किया और उनकी आज्ञा पाकर 'पुर' ग्राम में जा पहुँचे। ग्राम के बाहर एक रमणीय उद्यान में मुनि स्थित हो गये।

संतो का समागम प्रकृष्ट पुण्य के उदय से प्राप्त होता है। ज्ञानान्ध होकर कुपथ की ओर बढने वाले प्राणियों को एक कर सत्मार्ग में लगाने वाले संत पुरुष संसार की शोभा है। जन

साधारण को न्याय-नीति और धर्म का उपदेश देकर वही कल्याण की ओर प्रेरित करदे हैं। जो लोग निरन्तर संतो का समागम करते हैं वे वास्तव में पुण्यशाली हैं। इस प्रकार विचार कर भावदेव, अपने भ्राता भवदेव मुनि के आगमन का सामाचार मिलते ही उनके दर्शन करने के हेतु चल दिया।

उद्यान में पहुँचकर मुनि के दर्शन किये और उनके चरणों में गिर पड़ा। थोडी देर के लिए हृदय में ममता का एक तेज तूफान आया और अपने भाई को अनगार भिक्षुक के रूप में देखकर आंखे डबडबा आई। भावों के प्रबल उद्वेग के कारण गला भर आया और थोडी देर तक उसके मुंह से आवाज न निकल सकी

मुनिराज ने कहा—भाई मुझे भिक्षुक के रूप में देखकर क्या तुम्हें खेद हो रहा है ? यदि यह सच है तो तुम्हारा खेद निर्मूल है। मैं संसार की दृष्टि में चाहे अनगार हूँ। भिक्षुक हूँ। फिर भी अपनी दृष्टि में अत्यन्त सुखी और संतुष्ट हूँ, संसार के सुख अत्यन्त विनश्वर हैं, परिमित हैं और दुःखों के वीज हैं। सारा संसार ही मानो मृग तृष्णा है। वह सुख के पीछे पागल हो कर भागा जा रहा है, मगर सुख कहां है। यह नहीं जानता। यह अज्ञान ही दुःख परम्परा का जनक है। वास्तव में सुख संसारिक भोगोपभोगो में विद्यमान नहीं है। यदि ऐसा होता तो संसार का परित्याग करके वड़े बड़े चक्रवर्ती, वलदेव वासुदेव आदि महा पुरुप क्यों अरण्य में शरण लेते ? सुख की सत्ता तो आत्मा में है। वाह्य पदार्थो की ओर से आंखे मीचकर-अन्तमुंक होकर देखो तो आत्मा में सुख का अनन्त सागर लहराता हुआ जान पड़ेगा। मगर अविवेकी जी वाहरी पदार्थों में सुख की खोज करते है।

और इसी से वे उसे नहीं पा सकते।

एक वृद्धा स्त्री संध्या के समय वस्त्र सी रही थी। अचानक उसके हाथ से सुई छूटकर गिर पड़ी अंधेरा हो चला था और सुई दिखलाई न पड़ती थी। उसने सोचा-आंखें इतनी तेज नहीं हैं और अंधेरे में सुई का मिलना सभव नहीं है। अतएव उजाले में सुई ढूंढनी चाहिए।' ऐसा विचार कर वह घर से बाहर निकली और राजमार्ग पर जो प्रकाश था वहीं सुई की खोज करने लगी। बताओ, क्या वह सुई प्राप्त कर सकती हैं? कदापि नहीं जो वस्तु जहां है ही नहीं, वहां खोज करने पर वह कैसे मिलेगी? यही सुख का हाल है। धन-जन भोगोपभोग आदि में सुख की खोज करने वाले पुरुष घर में गिरी हुई को सड़क के प्रकाश में खोजने वाली बुढिया के समान अविवेकी है। जहां संतोष है, वहां सुख है। जो कामनाओं के वस में होकर नाना प्रपंचों में पड़ा रहता है वह निश्चय ही दुखी है। कामनाओं के परित्याग से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। इसीलिये शास्त्र में कहा है:—

कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं।

अर्थात् यदि सुख चाहते हो तो कामनाओं के परित्याग से करो। यदि कामनाओं का परित्याग कर दिया तो समझलो कि दुःख भी दूर हो गया।

जिन भोगोपभोगों की प्राप्ति की अभिलाषा संसारी जीव करते हैं यदि वे प्राप्त नहीं होते तो तत्काल दुःख की अनुभूति होती है और यदि पुण्य के उदय से प्राप्त हो जाते हैं तो इच्छा और आगे बढ़ जाती है और फिर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करने की चेष्टा करनी पड़ती हैं। किन्तु जो निष्काम अनगार भोगोप-

भोगों की इच्छा ही नहीं करते उन्हें कोई दुःख होने का ही है।

भाई भावदेव, इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से विचार करोगे तो मुझे देखकर खेद करने की आवश्यकता न पड़ेगी। मैं आध्यात्मिक सुख के सागर में मग्न हूँ। मेरे पास ज्ञान का अक्षय खजाना है। तपस्या मेरा परम धन है। क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि मेरे लोकोत्तर सखा है। इन सबके कारण मुझे वह सुख प्राप्त है जिसकी कल्पना संसारी लोग नहीं कर सकते। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे सुख का सच्चा मार्ग प्राप्त हो गया।

हां, एक बात है। तुम्हारे वदले यदि मैं तुम्हारे लिए चिंता प्रकट करूं तो वह उपयुक्त हो सकती है। तुम मोह-माया के जाल मे जकड़े हुए हो, कल्याणमार्ग से विपरीत दशा में प्रयाण कर रहे हो और इस कारण इहभव-परभव को विगाड़ रहे हो। देखो, अन्तर्दृष्टि से देखो! गहरा विचार करो! क्या दुनियां की कोई चीज अन्त समय तुम्हारे साथ जा सकेगी? तुमने जव यहां जन्म धारण किया था तव पहले भव से क्या-क्या साथ लाये थे? कुछ भी नही! तो अव भी कुछ न ले जा सकोगे। कुटुम्ब-परिवार तो एक प्रकार का वन्धन है। तुम्हारा कोई भी प्रेमी परलोक में दुःख को बांट न सकेगा। केवल तुम्हारे द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्म ही साथ जाएंगे। और स्मरण रखना, यह मानव-भव कल्याण करने का अचूक अवसर है। अतिशय पुण्य परिपाक से इसकी प्राप्ति होती है। समुद्र में फैके हुए चिन्तामणि रत्न का फिर मिलना जैसे अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार मनुष्य भव का दूसरी वार मिलना कठिन है। अतएव प्राप्त हुए अवसर का सदुपयोग करो। संसार के पचड़ों को छोड़ो। संसार की उपाधियों से वचने का

प्रयास करो। अनन्त सुख का संगम कराने वाली निर्ग्रन्थ दीक्षा को धारण करो।

मुनिराज भवदेव की सुख-दुःख की अश्रुतपूर्व व्याख्या सुन कर, उनका प्रतिबोध पाकर भावदेव, भाई की बात न टाल सकने के कारण दीक्षित हो गये। दोनों मुनि ग्रामानुग्राम विचरते हुए भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हुए अपनी साधना में तन्मय हो गये।

भावदेव का पतन और उत्थान

कुछ समय के पश्चात् भवदेव मुनि अपने वर्तमान जीवन का अन्तिम समय समझ कर संथारा लेकर स्वर्ग सिधारे। भावदेव को अब न कोई कहने वाला था, न सुनने वाला। वह स्वच्छन्द हो गये। मनोवृत्ति बदल गई। मनोवृत्ति बदल जाने के बाद शासक के अभाव में वह मुनि मार्ग पर कब तक आरूढ़ रह सकते थे? धीरे-धीरे उनकी प्रवृति भी बदल गई। सोया हुआ मोह फिर जागृत हो उठा। कामनाओं ने अपना जाल बिछाया और भावदेव उस जाल में बुरी तरह फंस गये। वे वासना के प्रवाह में बहने लगे। कुविचारों ने उनकी अमूल्य संयम-निधि पर कब्जा कर लिया। अब भावदेव मुनि के वेष में एक सामान्य संसारी प्राणी थे—कामना के किंकर, वासना के गुलाम, और तृष्णा के क्रीतदास।

वह अपनी नव विवाहिता वधू का विचार करने लगे। मन में एक तरंग और उठी और वह उससे मिलने के हेतु चल पड़े। चलते-चलते अपने ग्राम के उसी उद्यान में आये, जिसमें एक दिन

संसार की सारी मोह-ममता का विसर्जन कर दीक्षा धारण की थी। उस उद्यान में यज्ञ का एक यक्षायतन था। उसमें भावदेव जाकर टिक गये।

मुनि के आगमन का वृत्तान्त सुन कर उनकी पत्नी सहज भाव से दर्शन करने हेतु उद्यान में आई। मुनि वेप में रहते हुए भी अपने पूर्व पति भावदेव को पहचानने में उसे देर न लगी। पर भावदेव अपनी पत्नी को न पहचान सके।

तब मुनि बोले—'श्राविका ! क्या तुम इस ग्राम में रहने वाली नागला ब्राह्मणी को पहचानती हो ? पहचानती होओ तो उसे यहां भेज देना।'

श्राविका ने कहा—आप मुनि हैं। आपके लिए क्या नागला और क्या अन्य स्त्रियां—सभी समान हैं। फिर नागला पर आपकी इतनी अधिक कृपा का कारण क्या है, स्वामिन् !'

मुनि—कुछ यों ही साधारण-सा प्रयोजन है।

श्राविका-आपकी भावभगी से ही आपका प्रयोजन मालूम हो रहा है। स्मरण रखिए, आपने महान् पुरुषों का पवित्र वेष धारण किया है। यह वेष अत्यन्त उज्ज्वल है, प्रशस्त है। इसे कलंक लगाने की कुचेष्टा न कीजिए। आपने नागला का परित्याग कर मुक्ति-वधू के मंगलमय समागम की तैयारी की है। त्यागे पदार्थ को फिर ग्रहण करना प्रतिष्ठित पुरुषों को शोभा नहीं देता। इस कुविचार के कारण आप अपना घोर अहित करेंगे। यही नहीं वरन् अपने उत्तम वंश को भी कलंक लगाएंगे। लोक-हंसाई होगी। अतः अमृत को छोड़ कर हलाहल विष का पान न कीजिए। मृदुल दुशाले को फेंक कर टाट को ओढ़ना बुद्धि-

मत्ता नहीं है। जिस महिला के मोह ने आपके अन्तःकरण को कलुषित बना दिया है, जानते हो उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? वह चमड़े की चादर से मढ़ी हुई हाड़ों का पींजरा है। उसके शरीर में ऐसी-ऐसी घृणित वस्तुएं भरी हैं, जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। उस मल-मूत्र की थैली पर आप आसक्त हो रहे हैं? स्त्री, पुरुष की साधना में एक प्रबल अन्तराय है, वह नरक का द्वार है। संयमी पुरुषों को उससे कोसों दूर रहना चाहिए।

श्राविका के इन मार्मिक वचनों से भी भावदेव की बुद्धि ठिकाने न आई। श्राविक की लज्जित कर देने वाली फटकार सुनकर भावदेव बोला—तुम ठीक कह रही हो श्राविका! पर नागला का मुझ पर प्रगाढ़ अनुराग था। मैं कठोर हृदय करके उसे त्यागकर चल दिया था। कोमल अन्त-करण वाली नागला बेचारी रो रही होगी। तुम जाकर उसे सूचना कर दो। मै तुम्हारा उपकार मानूंगा।'

श्राविका—'मुनिजी! आपकी अर्धाङ्गिनी नागला प्रसन्न है। उसकी आप चिन्ता न कीजिए। आपके दीक्षित हो जाने पर वह अपना जीवन धर्मकृत्यों में व्यतीत करती है। जैसे आप उसके लिए लालायित हैं, वैसे वह भी आपके लिए लालायित है, यह न समझिए उसका आप पर अनुराग था, यह सही है पर वह अनुराग की सीमा को भली-भांति समझती है। अनुराग में कर्त्तव्य, धर्म और विवेक को भुला देना उसे नहीं आता। आप परमार्थ की साधना कर रहे हैं, शाश्वत सुख को पाने का प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं, यह जानकर उसे संतोष है, प्रसन्नता हैं। और

जहां प्रसन्नता है वहां रोने धोने का क्या काम ? वह अपने में मस्त है आप अपने में मस्त रहिए। वृथा चिन्ता करने से क्या पाइएगा ?'

भावदेव—श्राविका ! तुम्हारा कथन सत्य हो सकता हैं पर उसे प्रत्यक्ष देखे बिना कैसे प्रतीत हो सकता है ?

श्राविका—तो उसे सिर्फ देखना ही चाहते हो ? तो लो, मैं दिखला दूंगी। पर किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार तो न करोगे ?

भावदेव— नहीं, ऐसा भी क्या संभव हो सकता हैं ?

श्राविका—जब आप वचन-बद्ध है तो लीजिये। मै नागला को दिखा देती हूँ। देखिए, ध्यान देकर देखिए, मैं स्वयं आपकी संसार अवस्था की पत्नी नागला हूँ। इस प्रकार विचित्र रूप से नागला को सामने पाकर भावदेव मुनि भौंचक्के-से रह गये। लज्जा से आंखे नीची हो गईं। मुंह से बोल न निकला।

नागला बोली—मुनिराज ! संयम का मार्ग एकदम सरल नहीं हैं। उस पर चलने के लिए हृदय में घुसी हुई चिरकालीन वासनाओं से घनघोर युद्ध करना पड़ता है। मोह-ममता को परित्याग कर निर्मल-भाव धारण करना पड़ता है। आत्म-दमन और इन्द्रिय-विजय के बिना इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलना अत्यन्त भयंकर है। आप इस मार्ग पर चल पड़े है तो सम्पूर्ण शक्ति के साथ संयम की साधना में प्रवृत्त रहें। अनादि काल के संसार-भ्रमण में न जाने कितनी नागलाएं आपको प्राप्त हुई है। अन्ततः कोई भी साथ न दे सकी। मैं भी आपका साथ नहीं दे सकती। संसार में कोई किसी का साथ नही दे सकता।

आपके दीक्षित हो जाने के पश्चात् सद्भाग्य से मुझे भी सुगुरु की प्राप्ति हो गई है। उन्होंने मानव-जीवन की दुर्लभता और अनित्यता का प्रतिपादन करके मुझे धर्म मार्ग में प्रवृत किया है! उनके थोड़े किन्तु प्रभावशाली वाक्यों ने मेरे जीवन में भारी उलट-फेर कर दिया है। मैं मन-वचन काय से पूर्ण ब्रह्मचारिणी हूँ। विविध तपस्याओं के आचरण से मैंने अपनी काया को कृश कर डाला है। यही कारण है कि आप भी मुझे न पहचान सके। इस त्यागमय जीवन में मुझे अलौकिक आनन्द और अपूर्व शान्ति का अनुभव हो रहा है। यह आनंद, यह शान्ति, एकदम अनिवर्चनीय है। भाषा में उसे व्यक्त करने की शक्ति नहीं है। इस आनंद की विमल अनुभूति के पश्चात् वासनाओं के कीचड़ में फंसने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं होती। मुझे यही आश्चर्य है कि आपके हृदय में वासना का यह दावानल कैसे सुलग उठा है।

भावदेव—नागला! मुनि होकर भी जो न प्राप्त कर सका वह तुमने गृहस्थी में रहकर पा लिया है। पर इसका कारण क्या है, जानती हो? भाई के आग्रह से मेरा शरीर मुनि वन गया था, मन कभी मुनि नहीं वना और जव भाई का स्वर्गवास हो गया तव शरीर को मुनि वनाये रखना निष्फल समझकर-मायाचार का पर्दा हटा कर तुम्हारे निकट आया हूँ। अव मुझे ग्रहण करना न करना तुम्हारी इच्छा की वात है।

नागला—भगवान्, मैंने अपने मनोभाव आपके समक्ष उपस्थित कर दिये हैं। मैं स्वर्ग तक ऊंची उठ कर नरक के गहरे गड्ढे में गिरना नहीं चाहती। मैं यह भी चाहती हूँ कि

आप अपनी धर्म मर्यादा को समझें। कुल की मर्यादा का विचार करें। विवेक को विस्मरण कर अधःपतन के कूप में न गिरें। मानव-भव रूपी चिन्तामणी रत्न को कांच के मूल्य में न बेंचदें। कल्पवृक्ष को उखाड़ कर एरण्ड की स्थापना न करें। कल्याण पथ से विमुख होकर अकल्याण की ओर प्रयाण न करें! आप आज जिस कल्पित सुख की कामना के वश होकर अपने पवित्र कर्त्तव्य को तिलांजलि देने पर उतारू हुए हैं, वह सुख यदि मिल भी गया तो कब तक ठहरेगा? कौन जानता है अगले क्षण तक भी यह जीवन रहेगा या नहीं? किसे पता है कि कोई भयंकर रोग उत्पन्न होकर सुख की सभी अभिलाषाओं पर पानी न फेर देगा? अतएव एक-एक पल को अत्यन्त मूल्यवान् समझकर आत्महित के कार्य में उसे व्यतीत कीजिए। ससार में वस्तुतः कोई किसी का सगा नहीं है। मैं आपकी नहीं हूँ और आप भी मेरे नहीं है विवेक-सूर्य पर छाये हुए मोह के मेघों का आवरण हटा दीजिए। संयम की मर्यादा को स्मरण कीजिए। इन उत्पन्न हुई दुभावनाओं का प्रायश्चित लीजिए और फिर से निर्दोष सयम की आराधना में दत्तचित होकर अनन्त अव्याबाध सुख को प्राप्त करने का प्रचंड पुरुषार्थ कीजिए। अनादिकाल से विषय भोग भोगते रहने पर भी अब तक तृप्ति नही हुई तो अब तृप्ति कैसे होगी? जैसे अग्नि में ईंधन डालते रहने से वह शान्त नहीं होती—अधिक बढ़ती है उसी प्रकार भोगों की कामना भोग भोगने से बढ़ती ही जाती है। ऐसी दशा में इस कामना को तृप्त करने का प्रयत्न करना बिलकुल व्यर्थ है। अन्त में असफलता ही मिलेगी।

नागला श्राविका की यह प्रभावशाली वाणी सुनकर भावदेव मुनि के होश ठिकाने आगये। वे मन में लज्जित होगर नागला को मन ही मन सराहना करने लगे। उनका विवेक फिर जागृत हो गया। अपने अधःपतन के लिए हृदय में तीव्र धिक्कार का भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने यथोचित प्रायश्चित ग्रहण कर फिर से दीक्षा धारण की।

अब मुनि भावदेव संयम की साधना में तन-मन से जुट पड़े। इधर-उधर विचरते हुए आत्म कल्याण करने लगे। नागला की दृढ़ता ने उसे बचा लिया, और भावदेव को बचा लिया। इस निर्मल वृत्ति से उसने कर्मों की प्रबल निर्जरा की और एक भवावतारी की प्रशस्त पदवी पाई। नागला अपना आयुष्य पूर्ण करके स्वर्ग में पहुँची।

यत्र-तत्र विचरते हुए भावदेव मुनि के जीवन की सन्ध्या भी सन्निकट आगई। जीवन-सूर्य को अस्त होते देखकर उन्होंने समाधिमरण की साधना की और वह भी स्वर्ग सिधार गये। स्वर्ग के अनुपम सुखों को भोगते हुए बहुतसा समय व्यतीत हो गया। यहां के बड़े-बड़े धनी, राजा महाराजा आदि को जो सुख प्राप्त होता है वह स्वर्ग के सुखों के मुकाबिले इतना तुच्छ है, जैसे समुद्र के मुकाबिले पानी का एक बूंद। वास्तव में मनुष्य उसकी कल्पना करने में भी समर्थ नहीं है।

स्वर्ग के अनुपम सुख सात सागर तक भोगने के बाद भावदेव का जीव स्वर्ग से च्युत हुआ। वह महाविदेह क्षेत्र में वीतशोका नगरी में पद्मरथ राजा के घर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। राजा के घर पुत्र का जन्म होने पर जो आनन्द-उत्सव मनाये

जाते हैं वह मनाये गये। बड़े ठाट से राज्य की प्रजा ने राजकुमार का नाम 'शिवकुमार' रखा। राजकुमार का पालन-पोषण अत्यन्त सावधानी के साथ, अत्यन्त उल्लास और अनुराग से किया गया। उसके लालन पालन के लिए अनेक धायें नियुक्त की गईं।

कुमार जब सात वर्ष के हुए तो उन्हें विद्या और कला की शिक्षा देने के लिये आचार्य के पास भेज दिया गया। वहां एक साधारण विद्यार्थी की भांति रहकर उन्होंने कलाओं में कोशल और विविध शास्त्रों में दक्षता प्राप्त की। अपने जीवन की नींव सुदृढ़ करते हुए सामान्य जनता के जीवन का भी अनुभव किया। प्राचीन काल में शिक्षा की यही प्रणाली थी। राजा और रंक, सम्पन्न और विपन्न, सभी के बालक एक साथ रहते थे, गुरु की सेवा करते थे और विद्याभ्यास करते थे। इस प्रणाली से बड़े-बड़े राजकुमारों को भी सामान्य जनता के जीवन का अनुभव प्राप्त हो जाता था। वे उसके सुख दुःख को, उसके अभाव को भली-भांति समझने में समर्थ होते थे। इसी कारण उस समय सधन निर्धन की विषमता का विष इतना उग्र नहीं था।

राजकुमार जब विद्याध्ययन समाप्त कर चुके और बाल्यावस्था को समाप्त कर यौवन में आये तब राजसी ठाट-बाट से उनका विवाह संस्कार हुआ। वह अपना गृहस्थ जीवन शांन्ति और सुख के साथ व्यतीत करने लगे।

राजकुमार शिवकुमार एक दिन अपने गगन-चुम्बी महल के झरोखे में बैठे थे। वैभव की कमी न थी। सुख की समस्थ सामग्रियां विद्यमान थी। दास-दासी हाथ जोड़े खड़े थे। ऐसा जान

पड़ता था मानों संसार का सारा सुख सिमट कर राजकुमार की सेवा में उपस्थित हो गया है।

मध्याह्न का समय है। प्रचण्ड मार्त्तण्ड की किरणें आग बरसा रही हैं। जमीन तवे की तरह जल रही है। पक्षी कलरव त्याग कर मुंह फाड़े हुए पेड़ों की छाया वाली डालियों पर विश्राम कर रहे हैं। गर्म लू के झकोरे संताप को अधिक बढ़ा जाते हैं। रास्ता लगभग बन्द है। कड़ाके की धूप में, हवा की सांय-सांय के सिवाय प्रायः और कुछ नहीं सुनाई पड़ता।

राजकुमार की दृष्टि अचानक बाजार की ओर चली गई। उनके नेत्रों ने जो कुछ देखा उससे वे किसी गहरे विचार में डूब गये। एक मुनि, मुंह पर मुखवस्त्रिका बांधे, कांख में रजोहरण दबाये, हाथ में झोली लिए हुए चल रहे है। पैरों में जूते नहीं, सिर पर छतरी नहीं। नंगे पैर, नंगे सिर ! आग से मानों खिलवाड़ कर रहे हैं। प्रकृति के द्वारा फैलाए हुए संताप को हृदय की शांति से ठण्डा कर देने वाले और दुनियां के दुःखों को आत्मिक सुख के सांचे में ढाल देने वाले यह वह महात्मा सचमुच धन्य हैं। सहिष्णुता के अवतार हैं, संयम की मूर्ति है। वेदना इनसे कोसों दूर रहती है। दीनता इनके पास नहीं फटकने पाती।

मगर मैं भ्रम में क्यों पड़ रहा हूँ—राजकुमार सोचने लगे। मुनिजी पूर्व परिचित से जान पड़ते हैं। अवश्य इनके पास जाकर दर्शन का लाभ लेना चाहिए और अपनी शंका का समाधान भी करना चाहिए। मुनिजी के रंग ढ़ग से मालूम होता है—वे किसी समृद्ध घराने के हैं।

मन में यह विचार करके शिवकुमार महल से नीचे उतरे मुनिराज के सामने जाकर विधि-पूर्वक वन्दना-नमस्कार करके विनय पूर्वक बोले—भगवन् ! आप किसी उच्च और सम्पन्न कुल के आभूषण मालूम होते हैं। आपकी आकृति आपके विशाल वैभव की साक्षी दे रही है। फिर इस प्रकार घोर कष्ट सहन करने कि आपने क्यों ठानी है ? किसी अभाव ने आपको बाध्य किया है कि आप इन भयकर मुसीबतों का सामना करते फिरें ? आपको अपने घर में किस बात का कष्ट था ? आपने ऐश्वर्य की उपेक्षा करके उसे क्यों ठुकरा दिया है ? अनुग्रह कर स्पष्ट रूप से इस सेवक को वताइये ?

मुनिराज कहने लगे—राजकुमार ! तुम बड़े चतुर मालूम होते हो। ससार में सचमुच मुझे किसी प्रहार का अभाव न था। सुख की समस्त सामग्री मुझे प्राप्त थी पर तुम जानते हो कि वह सुख सामग्री कितने दिनों तक ठहरती ? सांसारिक सुख-सामग्री क्षणिक हैं। जल के बुलबुले की तरह, विजली की चमक की तरह, संध्या-काल की लालिमा की तरह और बादल की छाया की तरह ! उस पर भरोसा रख कर कोई विवेकशील पुरुष निश्चिन्त नहीं रह सकता। आत्मा जब अमर है—सनातन है सदा रहने वाली है, तब ऐसा कोई यत्न करना चाहिये जिससे अमर और सनातन सुख की प्राप्ति हो। जो लोग वर्तमान तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखते हैं भविष्य को भुला देते हैं, उन्हें भविष्य में दुःख की प्राप्ति होती है। मैंने भविष्य की ओर दृष्टि दौड़ाई। उसे सुधारने का विचार किया। वह विचार संकल्प बना और सकल्प ने कार्य का रूप धारण किया। अब मैं क्षणिक सुखों का परित्याग कर शाश्वत सुख पाने के लिए

संयम साधना कर रहा हूँ।

सांसारिक सुख वर्त्तमान में भी सम्पूर्ण सुख नहीं देते। क्योंकि वे भोग्य पदार्थों पर इन्द्रियों पर और संयोग पर आश्रित हैं। जिस पदार्थ से हम सुख पाने की इच्छा करते हैं वह कभी कभी सहसा विनष्ट हो जाता है। वियोग होने पर वह उलटा दुःख का मूल वन जाता है। भोग्य सामग्री माजूद रहने पर भी कभी कभी इन्द्रियां उसका भोग करने में असमर्थ हो जाती हैं। यही सब विचार कर मैंने पराधीन विषय सुख का त्याग किया है। राजकुमार! तुम्हीं जरा विचार करो कि अनादि काल से लगाकर अब तक इस जीव ने कितने मिष्टान्न खाये हैं ? कितनी वार स्पर्श-सुख भोगे है ? कितनी वार सौन्दर्य का दर्शन किया और श्रुतिमधुर शब्द श्रवण किये हैं। फिर भी तृप्ति नहीं हुई। तब इस जन्म में यह भोग क्या जीव को तृप्त करने में समर्थ होंगे ? कदापि नहीं। फिर तृप्ति के लिए प्रयास करने की क्रिया क्यों की जाय।

रही कष्ट सहन करने की बात। सो यह मनोवृति का वेदन मात्र है। हम जिसे प्रतिकूल मान लेते हैं। वही कष्ट बन जाता है और जिसे अनुकूल समझने लगते हैं वह सुख बन जाता है। साधारणतया गाली दुःख रूप है क्योंकि वह अप्रिय लगती है। परन्तु विवाह आदि प्रसंगों पर—सुसराल में जो गालियां सुनी जाती हैं उनसे दुःख नहीं होता क्योंकि वह अप्रिय नहीं लगती। यदि गालियों में सुख दुःख पहुँचाने की शक्ति होती तो हृदय पर उनका सर्वत्र सर्वदा समान प्रभाव पड़ता। ऐसा नहीं होता है और इसी से यह ज्ञान होता है कि यह सब मनोवृत्ति पर अवलंबित है।

संयम की आराधना में इतर प्राणियों को कष्ट प्रतीत होता है। पर संयमी उसे कष्ट नहीं समझता और इसीसे वह प्रसन्नता के साथ उन्हें सहन करता है। "यह कड़ी धूप, मुझे कष्ट कर नहीं सकती इसे इच्छा पूर्वक सहन करने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। अतएव यह सुख रूप है! मैं अपनी अवस्था में संतुष्ट हूँ।"

सुख दुख की यह सच्ची और सीधी सादी परिभाषा सुन शिवकुमार को संसार के प्रति वैराग्य हो आया। जैसे ही उनकी वृत्ति कुछ अन्तर्मुख बनी कि उसी समय उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हो गया। जाति स्मरण ज्ञान मति ज्ञान का एक विकल्प है और उससे पूर्व जन्मों की स्मृति हो जाती है। जो धारणा या संस्कार सुदृढ़ रूप से अंकित हो जाता है वह बहुत समय तक बना रहता है। किसी निमित्त को पाकर वह संस्कार जागृत हो उठता है और वह विषय मालूम होने लगता है। इसे स्मृति ज्ञान कहते है। पूर्व जन्मों का स्मरण भी इसी प्रकार होता है। यह ज्ञान अब भी कभी-कभी किसी-किसी को होता सुना गया। शिवकुमार को जाति स्मरण होते ही उन्हें मालूम हुआ कि पूर्व जन्म में मै स्वयं साधु वृत्ति का पालन कर चुका हूँ। यह अनुभव करके वे मुनिराज को वन्दना आदि करके सीधे अपने माता-पिता के पास आये। उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। पुत्र की मनोवृत्ति में अचानक परिवर्तन देखकर माता-पिता चकित रह गये। शिवकुमार के पिता ने कहा—बेटा! संसार का यह वैभव सबको प्राप्त नहीं होता। कई लोग दिन-रात पचते है फिर भी भरपेट भोजन नहीं पाते। बड़े पुण्य के उदय से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। तुमने पूर्व जन्म में जो पुण्य उपार्जन किया था उसके

उदय से राजा के कुल में जन्म पाया है। उस पुण्य के भोगने का यह समय है। संसार का त्याग करके पुण्य को निरर्थक न करो।

राजकुमार—पिताजी, आपका कथन सत्य है। पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही मानव-जीवन उत्तम कुल निरोग शरीर, अविकल इन्द्रियां और भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होती है। किन्तु जैसे चतुर व्यापारी प्राप्त हुई पूंजी को भोगकर समाप्त नहीं कर देता है बल्कि पूंजी पाकर उसके द्वारा वह :नवीन लक्ष्मी उपार्जन करता है उसी प्रकार इस पुण्य रूपी पूंजी को भोग कर समाप्त कर देना विवेकशीलता नहीं है। उसे तो धर्म की विशिष्ट आराधना करके अधिक बढ़ाना चाहिए। पूंजी को खा पी कर बैठ रहने वाला व्यापारी जैसे अन्त में पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार पुण्य को भोगने वाले और नवीन पुण्य उपार्जन न करने वाले मनुष्य को भी पश्चाताप ही करना पड़ता है। पश्चाताप का अवसर आने से पहले ही दूरदर्शी पुरुष को सावधान हो जाना चाहिए।

राजा-तुम ठीक कहते हो पर प्रत्येक कार्य उचित समय पर किया जाय तभी शोभा देता है! वृद्ध वृद्धा का विवाह जैसी लोक उपहास का कारण बनता है, क्योंकि वह अनुचित समय पर किया गया है उसी प्रकार बाल्यकाल की दीक्षा भी अनुचित समय की होने से शोभा नहीं देती। अभी तुम्हारे खेलने-खाने के दिन हैं। यौवन अवस्था में भोगोपभोग भोग कर वृद्धा-अवस्था में दीक्षा धारण कर लेना।

राजकुमार-पिताजी. यह शरीर बिजली के समान चंचल है। बादलों की छाया की तरह न जाने किस समय इसका अन्त हो जायगा। प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों बालक, नवयुवक, युवक काल

के भोपण उदर में समाते जाते है। जीवन कितना अल्पकालीन है। यह कौन कह सकता है ? सम्भव वृद्धावस्था आने से पहले ही आत्मा इस शरीर को त्याग कर अन्यत्र चली जाय ? ऐसी अवस्था में प्रशस्त कार्य के लिए बुढापे को बाट देखकर बैठे रहना उचित नही है। 'शुभस्य शीघ्रम्' करना ही बुद्धिमत्ता है। कृपा कर शीघ्र आज्ञा प्रदान कीजिये।

राजा—तुम अभी नादान बच्चे हो! मन में अचानक एक लहर उठ खड़ी हुई और उसी में तुम बहे जा रहे हो। तुम्हें साधु वृत्ति के कष्टों का अभी तनिक भी परिचय नही है। वहां पद-पद पर विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ता है। मुसीबतों के पहाड़ झेलने पड़ते है। यहां मुलायम सेज पर मखमली गद्दों पर लेटने पर भी कमर दुखने लगती है, वहां कंकरीली-पथरीली जमीन पर पड़ा रहना होगा। यहां एक दास को आवाज देने पर अनेक दास दौड़ कर—हाथ जोड़ खड़े हो जाते हैं वहां अपना सामान भी सिर पर लादना पड़ेगा। यहां सरस, सुगन्धित आहार करते हो वहां बचा-खुचा, सूखा-रूखा आहार खाना पड़ेगा। वह आहार भी अनेक गृहस्थियों के घर से भिक्षा मांग-मांग कर लाना पड़ेगा। यहां सर्दी गर्मी से बचने के लिए तरह-तरह के प्रबन्ध किए गए है वहां गर्मी में सूर्य के सामने खड़े होकर आतापना लेनी पड़ती है और सर्दी में नदी सरोवर के किनारे बैठ कर शीत सहन करना पड़ता है। यहां प्रतिदिन सुगन्ध युक्त जल से स्नान करते हो, इत्र लगाते हो, साधु-वृत्ति अंगीकार करने पर आजन्म स्नान का त्याग करना पड़ेगा। यहां पालकियों पर सवार होकर निकलते हो, वहां पैदल प्रवास करना पड़ेगा। साधुवृत्ति के यह साधारण कष्ट मै तुम्हें बतला रहा हूँ।

विरोध कष्ट तो इनसे कई गुणा अधिक हैं।

राजकुमार—पिताजी सुख-दुःख की असली व्याख्या मैं मुनिराज के मुखारविन्द से सुन चुका हूँ। जो घटना एक को दुःख मय प्रतीत होती है दूसरे को उसमें सुख का आनन्द सौन्दर्य दिखाई देता है। आपने जिन कष्टों का वर्णन किया है वे कष्ट उन्हीं के लिए कष्ट हैं जो उन्हें कष्ट रूप समझते हैं और जो उनसे भयभीत होते है। जो उन्हें अपने प्रिय सखा की भांति गले लगाता है। उसके लिए वे कष्ट नहीं रह जाते। संसार में जैसे अन्यान्य कलाए प्रसिद्ध है उसी प्रकार दुःख को सुख रूप में बदल डालना भी एक महान् उच्च श्रेणी की कला है। वह कला जिसे हस्तगत हो जाती है उसके लिए दुनियां में दुःख का अस्तित्व ही नहीं रहता।

इसके अतिरिक्त यह जीव नरक और तिर्यञ्च गति के भीषण से भीषण कष्ट अनन्त वार सहन कर चुका है। उन कष्टों के सामने साधुवृत्ति के कष्ट किसी गिनती में नहीं है। उन कष्टों को यह जीव जब सहन कर सका तो फिर साधुवृत्ति के कष्टों से डरने की क्या आवश्यकता है।

और सच पूछिये तो कष्टों और मुसीबतों के भय से किसी शुभ कर्त्तव्य को आरम्भ न करना उत्तम पुरुषों को शोभा नहीं देता। ऐसा करना कायर और निर्वीर्य पुरुषों का काम है। सच्चा क्षत्रिय शत्रु की सेना को देख कर भयभीत नहीं होता किन्तु अधिक दृढ़ता के साथ उसका सामना करता है। उसी प्रकार वीर पुरुप विघ्न बाधाओं को सामने देखकर, उनसे जूँझे विना ही आत्मसमर्पण कदापि नहीं कर सकता। वह विना लड़े ही पराजय

स्वीकार नहीं करेगा। विघ्नों को देख कर हृदय में प्रबल वीर रस का संचार होता है। मैं भी विघ्नों का, बाधाओं का, मुसीबतों का और विपत्तियों का सामना किये बिना अपनी हार मानना नहीं चाहता। पिताजी, मुझे आप कायर न समझें। मैं निश्चय ही समस्त संकटों पर विजय प्राप्त कर अपना उद्देश्य पूर्ण करूंगा। आप मेरे लिए जरा भी चिन्ता न करें।

राजकुमार के तेजस्वी वचन सुनकर राजा हतप्रभ से हो गये। उनके हृदय में भावों का द्वन्द-युद्ध होने लगा। राजकुमार की वचनावली इतनी तर्क-संगत थी कि उसका उत्तर देने में वे अपने को समर्थ नहीं पाते थे। फिर भी पुत्र की ममता का परित्याग करना उनके लिए आसान न था। इकलौता लड़का, नवीन यौवन अवस्था, कैसे उसे दीक्षा लेने की आज्ञा दी जा सकती है? फिर माता की ममता का छूटना संभव ही नहीं है। जिस ने अनन्त आशाओं के साथ गर्भ में धारण किया, बड़े चाव और भाव से पाल पोस कर बड़ा किया, जो माता के प्राणों का प्राण है, आंखों की पुतली है उसे सहसा कैसे त्यागा जा सकता है? माता को कुछ सूझ नहीं पड़ा। अन्त में उसी नगरी में निवास करने वाले जिनदास नामक श्रावक को बुलाया गया। राजकुमार को किसी प्रकार समझा बुझाकर दीक्षा ग्रहण करने के सकल्प से विमुख करने के लिए वह आये।

जिनदास राजकुमार को समझाने लगे—राजकुमार! मैं आपके वैराग्य की अन्तःकरण से सराहना करता हूँ। असीम पुण्यशाली पुरुष ही वैराग्य को प्राप्त कर पाते है। वैराग्य मोक्ष-महल की प्रथम सीढी है। किन्तु आपके माता पिता महाराजा

और महारानी को आपके दीक्षा ग्रहण करने से अत्यन्त कष्ट हो रहा है। वे आपको स्वेच्छा से दीक्षा की आज्ञा नहीं दे रहे हैं और बिना उनकी आज्ञा पाये दीक्षा धारण करना शास्त्र से प्रतिकूल है। यदि आप अत्यन्त हठ करके, अनुचित दबाव डाल कर उनसे आज्ञा ले भी लेंगे तो क्या वह सच्ची आज्ञा कहलायगी ? जो आज्ञा अन्तःकरण से न दी गई हो वह सच्ची भाव-आज्ञा नहीं है। इस प्रकार आज्ञा पा लेने का कोई अर्थ भी नहीं है। फिर बिना आज्ञा ही दीक्षा धारण करना क्या बुरा नहीं है ? अतएव यदि आप हार्दिक आज्ञा अपने माता पिता की न प्राप्त कर सकें तो आपको दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। श्रमण भगवान् महावीर का उदाहरण हम लोगों के सामने है वे विषयों को विष के समान समझते हुए भी, हृदय से सर्वथा विरक्त होने पर भी, माता-पिता की जीवित अवस्था में दीक्षित नहीं हुए थे। माता पिता का स्वर्गवास हो जाने पर अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन के आग्रह का सन्मान करके कुछ दिनों तक और भी संसार में रहे थे। आप भी इस उदाहरण का अनुकरण कीजिए।

साधु-वृत्ति का मुख्य सम्बन्ध भावना से है। जिसकी भावना उत्तरोत्तर विशुद्ध-विशुद्धतर होती जाती है वह किसी भी अवस्था में, किसी भी लिंग (वेष) में रहते हुए आत्मा का कल्याण कर सकता है। गृहस्थ-धर्म के पालन से भी आत्मा का परम कल्याण हो सकता है। माता मरुदेवी का चरित इस तथ्य को प्रकट करता है। उन्होंने गृहस्थलिंग से ही मुक्ति प्राप्त की थी। मेरे कथन का आशय यह नहीं कि साधुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है या वह निरर्थक है। मैं केवल यह बताना चाहता हूँ कि

अन्य अवस्था में भी आत्महित किया जा सकता है। आप मेरी प्रार्थना पर विचार कीजिए और जंसेयंतं समायरे' जो श्रेयस्कार हो वह कीजिये।'

श्रावक जिनदास के शास्त्रानुकूल वाक्यों और उदाहरणों ने राजकुमार के हृदय पर प्रभाव डाल दिया। उन्होने गृहस्थ-अवस्था में रहने हुए उत्कृष्ट गृहस्थ धर्म का पालन करना स्वीकार कर लिया राजकुमार अब गृहस्थ-योगी थे। गृहस्थो में रहते थे। पर उसी प्रकार जैसे जल में रहने वाला कमल जलसे सर्वथा अलिप्त रहता है। वे विरक्त रहते, गृहस्थ धर्म का पालन करते और निरन्तर आध्यात्मिक भावना के मनोरम कानन में विचरते रहते थे। महिने में अनेक पोषध करते, बहुत-से आयंबिल करते। रसना इन्द्रिय को अपना गुलाम बना लिया था। रूखा—सूखा जो भी उसे देते वह सहर्ष ग्रहण करती थी। दया, क्षमा, स्वपर कल्याण की पवित्र भावनाओं से उनका हृदय अत्यन्त सुसंस्कृत हो गया था। कषाय आदि दुर्भाव पास भी न फटकते थे। गृहस्थ-अवस्था मे रहते हुए वे साधु की भांति जीवन यापन करते थे। उनका शरीर कृश हो गया था।

जब जीवन का अन्तिम समय आया तो उन्होंने समधि मरण रूप विशिष्ट तपस्या की। समाधि मरण या पंडितमरण सम्पूर्ण जीवन की तपस्या और साधना का सार है। यह मृत्यु की एक श्रेष्ठ कला है। समता भाव में विचरते हुए, अशनादि का का त्याग करके अत्यन्त शान्ति के साथ उन्होंने शरीर का त्याग किया। शिवकुमार अपनी धर्म साधना के फल स्वरूप प्रथम स्वर्ग में महान् ऋद्धि के धारक देव हुए।

राजन्! यह देव शिवकुमार का जीव है। इसका नाम विद्युमावली है। स्वर्ग के सुखों का उपभोग करके, देवलोक से च्युत हो कर वह इसी नगर में जन्म लेगा और जम्बूकुमार के नाम से प्रसिद्ध होगा।

राजा भगवान् की यह वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भक्ति भाव के साथ उसने भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया और राजमहल में लौट आया। भगवान् वहां से विहार कर अन्यत्र पधार गये।

****

जम्बूकुमार का जन्म

परिमित जीवन का अन्त अवश्य होता है। जीवन एक पर्याय है और पर्याय सादि-शान्त होती है। अतएव जैसे उसकी आदि होती है उसी प्रकार अन्त भी होता है। देवों का जीवन, मनुष्य तिर्यंच के जीवन से अधिक समय तक स्थिर रहता है, वहां अकाल में मृत्यु नहीं होती, फिर भी वह अनन्त नहीं है। नियत समय पर उसकी समाप्ति अवश्य हो जाती है। विद्युमावली देव ने अपनी स्थिति पूर्ण करली और एक दिन आया जब वह वहां की दिव्य विभूति, स्वर्गीय गोग विलास, छोड़कर चल दिया।

वह राजगृही नगरी में, ऋषभदत्त सेठ की पत्नी धारिणी के गर्भ में आया। गर्भ में आने पर सेठानी को जम्बू वृक्ष का स्वप्न आया। इस स्वप्न से धारिणी को अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई वह पुलकित होकर अपने स्वामी के समीप गई और स्वप्न का वृत्तान्त उनसे कहा। सेठानी के स्वप्न का हाल सुनकर

ऋषभदत्त के अनन्त का पार न रहा। उसके घर लक्ष्मी की कमी न थी। वह आवश्यकता से भी अधिक-बहुत अधिक मौजूद थी। पर उसका उत्तराधिकारी कोई नहीं था। पुत्र के अभाव से गृहस्थी उसे सूनी जान पड़ती थी। पुत्र के बिना भला लक्ष्मी की क्या शोभा ? घर की क्या शोभा ? कुटुम्ब-जीवन में सरलता लाने वाला, आमोद की वृद्धि करने वाला और मनुष्य के मानस मरुस्थल में नन्दन कानन उगाने वाला पुत्र ही है। सेठ ऋषभदत्त पुत्र के अभाव के कारण मन ही मन अत्यन्त दुखी रहते थे। आज धारिणी के स्वप्न ने उनके हृदय में एक नवीन आशा की किरण चमका दी। वे अत्यन्त प्रसन्नता के साथ बोले "प्रिये ! तुम्हारे स्वप्न का फल यह है कि अब तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। सूनी गोद भर जायेगी। तुम माता बनोगी, मैं पिता का पद प्राप्त करूंगा।

अपने स्वप्न का यह शुभ और इच्छित फल सुनकर धारिणी प्रसन्न हुई। बड़े यत्न के साथ अत्यन्त सावधान रहकर वह गर्भ की प्रतिपालना करने लगी। प्रत्येक आहार व्यवहार के समय गर्भ को क्षति न पहुँचने का वह पूर्ण लक्ष्य रखती थी। परिमित भोजन करती थी न अधिक खट्टा न अधिक चरपरा, न अधिक मीठा, न अधिक कषायला। गमन करते समय बड़ी सावधानी से पैर धरती-उठाती थी, माता की मानसिक चिन्ता से भी गर्भ के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव धारिणी सदा प्रसन्न रहती, शोक को मन मे फटकने न देती थी। इस प्रकार गर्भकाल समाप्त हो जाने पर सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार प्रशस्त लक्षणों को धारण करने वाला, सुन्दर सुडौल और तेजस्वी पुत्र

उत्पन्न हुआ। सेठ ऋषभदत्त ने उस समय मुक्त हस्त से खर्च किया। पुत्र-जन्म की खूब खुशी मनाई। स्त्रियों ने मंगलगान गाये। विविध वाद्यों के सुमधुर निर्घोष से आकाश व्याप्त हो गया। सेठजी का विशाल भवन आत्मीय जनों और सगे-संबंधियों से भर गया। स्नेही सज्जन बधाई देने के लिए उपस्थित हो गये। ऋषभदत्त ने उन सबका यथोचित आदर सत्कार किया। उनके जीवन-सुख में जो अभाव था जिस अभाव के कारण उनका हृदय सूना था, घर सूना था, उस अभाव का आज अन्त हो गया। हृदय में आनन्द की ऊर्मियां उठने लगी। आगत अतिथियों के साथ वह बड़ी नम्रता, सज्जनता और स्नेह से मिले।

पालन-पोषण

गर्भ में आते समय माता को जम्बू वृक्ष का स्वप्न दिखाई दिया था। अतएव नवजात शिशु का नाम जम्बू कुमार रक्खा गया। उसके सब संस्कार यथा समय किये गये। पालन-पोषण में मानस शास्त्र और स्वास्थ्य विज्ञान का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता था। धायों को सख्त हिदायत कर दी गई थी कि वे ऐसा कोई व्यवहार न करें जिससे बालक के कोमल मानस पर किसी प्रकार के कुसंस्कारों की जड़ जम जावे। उसके प्रति आदर का भाव रक्खें, जिससे उसमें गौरव और महत्ता का पोषण हो। उसे किसी प्रकार का भय न दिखाया जाय जिससे कि वह डरपोक न बने। प्रत्येक व्यवहार उसके प्रति नियमित किया जाय। समय पर सुलाया जाय, समय पर जगाया जाय, समय पर दूध पिलाया जाय, जिससे बालक स्वस्थ, निरोग और भविष्य में नियमित

जीवनयापन करने वाला हो। बालक को अपने मनोरंजन का सामान न समझना चाहिए बल्कि उसे संसार का भावी महान् पुरुष, अपने पूर्वजों की कीर्ति को कायम रखने वाला देश का रक्षक और समाज एवं धर्म का आधार समझना चाहिए।

जम्बूकुमार के पालन पोषण के लिए नियुक्त की गई धायें स्वयं कुशल थीं और ऊपर से इन सूचनाओं को पाकर अत्यन्त सावधानी और तन्मयता के साथ वे बालक को संभालने लगी। धीरे-धीरे बालक द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ने लगा। एक, दो, तीन वर्ष समाप्त कर धीरे-धीरे सात वर्ष समाप्त हो गये। तब बालक को विद्याध्ययन करने के लिए भेज दिया गया। बालक जब नवीन जन्म धारण करता है तो वह एकदम नवीन उत्पन्न नहीं होता। किसी जन्म को त्याग कर—एक जीवन का अन्त करके ही वह उत्पन्न होता है। जिस जीवन का त्याग करके वह वर्त्तमान जीवन में प्रविष्ट होता है उस जन्म के अनेकानेक संस्कार उसके साथ आते है। पूर्व जन्म के पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म और ज्ञान आदि के बहुतेरे अवशिष्ट उसकी आत्मा के साथ सबंद्ध होने के कारण वर्त्तमान जीवन में भी वे अपना प्रभाव डालते हैं। यही कारण है कि कोई बालक स्वभावतः बुद्धिमान, कोई निर्बुद्धि, कोई सदाचारी कोई दुराचारी कोई विनीत और विनम्र होता है और कोई-कोई उद्दंड और उच्छृङ्खल होता है। प्रबल प्रयत्न करने से पूर्व संस्कार बदले जा सकते हैं, उत्तम सस्कारों की प्रबलता हो तो पूर्व जन्म के बुरे संस्कार दबाये जा सकते है और इसलिए बालक को सुन्दर और श्रेष्ठ वातावरण में रखना आवश्यक है।

आज कल बालकों के प्रति माता-पिता आदि की घोर उपेक्षा

वृत्ति देखने में आती है। वे उनकी संस्कृति की ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देते। अनाड़ी नौकरों के हाथ में अपने नौ निहालों को सौंप कर निश्चिन्त हो जाते हैं। अज्ञान नौकर बेचारे बालक का भविष्य घड़ना क्या जानें? फल यह होता है कि उत्तम कुल और अच्छे घराने के बालक अनेक प्रकार के कुसंस्कारों के शिकार हो जाते हैं और उनका जीवन एक प्रकार से बर्बाद हो जाता है। माता-पिता को इस ओर खूब ध्यान देना चाहिए। बालक संसार की अनमोल निधि है, कुल का भूषण है, घर का दीपक है, भविष्य का महा पुरुष है। उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना सारे संसार के भविष्य को अंधकारमय बना देना है। यह अक्षम्य अपराध है।

सेठ ऋषभदत्त सौभाग्य से इस सचाई को भली भांति जानते थे। उन्होंने अत्यन्त सावधानी के साथ बालक के संवर्धन और संगोपन का प्रबन्ध किया और उचित समय आया तब विद्याओं और कलाओं की शिक्षा देने के लिए घर से बाहर भेज दिया। बालक जम्बूकुमार पूर्व जन्म से अनेक सुन्दर और शुभ संस्कार लेकर आया था। उसने अल्प समय में ही समस्त विद्याओं और कलाओं में कुशलता प्राप्त करली। विद्याध्ययन समाप्त कर गुरुजी से आज्ञा और आशीर्वाद लेकर वह अपने घर लौट आया।

विवाह की तैयारी

जम्बूकुमार ने अब यौवन में प्रवेश किया। मूछों की रेखा और कांखों के बाल यौवन के आगमन की सूचना देते हैं। जम्बूकुमार के माता-पिता ने उन्हें युवावस्था में प्रविष्ट हुआ जान कर विवाह-संस्कार कर देने का निश्चय किया। योग्य वयवाली, उत्तम कुल, उत्तम गुण, श्रेष्ठ रूप और श्रेष्ठ आचरण वाली आठ

कन्याओं के माता पिता अपनी अपनी कन्याएं साथ लेकर ऋषभ-दत्त सेठ के घर आये और उन्हें जम्बूकुमार के साथ व्याहने की इच्छा प्रकट करने लगे।

सकोचशील औम मृदुल हृदय होने के कारण सेठ ऋषभ दत्त के सामने एक कठिन समस्या उपस्थित थी। वह किस कन्या को स्वीकार करें और किसे अस्वीकार करें ? किस कन्या के पिता को हां कहें और किसे नाही करें ? यद्यपि प्राचीन काल में भारत वर्ष में साधारणतया वहुपत्नी को प्रथा प्रचलित थी और अनेक कन्या ओं के साथ विवाह होना सामाजिक दृष्टि से दोष नही समझा जाता था। फिर भी ऋषभदत्त एक ही कन्या के साथ जम्बूकुमार का विवाह होना पसन्द करते थे। किन्तु जव सभी अतिथियों ने अत्यन्त आग्रह किया तव उन्हें बाध्य होना पड़ा। उन्होंने आठों ही कन्याओं के साथ जम्बूकुमार का विवाह करना स्वीकार कर लिया।

सभी कन्याएं रूप, गुण शील आदि सभी बातों में एक से एक बढकर थी। सभी प्रतिष्ठित वंश की थी शिक्षित थी और गृहस्थी के कार्यो मे कुशल थी, उम्र के लिहाज से भी सभी योग्य थीं। आजकल की भांति पहले बाल-विवाह और अनमेल विवाह नहीं होते थे। ८ वर्ष की कन्या और साठ वर्ष के बुढे वर का संबध उस समय नही होता था। बाद में तो अनेक अदूरदर्शी व्यक्तियो ने शास्त्र के मत्थे ऐसे ऐसे विधान मढ़ दिये हैं कि कन्या को शिघ्र से शीघ्र न व्याहने से वे नरक भेजने को उतारू हो जाते है। ब्रह्मचर्य को धर्म मानने वाले समूह की यह मनोवृति सचमुच शोचनीय है। शास्त्र के नाम पर बाल-विवाह का पोषण होने से

भोली-भाली जनता भ्रम में पड़ जाती है और योग्य उम्र होने से पहले ही बालक-बालिका को विवाह के फन्दे में फांस देती है। कच्ची उम्र में ब्रह्मचर्य को भग करने के कारण उनका स्वास्थ्य मिट्टी में मिल जाता है और देश की अमूल्य निधियां बर्बाद हो जाती हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष में अनेक ऐसी बीमारियां उत्पन्न हो गई है जिनका पहले यहां के निवासियों को पता तक न था। राज्य-क्ष्मा आदि भयंकर और प्राणहारी रोगों की इतनी प्रबलता और व्यापकता का एक मात्र कारण शारिरिक निर्बलता है और यह शारिरिक निर्बलता का बहुत कुछ श्रेय बाल विवाह जैसी घृणित प्रथाओं को है। माता-पिता का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वे अपनी सतान को पवित्र वातावरण में रक्खें, विकारी वायु मण्डल से बचावें और अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य पालने के संस्कार उनके हृदय में डालें और उन्हें पालने का अवसर दें। युवावस्था का आरम्भ हो जाने पर उन्हें विवाह-बन्धन में बांधे इससे उनका स्वास्थ्य दृढ़ होगा, संतान बल शाली होगी और रोगों का आक्रमण सरलता से न हो सकेगा। ब्रह्मचर्य धर्म के पालन से आत्मिक कल्याण भी होगा। बाल-विवाह की संतान अत्यन्त दुर्बल अशक्त, मुर्दार और अनुपयोगी होती है। उससे फिर जो संतान होती है वह और भी अधिक निर्बल होती है। इस प्रकार निर्बलता की इस परम्परा से संसार को, राष्ट्र को और समाज को भयंकर क्षति का सामना करना पड़ता है। ऐसी सतान देश और जाति का मंगल नही अमंगल करती है। वह भारभूत है और मृत्युसंख्या में वृद्धि करने के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई उपयोग नहीं है।

इसी प्रकार वृद्ध विवाह की प्रथा भी अत्यन्त घातक है। जिसके जीवन का प्रभात अभी-अभी हुआ है, जो ससार का कुछ आलोक देखना चाहती है, उस कन्या के साथ, ऐसे वृद्ध का गठ-जोडा कर दिया जाता है जिसके जीवन का सूर्य अस्ताचल तक जा पहुँचा है, तो घोर अनर्थ होता है। वर और वधू के जीवन में सर्वथा वैपम्य होता है और इस कारण उनकी भावनाओं में इतना अन्तर होता है कि दोनों में खिंचाव बना रहता है। सच्चे हृदय से एक दूसरे को अपना नहीं सकता। उनमें अभेद संबंध स्थापित नही हो सकता। फलस्वरूप गृहस्थी क्लेश-कलह का आगार बन जाती है, और शांति दूर भाग जाती है। कभी-कभी नवयुवती विधवा बेटी घर में बैठी तपस्या करती है और पिता वृद्धावस्था मे अपना नया विवाह रचता है। यह कितनी लज्जा पूर्ण विडम्बना है ? युवती कन्या के सिर पर ब्रह्मचर्य और संयम का आदर्श बालात् लादने वाला विषयी वृद्ध भोगों के कीचड़ में फसने जाता है! स्वार्थी पुरुष-समाज ने अपने लिए कैसे-कैसे अनुकूल विधान लिए है और महिलाओं क सामने कैसी-कसी कैद खड़ी कर दी है। इस प्रकार के अनुचित और असगत व्यवहार से युवती विधवाओं के अन्तःकरण को कितनी ठेस लगती है ? उनका हृदय समाज के प्रति किस प्रकार विद्रोही बन जाता है ? उसकी प्रतिक्रिया कभी कभी किस भयकर रूप में सामने आती है ? समाज गंभीरता से इस पर विचार करे और वैपम्य के विष को दूर कर शास्त्रों का आश्रय लेते हुए, देश-काल और परिस्थिति को समक्ष रख कर अपने नियमो मे यथोचित सशोधन करे ! ऐसा करने से ही समाज और धर्म की रक्षा हो सकती है ! अस्तु।

जम्बू कुमार का वैराग्य

आखिर आठों कन्याओं के साथ जम्बूकुमार की सगाई निश्चित हो गई। धूम धाम और आनन्दोल्लास के साथ विवाह की तैयारी होने लगी।

उन्ही दिनों भगवान् महावीर के शिष्य श्रीसुधर्मा स्वामी विचरते हुए अपने शिष्यों के साथ राजगृही नगरी में पधारे। राजगृही के बाहर एक सुन्दर उद्यान था। उसी में श्री सुधर्मा स्वामी शिष्य-परिवार के साथ ठहर गये। श्री सुधर्मा स्वामी के आगमन का समाचार वायु-वेग से राजगृही के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया। उस समय के श्रावकों में धर्म के प्रति जागृत श्रद्धा थी। मुनियों के प्रति उनके रोम-रोम में प्रगाढ़ भक्ति भरी थी। वह धर्म को फुर्सत के समय का मन बहलाव न समझ कर जीवन में सर्वश्रेष्ठ उपयोगी वस्तु समझते थे। उनके प्रत्येक व्यवहार में धर्म परिलक्षित होता था। जीवन के अन्यान्य व्यवहार पीछे और धर्म सबसे आगे था। उन्होंने जीवन की सार्थकता न धन में मानी थी, न प्रतिष्ठा में। धर्म ही उनके जीवन की सफलता की कसौटी था। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि श्री सुधर्मा स्वामी के आगमन के वृत्तान्त को सुनते ही श्रावक-समूह अन्यान्य कार्य त्यागकर तत्काल ही उनके कल्याणकारी दर्शन और धर्मोपदेश को सुनने के लिए उमड़ पड़ा। अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति विनय और उल्लास के साथ जनता का विराट समुदाय उस उद्यान में जमा हो गया। उद्यान को देखने से ऐसा जान पड़ता था जैसे राजगृही नगरी समूची उठकर उद्यान में आ गई है।

राजगृही के तत्कालीन राजा कौणिक भी राज्य कार्यों को ताक पर रखकर राजसी ठाठ के साथ सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। जम्बूकुमार भी हार्दिक भक्ति से प्रेरित हो कर उद्यान में उपस्थित हुए। सब लोगों ने मुनिराज को विधि-पूर्वक वन्दना की नमस्कार किया, सुख-साता पूछी और अपना अपना योग्य आसन ग्रहण किया। मुनिराज सुधर्मा स्वामी का प्रशस्त और तेजस्वी ललाट, सौम्य चेहरा और शान्त मुख मण्डल मानों धर्म-साधना का मूर्तिमान स्वरूप दर्शा रहा था। उनका कृश शरीर तपस्या की साक्षी दे रहा था। उनके अन्तःकरण में शान्ति का जो प्रवल प्रवाह वह रहा था वह नेत्रों के मार्ग से मानों दुनियां को अपनी एक सूक्ष्म झांकी दिखा रहा था। मुनिराज का भव्य वेष, हृदय में उज्जवलता उत्पन्न करता था।

जनता का अनुरोध स्वीकार कर मुनिराज सुधर्मा स्वामी ने धर्मोपदेश फरमाया। उपदेश का भाव इस प्रकार थाः—

श्री सुधर्मा स्वामी का प्रवचन

भव्य जीवों! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवल ज्ञान द्वारा समस्त भूत, भावी और वर्त्तमान भावों को जाना है! भगवान् सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी हैं, राग द्वेष आदि समस्त कषायों को, सम्पूर्ण दोषों को उन्होंने समूल नष्ट किया है। वे विश्वहितकर है। उन्होंने मानव-जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन किया है। इसी विषय में थोड़ा सा दिग्दर्शन मै कराऊंगा।

जीव अनादि काल से है और अनन्त काल तक वना रहेगा। उसकी पर्यायों में सदैव परिवर्तन होता रहा है, हो रहा

है और भविष्य में भी होता रहेगा। फिर भी जीव एकान्त पर्याय रूप नहीं है, वह द्रव्य रूप भी है। इस कारण पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी द्रव्य रूप से नित्य है। द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता अतएव जीव का भी कभी सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। इस प्रकार द्रव्य से नित्य यह जीव अनादि काल से पर्यायों की अपेक्षा अनेक गतियों में अनेक रूपों में, अनेक आकृतियों में उत्पन्न होता रहा है। इन विभिन्न सांसारिक पर्यायों का मुख्य कारण कर्म है। कर्मों की अनादिकालीन सयोग परम्परा ने इसे अपने स्वरूप में स्थिर होने से रोक रक्खा है। कर्म रूप मदारी जीव रूपी वानरों को नाना नाच नचा रहा है। मोहनीय कर्म सब कर्मों में अधिक बलवान् है। इसके वश में हुए जीव घोर दुःखों के पात्र बनते हैं। यह सार असार, हिताहित की पहचान नहीं होने देता। इसके उदय से जीव दुःख को सुख समझ बैठता है और उसी को प्राप्त करने में सदा संलग्न रहता है। विषयों के भोगोपभोग में संसारी जीव ने सुख की कल्पना करली है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो विषय सुख, सुख नहीं, सुखाभास है। जैसे खुजली को खुजाने के समय क्षणिक सुख सा प्रतीत होता है किन्तु उसका परिणाम अत्यन्त दुःखजनक होता है, इसी प्रकार विषय-सुखों का परिणामधार अति घोर दुःख है। फिर भी मोही जीव राई भर सुख के लिए दुःख का सुमेरु सिर पर उठाये फिरता है। यह मोह का महात्म्य है। अज्ञान की लीला है और अविवेक का विलास है। विवेक पुरुष वस्तु तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जान कर सच्चे आत्मिक सुखको प्राप्त करने का प्रयत्न करते है और संसार के इन तुच्छ, क्षणिक और दुःखद सुखों से विरक्त रहते हैं।

इन विषय भोगों के पास में पड़ कर जीव ने अब तक विकट सकट सहे है।

यह जीव कभी-कभी वैषयिक सुखों की प्राप्ति के लिए घोर पाप करता है और उसका परिणाम भुगतने के लिये नरक में पहुँचता है। वहां की असह्य और श्रवण मात्र से कपकपी उत्पन्न करने वाली भयानक वेदनाएं सहन करता है। नरक की यातनाए इतनी भीषण हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। उन वेदनाओं से निमेष मात्र भी बीच में अवकाश नही मिलता। प्रथम तो वहां की भूमि ही इतनी वेदना प्रद है कि उसका स्पर्श होते ही नारकी जीव को इतना कष्ट होता है जैसे एक हजार बिच्छुओं ने एक साथ शरीर में डंक मारा हो। वह वेदना निरन्तर, प्रतिपल बनी ही रहती है, तिस पर नारकी जीव आपस में मारकाट मचाते है। एक-दूसरे को असह्य कष्ट पहूँचा कर भी सन्तुष्ट नहीं होते। फिर परमाधामी देवता अपने स्वाभाविक क्रूर परिणामों के कारण गजब ढाते है। उन्हें कोल्हू में पेरते है। काट-काट कर तिल के बराबर टुकड़े करते हैं। उबलता हुआ शीशा बलात् मुंह फाड़कर डाल देते है। नारकी जीव अत्यन्त दीनता के साथ बिल-बिलाते है, आक्रन्दन करते है, कोलाहल मचाते है, पर सब निरर्थक होता है। हाय माता! बचाओ! हे तात! रक्षा करो!' इत्यादि शब्द बोलते है पर माता-पिता उस समय काम नही आते। अकेले ही उसे सम्पूर्ण दुःखों का सामना करना पड़ता है।

लम्बी आयु समाप्त कर नरक से निकलने पर पृथ्वी, पानी, या वनस्पतिकाय में जन्म लेता है। वहां से मरकर फिर वायु-काय या अग्निकाय में उत्पन्न होता है। एक बार जन्म-मरण करके छुट्टी

मिल जाती होती तो गनीमत थी। ऐसे-ऐसे जन्म-मरण उसे असंख्यात वार करने पड़ते हैं। किसी प्रकार पाप कर्म क्षीण हो गये और पुण्य का उदय हुआ तो अत्यन्त कठिनता से त्रस-पर्याय की प्राप्ति होती है। समुद्र में फैंके हुए चिन्तामणि का मिलना जितना दुर्लभ है उससे भी कहीं अधिक दुर्लभ त्रस पर्याय पाना है त्रस-पर्याय पा जाने पर भी जीव कभी कृमि लट आदि दो इन्द्रियों वाला होता है, फिर तीन इन्द्रियां मिलती हैं, कभी-कभी भौंरा आदि चार इन्द्रियों वाला प्राणी होता है। पांच इन्द्रियों की प्राप्ति होना फिर भी दुर्लभ है। पुण्य योग की प्रबलता से सौभाग्यवश कभी पांच इन्द्रियां भी मिल जाती हैं तो मन के अभाव में वह निरर्थक-सी हो जाती हैं। अधिकतर पुण्य का उदय हुआ और मन के साथ पांच इन्द्रियां भी प्राप्त हो गईं तो क्रूर हिंसक पशु-पक्षी आदि होकर जीव फिर पाप कर्मों का उपार्जन करता है। उन पाप कर्मों का फल भोगने के लिए फिर नरक में पड़ता है और फिर पूर्वोक्त सभी वेदनाएं और दुरावस्थाएं भोगता है! फिर वही एकेन्द्रिय आदि अवस्थओं में वेदनाएं सहन करनी पड़ती हैं। वहां न कोई साता पूछने आता है, न सान्त्वना देने आता है, न दुःख में हिस्सा बांटके में समर्थ होता है। जीव को समस्त दुःख विवश हो कर अकेले ही भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार पाप-कर्मों फा फल भोगते-भोगते, नाना पर्यायों में भ्रमण करते-करते, न जाने कितने दीर्घ काल के पश्चात् अत्यन्त तीव्र पुण्य के संयोग से मानव-पर्याय की प्राप्ति के योग्य होता है। मनुष्य पर्याय में आते समय पहले माता के गर्भ में रज-वीर्य का आहार करता है। जो वस्तु दर्शन मात्र से घृणा

उत्पन्न करती है, जिसका नाम सुनते ही हृदय में अरुचि का भाव जागृत हो जाता है, उसी चीज से मानव-शरीर का निर्माण होता है।

माता के गर्भ में, काल कोठरी से अधिक तंग जगह में, लगातार सवा नौ महीने के लगभग औंधा मुंह किये हुए पड़ा रहता है। यदि निकाचित वायु का बंध हुआ हो या लम्बी आयु मिली हो तब तो जीवित रहता है अन्यथा गर्भ में ही या गर्भ से बाहर आते ही काल का ग्रास बन जाता है। गर्भ से बाहर निकलने पर भी इन्द्रियां बेकार होने से शैशव काल में मौन भाव से भूख, प्यास, रोग आदि की पीड़ा सहनी पड़ती है। मल-मूत्र में लिपटे हुए पड़ा रहना पडता है।

शैशव व्यतीत होने पर भी अनेक मनुष्य अन्धे, बहरे या गूंगे होते है। अथवा अनार्य क्षेत्र में अनार्य कुल में या अनार्यों के ससर्ग में पड़ने के कारण पशुओं की भांति ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं! तात्पर्य यह है कि मनुष्य पर्याय पा लेने पर भी उत्तम कुल, अविकल अगोपांग, परिपूर्ण इन्द्रियां, धार्मिक सज्जनों का सहवास, धर्म का श्रवण, धर्म-श्रद्धा आदि की प्राप्ति होना अत्यन्त ही कठिन है।

देवानुप्रियों! सौभाग्य से आपको उपयुक्त सभी दुर्लभ वस्तुओ की प्राप्ति हुई है। यह साधारण सौभाग्य नहीं। पुनः ऐसा सौभाग्य प्राप्त होने का नहीं है। चेतो, जागृत होओ, आत्मा के असली स्वरूप को पहचानो। उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। मोह की लीला में मुग्ध न बनो। यह अनमोल जीवन दीर्घ काल तक टिका नहीं रहेगा। कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस का

बूंद अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। यह जीवन भी इसी प्रकार क्षणिक समझो। क्षण-क्षण में अमूल्य व्यतीत हो रहा है भविष्य का भरोसा न करो। कौन जानता है किस क्षण में मृत्यु के दूत आकर प्राण हरण कर ले जाएंगे? इसलिए भगवान् ने समय मात्र भी प्रमाद करने का निषेध किया है। वह निषेध साधारण निषेध नहीं है-३६ बार निषेध करने में गहरा रहस्य है। उस रहस्य तक पहुँचने का प्रयास करो। अब तक तुमने बहुत सा समय व्यर्थ गंवा दिया है, पर अब जो कुछ तुम्हारे हाथ में है उसका सदुपयोग करो। जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा करो। अन्तःकरण से संयम की साधना करो, मन से आत्मा-परमात्मा का चिन्तन करो, कानों से धर्म का श्रवण करो, नेत्रों को शास्त्रावलोकन और संतों के दर्शन में लगाओ। सम्पूर्ण शक्तियाँ एकत्र करके अध्यात्मिक आराधना में मग्न हो जाओ। संसार-समुद्र से पार उतरने का, दुःखों के दावानल में जलने से बचने का, अनन्त और शाश्वत सुख प्राप्त करने का यही मार्ग है, यही उपाय है।"

श्री सुधर्मा स्वामी के इस प्रकार के उपदेश को श्रोता बड़े चाव से सुनते रहे। उनके शब्दों में अतीत प्रभाव था। वे श्रोताओं के अन्तःकरण पर विरक्ति की छाप-सी लगा रहे थे। अतएव जब उपदेश समाप्त हो गया तो अनेक श्रोताओं ने अपनी पापपूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग किया, कितनों ही को पाप कृत्यों के प्रतिघोर घृणा उत्पन्न हो गई।

जम्बूकुमार मन्त्र-मुग्ध-से उपदेशामृत का पान कर रहे थे। वे उपदेश सुनने में तन्मय हो गये थे। जब उपदेश समाप्त हुआ तो मानों उनकी तन्द्रा दूर हो गई। उन्हें अपना असमर्थ

जीवन कांटे की तरह चुभने लगा। अतः उन्होंने सांसारिक उपाधियों से मुक्त होने का मन ही मन संकल्प किया। संयम धारण करने के लिए वे अत्यन्त उत्सुक हो उठे। वे श्री सुधर्मा स्वामी के समीप पहुँचे और अपने भाव इस प्रकार व्यक्त करने लगे:—

'प्रभो ! संसार में विविध व्याधियों की धाराएं वह रही है। आपने प्रवचन का पीयूप बहा कर मेरे हृदय को अत्यन्त शान्ति पहुँचाई है। ससार से मुझे घृणा हो गई है। भोगोपभोग भोगने की मेरे चित्त में तनिक भी चाह नहीं रही है। मैं दीक्षा धारण करना चाहता हूँ। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करके आप के चरण-कमलों का भ्रमर बनने के लिए शीघ्र ही उपस्थित होऊगा।

इस प्रकार निवेदन कर जम्बूकुमार अपने घर की और लौट पड़े। जब वे नगर में प्रविष्ट होने के लिए दरवाजे में घुसे तब दैवयोग से तोप का एक भयानक धड़ाका हुआ। दरवाजे के ऊपर के कोट का एक खंगूरा टूट कर जम्बूकूमार के पास धमाके से गिर पड़ा। एक बड़ा-सा पत्थर उनके दोनों परों के बीच में होकर निकल गया। जम्बूकुमार वाल-वाल वचे।

इस दुर्घटना ने जम्बूकुमार की विचार धारा को उत्तेजित कर दिया। उनके वैराग्य में और अधिक उग्रता आगई। वह सोचने लगे-प्रगाढ आयु कर्म के वन्ध के कारण ही मै वच सका हूँ। अन्यथा अभी इसी क्षण इस शरीर से प्राण पखेरू उड़ जाते। सचमुच श्री सुधर्मा स्वामी ने जीवन की अनित्यता का जो शाब्दिक वर्णन किया था उसे प्रकृति ने साक्षात् करके उसका समर्थन

किया है। क्षण भर का भी प्रमाद अनर्थ का कारण है। यदि मे जीवन का अन्त आ गया होता तो असंयत अवस्था में मेरी मृ होती। दीक्षा धारण करने का मैंने निश्चय कर लिया है फिर भ उसमें अभी कुछ विलम्ब लगेगा। तब तक जीवन पर विश्वा रखना भी उचित नहीं है। अतएव यह श्रेयस्कर है कि मैं फि हाल वापस लौटकर सुधर्मास्वामी के समीप जाकर गृहस्थ ध धारण कर लूं। जब दीक्षा लूंगा तो श्रावक-गृहस्थ धर्म अवस्था में ले लूंगा। असंयम से देश संयम तो असंख्यात-गु अधिक कल्याणकारी है।

गृहस्थ धर्म-धारण

इस प्रकार विचार कर जम्बूकुमार श्रीसुधर्मा स्वामी निकट पहुँचे। घटी हुई घटना का वर्णन कर गृहस्थ धर्म धार करने की इच्छा प्रदर्शित की। बोले—'भगवान्! मुझे गृहस्थ धर्म में तो अभी दीक्षित कर दीजिये।'

श्रीसुधर्मा स्वामी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली। व बोले—देवानुप्रिय! गृहस्थधर्म धारण करने के लिए यह प्रतिज्ञा लेनी पड़ती हैं:—

(१) मैं निरपराधी त्रस जीव की संकल्प पूर्वक हिंसा नह करूंगा।

(२) मैं धरोहर आदि के विषय में स्थूल असत्य भाषा नहीं करूंगा और हिंसाजनक सत्य भाषण भी नहीं करूंगा। जैसे अन्धे को अन्धा कहना इत्यादि।

(३) मैं राज-दण्डनीय और लोक निन्दनीय स्थूल चोरी नहीं करूंगा।

(४) मैं अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त संसार की समस्त स्त्रियां को माता, बहिन और पुत्री के समान समझूंगा।

(५) मै अमुक मर्यादा तक ही परिग्रह रक्खूंगा। उससे अधिक कदापि नही।

गृहस्थ के यह पांच मूल व्रत है। इनके अतिरिक्त दशों दिशाओं में जाने की मर्यादा करना, उन दिशाओं की सीमा को भी प्रतिदिन कम करना, निरर्थक सावद्य व्यापार का त्याग करना आत्मा में समताभाव का पोषण करने के लिए प्रतिदिन प्रातः—सायंकाल सामायिक करता, पर्व के दिनों में अष्टमी-चतुर्दशी-पूर्णिमा-अमावस्या के दिन सब प्रकार के आरम्भ का त्याग कर प्रतिपूर्ण पौषध करना, भोगोपभोग की सामग्री का परिणाम करना और घर पर आये हुए उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य अतिथियों का यथोचित सत्कार करना, यह संक्षिप्त गृहस्थ धर्म का वर्णन है।

सच्चे जैन गृहस्त को प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त प्रमाणिक रूप से करना चाहिए। दया, क्षमा, परोपकार, दीन दुखियों की सेवा, श्रमणों का सत्कार, धर्म शास्त्र का स्वाध्याय, कम से कम आरम्भ वाली आजीवीका, इत्यादि कर्त्तव्यों का सदैव ध्यान रखने वाला गृहस्थ अपने धर्म का भलिभांति पालन करता है और अपने सद्व्यवहार से दूसरों पर भी जैन धर्म की छाप लगाता है। वह अपने प्रत्येक कार्य में धर्म—अधर्म का विवेक रखता है।

इस प्रकार ग्रहस्थधर्म का संक्षिप्त स्वरूप बतला कर श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूकुमार को गृहस्थधर्म की दीक्षा दी और

जम्बूकुमार प्रसन्नता और संतोष के साथ अपने घर की ओर लौटे।

जम्बूकुमार को घर पहुँचने में काफी देर हो गई थी। उनके माता-पिता उनकी राह देखते-देखते उकता गये थे। जब कुछ और अधिक देरी हो गई तथा अन्य दर्शकगण लौट आये तो उन्हें अधिक चिन्ता हुई। उन्होंने जम्बूकुमार को ढूंढने के लिए कई आदमी इधर-उधर भेजे। इतने में जम्बूकुमार जा पहुँचे और माता-पिता को ऐसा संतोप हुआ जैसे कोई खोई हुई वहुमूल्य वस्तु प्राप्त हो गई हो।

जम्बूकुमार को सामने पाकर माता-पिता ने कहा—वेटा! आज बहुत विलम्ब करके लौटे। दूसरे लोग तो कभी के आ पहुँचे हैं। तुम्हें न आया देख हमें वड़ी चिन्ता हो गई थी। लाल! इतनी देर न लगाया करो। तुम जानते ही हो, तुम्हारा यह चांद-सा मुखड़ा देखे विना हम लोगों को चैन नहीं मिलता तुम्हारे विना यह मकान सूना-सूना जान पड़ता है। तुम्ही तो इस घर की श्री हो। इसी कारण घर से वाहर निकलने देने की इच्छा नहीं होती हमारा वस चलता तो तुम्हें अपनी आंखों की पुतलियों में वन्द कर रखने। अस्तु, विश्रामकर लो, थकावट हुई होगी।'

माता-पिता के सरल और स्नेह पूर्ण हृदय से निकले हुए यह वचन सुनकर जम्बूकुमार गद्गद् हो गये। अतीव नम्रता और विनय के साथ उत्तर में कहने लगे—"पूज्य माताजी और पिता-जी। मैं सभी लोगों के साथ आपकी सेवा में आ उपस्थित होता किन्तु नगर के फाटक में प्रवेश करते ही अचानक एक कंगुरा टूट पड़ा। आपके आर्शीवाद ने कवच बन कर मेरी रक्षा की। वह

मेरे ऊपर न गिर कर पास में गिरा और एक बड़ा-सा पत्थर मेरे दोनों पैरों के बीच में होकर निकल गया। इससे मुझे मृत्यु का भय तो नहीं हुआ। अलबत्ता यह विचार आया कि यदि आज अचानक मृत्यु हो जाती तो असयमपूर्वक जीवन त्याग करना पड़ता फिर भी जीवन का क्या भरोसा है ? यह सोच कर मैं श्री सुधर्मा-स्वामी के पास लौट कर गया और गृहस्थ धर्म को धारण किया। इसी कारण यहां पहुँचने में विलम्ब हो गया है।

जम्बूकुमार की विपत्ति की घटना सुन कर माता की आंखों में वात्सल्य के कारण जल भर आया। उसने जम्बूकुमार का सिर चूमा और बड़े ही चाव के साथ उन्हें पुचकार कर सिर पर हाथ फेरने लगी। मानो वह हाथ रक्षा-कवच था, जो पुत्र को ससार की समस्त दुर्घटनाओं से बचाने में समर्थ है। उस समय पिता की आंखें भी डबडबा आई और थोड़ी देर के लिए ऐसा जान पड़ने लगा जैसे वात्सल्य रस शरीर धारण करके उस घर में आ गया है।

पिता सेठ ऋषभदत्त कहने लगे—पूर्व पुण्य आड़े आया बेटा ! जो तुम सही सलामत आ पहुँचे हो। तुम एकलौते बेटा हो। तुम्हारे बिना पल भर भी हमारा जीवित रहना संभव नहीं।'

जम्बूकुमार—'पिताजी, आप लोगो का मुझ पर जो असीम प्रेम है, उससे मै अपने को धन्य समझता हूँ। सौभाग्य से आपकी मुझ पर असीम कृपा है। फिर भी संसार बड़ा विचित्र है और वस्तु स्थिति यह है कि अत्यन्त स्नेही स्वजनों को भी वियोग सह कर रहना पड़ता है। यह मेरा और आपका जो संयोग हुआ है। सो इसका एक ही फल है—वियोग! संयोग स्थायी नहीं रह

सकता। वह मिटने को ही उत्पन्न होता है। और जब उसका अन्त अवश्यम्भावी है तो क्यों न हम ऐसी स्थिति प्राप्त करें कि वियोग का बाण हमारे हृदय में वेदना उत्पन्न न कर सके ? यह स्थिति प्राप्त करने का मोह त्याग कर देना ही एक मात्र उपाय है। जहां मोह नहीं वहां वियोग-वेदना भी नहीं है। संसार में प्रतिदिन लाखों व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनकी मृत्यु से न हम मातम मानते हैं, न दुःख का अनुभव करते हैं। इसका कारण यही है कि उन पर हमारा राग नहीं है। हमने जिन्हें अपना मान लिया है, जिन पर हमारा मोह है, उन्हें भी यदि पर समझ लिया जाय तो उनके वियोग से भी व्यथा न होगी। अतएव दुःख और शोक से बचने का एक मात्र उपाय राग भाव की निवृत्ति है। यही सोच कर, श्री सुधर्मा स्वामी की वाणी सुन कर मैंने सांसारिक मोह-ममता से मुक्त होकर दीक्षा धारण करने का सकल्प किया है।'

जम्बूकुमार का अन्तिम वाक्य सुनते ही उनके माता-पिता को ऐसी वेदना हुई जैसे किसी ने कलेजे पर छुरी चलादी हो। वह अपने को सम्भाल कर बोले—बेटा! यह कैसी बात करते हो? अभी तुम नादान हो। हमने बड़े लाड़-प्यार के साथ पाल-पोस कर तुम्हें इतना बड़ा किया है। तुम जैसे विनीत पुत्र को अपने मां-बाप की सेवा करनी चाहिए और तुम उल्टे हमें छोड़ कर जाने की बात करते हो! भला यह कैसे संभव है? क्या यह तुम्हारा कर्त्तव्य है! यह विपुल ऐश्वर्य और प्रचुर धन तुम्हारे लिए उपार्जन किया है। तुम चले जाओगे तो इसे कौन भोगेगा? लोग पैसे पैसे को मोहताज रहते है और तुम इस अपरिमित द्रव्य राशि को पैरों से ठुकराने का विचार करते हो! तुम्हें हम लोग

प्राणों से अधिक प्यार करते हैं, तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो इस बात की रात दिन चिन्ता रखते हैं और तुम हमारे दुःख की कल्पना न कर इस प्रकार निर्दयता के साथ हमें त्यागने को तत्पर होते हो ? साधु की वृति का पालन करना हसी ठठ्ठा नहीं है बड़े-बड़े धीर-वीर पुरुष भी उसका पालन करने में विचिलित हो जाते है। वह तो लोहे के चने चबाना है । इसलिए बेटा ! इस विचार को त्यागो। गृहस्थ धर्म का पालन कर न्याय नीति के साथ ससार व्यवहार चलाओ । इससे आत्म कल्याण भी होगा और लौकिक धर्म का भी पालन हो सकेगा।

इसके अतिरिक्त अभी तुम्हारे पाणिग्रहण की तैया.रियां हो रही है । देखो, सौभाग्यवती स्त्रियां विवाह के मगलगान गा रही हैं। सबके हृदय में एक अपूर्व उमग है, हार्दिक उल्लास है। वाद्यों की यह कर्ण मधुर ध्वनि आकाश को व्याप्त कर रही है । आत्मीय जन विवाह के साज सजाने में व्यग्र है। ऐसे सुसमय पर तुम साधु बनने क. बात कर रहे हो ? लोग सुनेंगे, तो हसी उड़ायेंगे । तुम्हारे माता-पिता को लज्जित होना पड़ेगा। उन कन्याओं की क्या दशा होगी जिन्होने हृदय से तुम्हे वरण कर लिया है ? उनके मात-पिता के हृदय में कैसा घाव लगेगा ? कुंवर, इन सब बातों का विचार करो । अपने विचार को बदलो।

पिता के स्नेह, ममता और अनुनय से भरे हुए वचन सुन कर भी जम्बूकुमार के हृदय मे किञ्चित परिवर्तन न हुआ। वह अपने सकल्प से लेशमात्र भी विचलित नहीं हो सका। वैराग्य की प्रबलतर आंधी में सेठ ऋषभदत्त का कथन आक की

रुई के समान पलभर में उड़ गया। उसने कहा—पिताजी, आप का मुझ पर असीम स्नेह है, यह मैं खूब जानता हूँ। आपने मुझे बड़े यत्न से पाला है, इस उपकार का प्रतिदान दे सकना मेरी शक्ति से परे है। आप अब भी मेरी अतिशय चिन्ता रखते हैं। किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देते इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। मगर पूर्वकृत कर्मों का फल प्रत्येक प्राणी को भोगता पड़ता है। असाता वेदनीय कर्म का उदय आने पर शारीरिक और मानसिक व्याधियां जब किसी को घेर लेती है तब धन से, जन से या अन्य किसी साधन से उनका प्रतिकार नहीं होता । आयु कर्म जब समाप्त हो जाता है तब कोई किसी को अपनी आयु का थोड़ा भाग देकर जीवित नहीं रख सकता। ऐसा करना मानव-शक्ति से बाहर है । उस समय, जीवन को निरर्थक व्यतीत कर देने की वेदना होती है । अतएव उस वेदना से बचने के लिए और भविष्यकालीन कल्याण के लिए शीघ्र से शीघ्र प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को कटिबद्ध होना चाहिये।

साधुवृत्ति में घोर कष्ट हैं यह मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु आत्मा में अनन्त और असीम शक्ति है वह संसार की समस्त वेदनाओं को सहन करने की क्षमता रखती है। अतएव कष्टों से घबड़ाने का कोई कारण नहीं है। आप तनिक भी चिन्ता न करें । मैं समस्त उपसर्गो का परीषहों, मुसीबतों का सहर्ष स्वागत करूंगा और उन्हें अत्यन्त धैर्य के साथ सहन करूंगा। कर्मों की निर्जरा का यही सफल उपाय है। मेरा संकल्प सुदृढ़ है। वह हृदय की क्षणिक तरंग नहीं है । अनुग्रह कर मुझे आज्ञा दीजिये।

पिता-पुत्र का वार्तालाप सुनकर माता धारिणी का हृदय गहरी चोट अनुभव कर रहा था। पुत्र के अन्तिम वाक्यों से उसके संकल्प की दृढ़ता देखकर उसे घोर निराश हुई। उसका मातृ-हृदय चीख उठा। नेत्रों से नीर का झरना बहने लगा। थोड़ी देर तक उसके मुंह से कोई शब्द न निकला। नीरव शान्ति रही, पर सभी के हृदयों में भावों का प्रबल अन्धड़ चल रहा था। थोड़ी देर के मौन के बाद माता ने अपने को सभाल कर कहा-'बेटा ! तुम इतने अधिक ;निर्दय बन कर दया धर्म का पालन करने का हठ कर रहे हो ! हृदय में शूल-सा भौंकने वाला, दुःसद शब्द कह कर सत्य महाव्रत की साधना कर रहे हो ? हमारे हौसलों को और नवयुवती आठ कन्याओं के अरमानों को लूटकर अचौर्य महाव्रत को धारण करने जा रहे हो विवाह की प्रतिज्ञा कर के, कन्याओं को अविवाहित छोड़ कर भाग जाने से ही क्या ब्रह्मचर्य की आराधना शोभा देती है ? गृहस्थी का सारा भार-सम्पूर्ण परिग्रह के उत्तरदायित्व का बोझ पिता के मत्थे मढ़ने से ही क्या परिग्रह त्याग को प्रतिष्ठा होती है ?

माता कहती गई—बेटा, मेरी आंखों के तारे, क्या इस प्रकार निराधार छोड़कर, हमारी तमाम आशाओं पर पानी फेर कर साधु बन जाना उचित है। माता के अगाध स्नेह का थोड़ा तो खयाल करो। मैंने कितने अरमान के साथ तुम्हारे ब्याह के साज सजाये है, सो मैं ही जानती हूँ। कहो क्या तुम माता के आग्रह को स्वीकार न करोगे ?

जम्बूकुमार वात्सलय की मूर्ति माता के भद्र उद्‌गार सुन कर क्षण भर हतबुद्धि हो गया। दूसरे ही क्षण जैसा उसको निद्रा दूर

हो गई। उसने सोचा—'माता-पिता की ममता का अन्त नहीं है। इनकी यह ममता मेरे आत्म कल्याण में अन्तराय उपस्थित करती है, यह कदाचित् सहन भी कर लेता पर इससे इनका भी तो भारी अनिष्ट होगा। किसी प्रकार मोह के इस बधन को तोड़ फैंकने से ही इनका मोह कम होगा और मेरा भी कल्याण होगा। इनके इस समय के अनुरोध को स्वीकार करने से मेरे अहित के साथ-साथ इनके आत्मिक कल्याण में भी तीव्र बाधा होगी। क्षणिक मोह-विलास की रक्षा करने की अपेक्षा शाश्वत मगल की रक्षा करने से ही मै अपने माता पिता की अधिक सेवा बजा सकूंगा।' इस प्रकार विचार कर उसने दृढ़ता धारण की और माता के अनुरोध को अत्यन्त नम्रता के साथ अस्वीकार कर दिया। माता और कोई गति न देख कर 'भागते भूत की लगोटी भलि' इस लोकोक्ति का अनुसरण करती हुई बोली—'देखो लाल क्या इस प्रकार लोक में उपहास कराने के लिए, अपनी इज्जत-आबरू की बुरी तरह फजीहत कराने के लिए ही मैंने सवा नौ महीने तक तुम्हें गर्भ में धारण किया था? हम लोग उन कन्याओं को और उनके माता-पिताओं को कैसे मुंह दिखाएगे? अधिक दिनों नहीं ठहर सकते तो कम से कम विवाह होने तक तो ठहर जाओ।'

माता की यह बात सुन कर जम्बूकुमार पसीज गये। वे नीचा मुंह करके थोड़े मुस्कराये और मुस्कराहट को ही स्वीकृति का चिह्न समझकर माता का हृदय बांसों उछलने लगा। उसने विवाह की तैयारियां, जो अचानक विघ्न? पड़ने से रुक गई थी, करने के लिए सब को आदेश दिये और स्वयं काम में जुट पड़ी।

सेठ ऋषभदत्त ने जम्बूकुमार के इरादे की सूचना अपने समंधियों को दे देना उचित समझा। वह तत्काल उनके घर पहुँचे और जम्बूकुमार के संकल्प का आद्योपान्त विवरण उनके समक्ष रख दिया। साथ ही यदि सम्बन्ध करने की इच्छा हो तो शीघ्रता करने का अनुरोध किया।

ऋषभदत्त की बात सुनकर कन्याओं के पिता आपस में विचार-विनीमय करके वोले—'वन्धुवर' जम्बूकुमार जब दीक्षा ले रहे हैं तब हम लोग अपनी कन्याओं का उनके साथ विवाह सबध करके उन्हें विपत्ति में क्यों पटकें ? ससार के समस्त सुख एकत्र कर दिये जाएं तो भी पतिव्रता स्त्री अपने पति का वियोग सहन कर उनसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती। पति रहित स्त्री स्वर्ग में भी सुखी मही हो सकती। जव जम्बूकुमार दीक्षा लेकर साधु वन रहे है तो कन्याओं का जीवन वर्बाद करने से क्या लाभ है ? अतएव अव हमारा विचार वदल गया है। फिर भो इस सम्वन्ध में कन्याओं की सम्मति लेना उचित प्रतीत होता है। अतएव उनसे परामर्श करके हम लोग अन्तिम उत्तर आपको देंगे।

कन्याओं का परामर्श

अन्त में आठों कन्याएं एकत्र की गई और जम्बूकुमार का विचार उनके सासने रख दिया गया। यह अकल्पित आपत्ति सहसा आई देख कन्याओं का हृदय वैठ-सा गया। भोली-भाली कन्याओं को अपना भविष्य अन्धकारमय दिखाई देने लगा। वे पहले तो हत बुधि होकर थोड़ी देर तक मौन रहीं। क्या कहना चाहिए और क्या करना चाहिए, यह उन्हे सूझ ही नहीं पड़ा। सव एक—

दूसरी के मुंह के सामने किसी के बोलने की राह देखने लगीं। उसी समय सब के चेहरे उदास थे। उन्हें वज्रपात की सी वेदना हो रही थी। थोड़ी देर बाद उन कन्याओं में से एक बोली-'बहिनों! चुप्पी साधने से काम नहीं चलने का। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन का एक अतिशय महत्वपूर्ण प्रश्न है। हमारे सुख-दुःख का इस प्रश्न के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि विवाह होते ही पतिदेव परमार्थ की साधना के लिए चल देंगे तो हम लोग प्रभूत ऐश्वर्य को छाती से चिपटाकर क्या करेंगी ? विपुल धनराशि हमारे किस काम आयेगी ? पति ही स्त्री का सुख है, पति ही सौभाग्य है, पति ही धन है, और पति ही सर्वस्व है। सर्वस्व गंवा कर हम किस के सहारे सम्पूर्ण जीवन बिताएंगी ? कौन हमारे धर्म की रक्षा करेगा ? हमारी समस्त अभिलाषाएं, मनोकामनाएं सब मनोरथ मिट्टी में मिल जाएंगे। हम जीवित रहते हुए भी मृतप्राय बन जाएंगी। इन सब बातों पर भली भांति विचार कर हमें निर्णय करना चाहिए।'

दूसरी कन्या ने कहा-बहिनों ! यदि जम्बूकुमार को दीक्षा ही लेनी थी तो क्यों न उन्होंने पहले ही अपना विचार पकट कर दिया ? इस प्रकार का यह खिलवाड़ क्या उन्हें शोभा देता है ? यह हमारा घोर अपमान है। नारी जाति के प्रति यह निष्ठुर व्यवहार करने का उन्हें क्या अधिकार है। इधर विवाह की तैयारियां हो रही हैं इधर वर-राजा मूंड-मुंडाकर मुनि बनने का मनोरथ कर रहे हैं ! हम दुनियां को मुंह दिखाने योग्य भी नहीं रहेंगी। हमें न इधर का रक्खा, न उधर का। मंझधार में छोड़ कर चल देना क्या न्याय संगत व्यहार है ?'

तीसरी कन्या कहने लगी—वहिन, तुम ठीक कह रही हो। जब उन्हें दीक्षा ही लेनी है हमारा परित्याग कर मुक्ति-वधू की आराधना करने का ही उन्होंने निश्चय कर लिया है नो फिर हमारे ऊपर विवाह का यह वज्र क्यों गिरा रहे हैं ? वे स्वयं यदि विवाह करना स्वीकार न करते और वाल-ब्रह्मचारी रह कर ही दीक्षित हो जाते तो उनका क्या बिगड़ता था ? कम से कम हमें इस लज्जा जनक असमंजस में तो न पड़ना पड़ता। आश्चर्य है कि उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया हैं परन्तु विवाह से पहले वे दीक्षा नहीं लेंगे ! इस रहस्य को समझना भी वड़ा कठिन हैं !'

चौथी कन्या बोली—"वहिन, तुम्हें जो रहस्य अगम्य जान पड़ता है उसे मैं खूव समझ रही हूँ। विवाह करना स्वीकार करने का अर्थ यही है कि अव तक दीक्षा लेने का उनका विचार पक्का नहीं हुआ है । यदि उनका विचार अंतिम निर्णय की सीमा पर पहुँच गया होता तो उन जैसा कोमल-हृदय का व्यक्ति हम लोगों के जीवन को वर्वाद करने पर कदापि उतारू न होता। वे अत्यन्त मृदुल-हृदय, सौम्य और दयालु हैं । जान पड़ता है एक क्षणिक विचार उनके मस्तिष्क में आया है और वह शीघ्र ही चला भी जायगा।'

पांचवी कन्या जरा गम्भीरता पूर्वक बोली—'भगिनी ! यह तुम्हारा अनुमान मात्र है। कदाचित् उनका संकल्प दृढ़ हो गया हो तो हमारी क्या गति होगी ? विवाह का वन्धन जिन्दगी भर का वन्धन है। उसे दोनों के जीवित रहते बीच मे तोड़ना तो नीति सम्मत नहीं है। धर्म भी उसका विरोध करता है। जीवन-मरण के इस प्रश्न का समाधान किसी अनुमान पर अवलंवित रह कर

न करो, वल्कि वास्विक तथ्य के आधार पर इसे हल करो।'

छठी कन्या ने कहा—'मुझे भी यही जान पड़ता है कि उन्होंने दीक्षा लेने का अब तक निर्णय न किया होगा, अन्यथा विवाह का खेल क्यों रचा जाता ? फिर भी थोड़ी देर के लिए मानलें कि वे दीक्षा लेने का संकल्प कर चुके हैं तो भी क्या हम आठ नवयुवती और सौन्दर्यशालिनी स्त्रियों में इतनी भी शक्ति न होगी कि उन्हें रोक सकें ? वे तो अभी साधुत्व के उम्मीदवार ही हैं, बड़े बड़े ऋषि-मुनि भी अपनी वर्षों की तपस्या को धूल में मिलाकर स्त्रियों के जाल में फंस सकते हैं। हम मिलकर उन्हें अपने हार्दिक अनुराग से आकृष्ट कर लेंगी। साधुत्व की इच्छा तभी तक है जब तक उन्होंने आपका यह चांद-सा मुखड़ा, कमल के समान यह लम्बे लम्बे लोचन और रति को चुनौती देने वाला यह सौन्दर्य अपनी आंखों से नहीं निहारा है। यह सब देखकर सारा वैराग्य हिरन हो जायगा।

सातवीं कन्या ने अत्यन्त गंभीर मुद्रा, से कहा—बहिनों, प्रस्तुत समस्या पर अत्यन्त गहराई के साथ विचार करो। अभी बहिन ने जो कहा है उसमें साहस और शक्ति का स्पष्ट प्रतिभास है। मगर विनोद का पुट होने से उसकी गंभीरता कुछ कम हो गई है। फिर भी उसका आशय यह है कि हमें उन्हीं के साथ विवाह-संबंध स्वीकार कर लेना चाहिये। मैं भी इस मत का समर्थन करती हूँ। मेरे खयाल से धर्म शास्त्र का आदर्श भी हमें यही शिक्षा देता है। जिसे हमने हृदय से एक बार वरण कर लिया हो, जिसकी मनोहर मूर्ति को हमने अपने मानस-मंदिर में प्रतिष्ठित कर लिया हो, वह हमारा मानसिक

पति बन चुका है। यद्यपि नीति और समाज के आचार-व्यवहार की दृष्टि से हमें उसे अस्वीकार कर देने का अधिकार प्राप्त है फिर भी धर्म का आदर्श हमें ऐसा करने से रोकता है। अतएव हमें अपने भाग्य पर निर्भर रह कर यह सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

अन्त में आठवीं ने कहा—बहिन, तुमने मेरे मन की बात कही है। मैं अब तक महासती राजीमति के चरित्र का विचार कर रही थी। उन पुण्यशीला महासती ने भगवान् नेमिनाथ के दीक्षित हो जाने पर दूसरे पुरुष का पाणिग्रहण करना अधर्म समझा था। हम सब प्रभात में मंगलमय समझकर उनके पवित्र नाम का स्मरण करती है, तो अवसर आने पर उनका अनुसरण क्यों न करें ? अतएवं मेरी सम्मति में भी यही उचित जान पड़ता है कि जिसे एक बार पति के रूप में मन में स्थान दे दिया है, उसका स्थान अन्य को नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार विचार-विनियम के पश्चात् आठों ही कन्याओ ने जम्बूकुमार के साथ विवाह करना निश्चित कर लिया। यह सवाद उसके पिता के पास पहुँचा तो उन्होने भी वाध्य होकर स्वीकार कर लिया। दोनों ओर बड़ी धूमधाम से विवाह की तैयारियां होने लगीं। विवाह में यद्यपि वह हार्दिक उल्लास-वह जीवित आमोद-प्रमोद नजर नही आता था, एक प्रकार की उदासीनता का वातावरण छा रहा था, फिर भी बड़े ठाट-से विवाह के पूर्वचर दस्तूर होने लगे। अन्त में नियत समय पर विधि पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार हो गया और बरात लौट आई।

सुहाग रात

विवाह में करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति दहेज के रूप में जम्बूकुमार को मिली थी। वह सब अभी व्यवस्थित रूप में नहीं रक्खी जा सकी है। सारा माल-असवाव उनके मकान के चौक में पड़ा हुआ है।

जम्बूकुमार अपने शयन-कक्ष में पहुँचे हैं। आठों नवविवाहित वधुएं सोलहों शृंगार सजकर, देवांगनाओं के समान जम्बूकुमार के सन्निकट आ पहुँची। पर जम्बूकुमार ने उनकी ओर रुख भी न किया। वे विरक्ति रस में डूबे हुए, मूर्ति की भांति निश्चल बैठे रहे। उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का, बातचीत करने का प्रत्येक प्रयत्न निष्फल होता दिखाई देने लगा। वे सब मन ही मन सोचने लगीं—सिर्फ रात भर का समय है। प्रातःकाल होते ही यह दीक्षा ग्रहण करलेंगे। समझाने बुझाने का बस यही अवसर है! यह अवसर हाथ से निकल जायगा तो स्वामी भी हाथ से निकल जाएंगे। आठों ने उनके पलंग को घेर लिया और जम्बूकुमार को समझाने, और रिझाने का प्रयास प्रारम्भ किया।

किसी ने कहा—स्वामिन! यदि आपकी यही इच्छा थी यदि आप योगी ही वन जाना चाहते थे तो आपने विवाह के महान् उत्तरदायित्व को क्यों स्वीकार किया? विना विहाह किये भी तो योगी वन सकते थे। हम भोली भाली और दुनियादारी से अनभिज्ञ वालिकाओं के साथ आपने विश्वासघात क्यों किया? हमारे सौभाग्य के सूर्य को उदित होने से पूर्व ही अस्ताचल पर

पहुँचा देना क्या आप सरीखे विवेकशील सज्जन को न्याय संगत प्रतीत होता है ? क्या यह स्पष्ट रूप से हिंसा नहीं है ? कृपा कर यह तो बताइए कि हमने आपका क्या भीषण अपराध किया है जिसका दड आप हमें दे रहे है ? जब आपने हमें अपनाया है, स्वीकार किया है तो निष्कारण तज देना क्या उचित है ? अब हम किसके सहारे अपना जीवन बिताएंगी ? हमारी जीवन-नौका को मंझधार में छोड़कर आप कैसे जा सकेंगे ? यदि आपके हृदय में अनुराग नहीं है तो क्या दया भी नहीं है। हम अबलाओं पर आपको तरस नहीं आता ! हमारे सारे अरमान, सब हौंसले, सम्पूर्ण मनोकामनाएं मिट्टी में मिल रहे है। कृपा कर ऊंचे आसमान पर चढ़ाकर पाताल में न पटकिये। नीति का विचार कीजिये।

किस ने कहा-'नाथ ! अभी आप नवयुवक है। प्राचीन काल में अनेक तीर्थङ्कर ओर बड़े-बड़े ऋषि महर्षि हो गये हैं जिन्होंने विवाह करके, लौकिक धर्म का पालन करने के पश्चात् दीक्षा अगीकार की थी। क्या उन्हे मुक्ति नही मिली ? फिर आप ही क्यों अभी से दीक्षा ग्रहण करने का दुराग्रह किये बैठे है ? कुछ समय के बाद दीक्षा ग्रहण करके आत्म कल्याण करने में हम बाधक न बनेगी। बल्कि हम सब भी अपके साथ संयम धारण करके आपका साथ देंगी।'

एक बोली—प्राणनाथ ! पति, स्त्री का प्राण है। प्राण के जाने पर शरीर बेकार हो जाता है। वह जीवित नही रह सकता ! आप सयम धारण करके क्या सचमुच हम लोगों के प्राण लेना चाहते है ?

इस प्रकार तरह तरह से समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया

जा रहा था। किसी प्रकार जम्बूकुमार के हृदय पर प्रभाव डालने और दीक्षा के संकल्प को त्याग कराने की कोशिश की जा रही थी। पर जैसे चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार नववधुओं का अनुनय-विनय, हाव भाव आदि अनेक हृदय में जगह नहीं कर रहा था। जम्बूकुमार हिमालय की भांति अचल थे।

उन दिनों एक चोर ने जबर्थदस्त आंतक फैला रक्खा था। जनता की जबान पर सदा उसका नाम खेला करता था। वह अत्ययन्त शूरवीर, साहसी और कुशल चोर था राजकर्मचारियों ने चोटी से ऐडी तक पसीना वहाया, महीनों उसकी खोज में मारे मारे फिरे, उसका पता बताने वाले को बहुमूल्य पुरष्कार की घोषणा की, पर वह हाथ नहीं आता था। उसकी कारगुजारी सुन कर लोग दंग रह जाते थे। उसके भय से श्रीमान् पीपल के पत्ते की तरह कांपते थे। उसका समाचार सुनते ही जनता की छाती धकधक करने लगती थी। ऐसा था वह प्रचण्ड चोर! उसका नाम 'प्रभव' था।

प्रभव का प्रवेश

प्रभव को पता लगा कि जम्बूकुमार को करोड़ों का दहेज मिला है। उसने उस मुफ्त के माल पर हाथ साफ करने का निश्चय किया। पांच सौ सूर वीर साथियों को उसने अस्त्रशस्त्र से सज्जित किया और उन्हें साथ लेकर राजगृही नगरी की ओर रवाना हो गया।

प्रभव चोर ने किसी प्रकार दो विद्याएं सीख ली थीं। एक विद्या थी—ताला तोड़ने की और दूसरी लोगों को निद्रा से अभिभूत करने की। प्रभव राजगृही के द्वार पर जब पहुँचा तो नगरी

के समस्त द्वार बन्द थे। उसने तत्काल अपनी दोनों विद्याओं का प्रयोग किया और बड़ी आसानी से राजगृही में दाखिल हो गया। भयंकर शस्त्रों से सुसज्जित पांच सौ वीर उसके साथ थे और रात्रि का समय था। वह अप्रतिहत गति से सेठ ऋषभदत्त के घर जा पहुँचा और उसके भीतर प्रविष्ठ हो गया। उसके पीछे पीछे उसके दूसरे साथी भी घुस गये। माल सारा चौक में ही पड़ा था। कहीं ढूंढने की या किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं थी। जितना जिससे बना गठरी बना कर बांध लिया और निर्विघ्न काम बन जाने से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए सभी चोर रवाना होने को तत्पर हुए।

जम्बूकुमार इस घटना से अनजान थे। चोरों का घुसना, गठरियों में माल बांधना और चलने को तैयार होना, उन्हें विदित था। पर धन-वैभव की महत्ता का भान उनके हृदय से निकल गया था। ममता उनके हृदय में से सर्वथा निकल गई थी। वैराग्य की उच्च स्थिति में, लोक में बहूमूल्य समझे जाने वाले रत्न और साधारण पाषाणखण्ड एक से प्रतीत होते हैं। अतएव जम्बूकुमार ने चोरों को रोकने का जरा भी प्रयत्न न किया। चोर जब चलने को तैयार हुए तब अचानक उनके मन में एक नवीन विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा—'आज रात को चोर माल ले जा रहे हैं और प्रभात होते ही मुझे दीक्षा लेना है। जनता को इन दोनों घटनाओं का हाल एक साथ मालूम होगा। लोग चोरी के साथ दीक्षा की बात सुनकर संभव है दोनों मे कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित कर दें। अर्थात् कोई कोई यह सोच सकता है कि रात में चोरी हो जाने से जम्बूकुमार दुःखी होकर दीक्षित हो रहा है।

यद्यपि ऐसा भ्रम फैल जाने पर भी मेरी कोई हानि नहीं होगी फिर भी इससे दीक्षा की पवित्रता में अवश्य न्यूनता आ जायगी। मुनित्व की अप्रतिष्ठा होगी।

जम्बूकुमार के हृदय में जैसे ही यह विचार-तरंग उठी कि उसी समय देवयोग से चोरों के पैर जमीन से जहां के तहां चिपक गये। चोरों का सरदार प्रभव पहले ही घर के बाहर निकल चुका था, इस कारण उसके पैर न चिपक सके। वह बाहर से अपने साथियों पर विलम्ब करने के कारण झल्लाने लगा और साथी-लोग सहसा चिपक जाने के कारण हतबुद्धि हो रहे। प्रभव को जब इस अचिन्तनीय आपत्ति का पता चला तो वह डरते-डरते फिर मकान में घुसा और अपने साथियों को विपत्ति में पड़ा देख कर अफसोस करने लगा।

जम्बू-प्रभव-सम्वाद

उसने इधर-उधर कान लगाये तो मकान की चित्रशाला से उसे गुनगुनाहट-सी सुनाई दी। प्रभव किसी प्रकार हिम्मत करके चित्रशाला में जा पहुँचा। प्रभव को इस नीरव रात्रि में अचानक शयनगृह में आया देख कर स्त्रियों के आश्चर्य का पार न रहा। वह सब इकट्ठी होकर एक किनारे हो गई। प्रभव सीधा जम्बूकुमार के पास जाकर उनसे कहने लगा—कुमार ! मैंने अपने जीवन में न जाने कितने अद्भुत, आश्चर्यजनक और साहसपूर्ण कार्य किये हैं। उनकी बड़ी लम्बी कहानी है। आज तक कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सका है। राज्य के जासूस मेरे पीछे घूमते हैं पर मुझे पकड़ने योग्य हिम्मत और हिकमत किसी में नहीं है। पर आज आपने मेरे ऊपर विजय प्राप्त कर ली है। आपने मेरे

साथियों पर विचित्र अस्त्र का प्रयोग किया है। मेरे साथियों के पैर जमीन पर चिपका दिये है। अब वे अपने स्थान से हिल-डुल भी नहीं सकते। मै आपके कौशल की अन्तःकरण से प्रशंसा करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी आपके यहां चोरी करने न आऊंगा। साथ ही एक प्रार्थना और है। मुझे दो विद्याए सिद्ध है। वह दोनों विद्याएं मै आपको सिखा देने को तैयार हूँ और आप अपनी यह चिपकावनी विद्या मुझे सिखला दीजिए। मेरा नाम प्रभव है।'

प्रभव की यह अनोखी-सी वात सुनकर जम्बूकुमार बोले—

'भाई ! मैंने तुम्हारा नाम तो पहले खूब सुना था अव साक्षात् देख रहा हूँ। तुमने विद्याओं के आदान-प्रदान की जो बात कही है सो मुझे न तो कोई विद्या आती है और न तुम्हारी विद्याएं सीखने की मेरी इच्छा ही है। मैं संसार के समस्त भोगोपभोगों को और विपुल ऐश्वर्य को तिनके की तरह त्याग कर प्रातःकाल मुनि-दीक्षा लेने वाला हूँ। प्रभात की प्रतीक्षा में हूँ—कब सूर्य का उदय हो और कब घर छोड़ कर बाहर निकलूं। ऐसी अवस्था में तुम्हारी विद्याएं सीख कर भला क्या करूंगा ?'

जम्बूकुमार की बात सुनकर प्रभव चोर विस्मित हो गया। इतने धन वैभव को और अप्सराओं को मात करने वाली नव-विवाहिता पत्नियों को त्याग देना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। यह दुष्कर कार्य तो अत्यन्त प्रवल मनोवल वाले पुरुषोत्तम ही कर सकते है। जहां सैकड़ों हजारों आदमी लोक लाज और मान-सन्मान को तिलांजलि देकर धनोपार्जन के लिए नीच से

नीच काम करते हैं, लोभ के मारे अपने प्राणों को भी संकट में डालते हैं और दर-दर भटकते फिरते हैं, उस धन के प्रति धूल का सा भाव रखने वाला यह युवक सचमुच अभिनन्दनीय है, वन्दनीय है। इसके सिवा जिन कामभोगों की कालिमा को अपने चेहरे पर वृद्ध तक पोतते हैं, जिनके वश में होकर लोग कुत्तों की तरह गली-गली भटते हैं, जो कामवासना बड़े-बड़े ज्ञानशाली विद्वानों और बड़े-बड़े तपोधनों को भी अपने चगुल में फांस लेती है, उसके प्रति जम्बूकुमार की यह विरक्ति धन्य है, अतिशय धन्य है !

प्रभव यद्यपि निर्दय हृदय का व्यक्ति था, पर जम्बूकुमार के इस अनुपम त्याग के आदर्श ने उसके नेत्र खोल दिये। उसकी अन्तर्ज्योति चमक उठी। उसके हृदय का दैत्य विलीन हो गया और देव उस स्थान पर आसीन हो गया। वास्तविक बात यह है कि स्वभाव से आत्मा सद्गुणात्मक है। बाहर का वातावरण, दुर्जनों का संसर्ग और अशुभ कर्म का उदय आत्मा के असली गुणों को आच्छादित करके दुर्गुणों का केन्द्र बना डालते हैं। फिर भी आत्मा का असली स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता। वह केवल दब जाता है और कभी-कभी किसी छोटी-सी घटना से ही वह ऊपर आ जाता है। यही कारण है कि बड़े बड़े क्रूरता के अवतार भी दयालु के सागर बन जाते हैं। प्रभव के अचानक परिवर्तन का यही कारण है। यह परिवर्त्तन जरा भी अस्वाभाविक नहीं है।

प्रभव के मन में जम्बूकुमार के प्रति अतिशय आदर का भाव आविर्भूत हुआ। वह कहने लगा—'कुमार ! स्वतः प्राप्त हुए भोगोपभोगों का परित्याग करना निस्सन्देह बड़े शूरवीर का कार्य

है। मैं आपके इस त्याग का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ किन्तु मेरी समझ में आप कुछ उतावलेपन से काम ले रहे हैं। आपका त्याग मुझे असामयिक जान पड़ता है। अभी अभी आपका विवाह हुआ है। आपको कुछ समय तक गृहस्थी में रहना चाहिये। आप गृहस्थ होकर रहें और मैं आपका दास बन कर आपके साथ रहूँगा।'

जम्बूकुमार—भाई प्रभव ! शायद तुम जानते होंगे कि आत्मा अनादि काल से भोग भोग रहा है। अनादि काल से अब तक विषय भोगों का सेवन करने पर भी इस समय त्याग करना उतावल नही है। यह तो अत्यधिक विलम्ब है। आत्मा इतने जन्मों में भोगों से तृप्त नही हो पाया तो एक जीवन के कुछ वर्षों में कैसे तृप्त हो सकेगा ? फिर ज्यों-ज्यों आग में ईंधन डाला जाता है त्यों त्यों वह अधिक उग्र होती जाती है भोगों की अभिलाषा का भी यही हाल है। ज्यों-ज्यों भोग भोगे जाते है त्यों त्यो अभिलाषा बढती जाती है। ऐसी स्थिति में भोगों के पीछे कहां तक भागा जाय ? अतएव यही श्रेयस्कर है कि तृप्ति के लिए भोगों की अभिलाषा से ही बचा जाय। इसके अतिरिक्त सुख और शान्ति प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं है। यह उपाय मनुष्य भव में ही किया जा सकता है। अन्य भवों में न इतनी शक्ति ही प्राप्त होती है और न इस सत्य का अनुभव करने योग्य विवेक ही होता है। तुम कहते हो कि थोड़ी देर गृहस्थी मे रहकर फिर मुनि व्रत धारण करना। पर यह कौन जानता है कि इस जीवन का अन्त कब हो जायेगा ? जीवन पल भर मे विनष्ट हो सकता है।

अतएव जब हमें सद्बुद्धि सूझ गई हो और एक पवित्र भाव हृदय में लहरें मार रही हो तब विलम्ब करना किसी भी प्रकार बुद्धिमता नहीं है।

जो व्यक्ति इस बुद्धिमत्ता के मार्ग पर नहीं चलता, जो भविष्य के भरोसे बैठा रहता है वह अपने सामने आये हुए शुभ अवसर से लाभ नहीं उठा सकता और अन्त में अपने प्रमाद पर पश्चाताप करता है इस प्रकार विचार करते-करते न जाने कितने सुप्रसंग निकल गये है। प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मा ने अब तक जो दुःख सहन किये हैं उनका वर्णन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। यह जीव कभी नरक में उत्पन्न हुआ और वहां भयंकर से भयंकर असह्य यातनाएं सहन कीं। इसी प्रकार तिर्यञ्च गति में मूकभाव से महान् वेदनाओं का शिकार हुआ। फिर कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा जो इन सब आपत्तियों से छुटकारा पाने का सुयोग्य पाकर भी छुटकारे का प्रयत्न न करे?

और वैभव? वह तो अनन्त बार जीव को प्राप्त हो चुका है। वह दुःखों से आत्मा को नहीं बचा सकता एक कवि ठीक ही कहा है:—

अक्षय धन-परिपूर्ण खजाने शरण जीव की होते,
तो अनादि के धनी सभी इस भूतल पर ही होते।
पर न कारगर धन होता है बन्धु! मृत्यु की वेला,
राज पाट सब छोड़ चला जाता है जीव अकेला।

ऐसी दशा में वैभव का भरोसा करके बैठ रहना ठीक नहीं है। शहद के एक बूंद भर मीठास के मोह में मग्न होकर प्राणों को संकट में डालकर भविष्य को दुःख पूर्ण बना लेना मुझे हित कर

नहीं लगता। मैं मधु के उस लोभी की तरह अपना सत्यानाश नही करूंगा।

प्रभव—'कौन मधु का लोभी ? आप किसके विषय में कह रहे है कुमार !'

जम्बूकुमार सुनों, यह एक मनोरंजक और साथ ही शिक्षाप्रद कथा है। हस्तिनापुर नगर में धनपाल नामक एक सार्थवाह सेठ रहने थे। वह विदेशों में जाकर वाणिज्य-व्यवसाय किया करते थे। एक वार जब वह विदेश जाने लगे तो दूसरे लोगों को भी उन्होंने आमन्त्रण दिया। उनका आमन्त्रण पाकर उसी नगर का रहने वाला जयचन्द भी उन के साथ हो लिया। चलते-चलते सार्थवाह एक सघन वन में जा पहुँचा और वहीं पड़ाव डाल कर ठहर गया। जयचन्द के मन में न मालूम क्या धुन समाई की वह अपने साथियों से दूर जाकर एक ओर सो गया। रास्ते की थकावट के कारण उसे गहरी नींद आ गई। सार्थवाह को दूर सोने के कारण जयचन्द को ध्यान न आया और वह अपने साथियों को साथ लेकर चलता वना। जब सूर्यअस्त होने लगा तव जयचन्द की निद्रा टूटी। वह पड़ाव की तरफ भागा-भागा आया और पड़ाव को सूना देखकर अत्यन्त भयभीत हो गया उसकी घबराहट का पार न था। प्रथम तो अकेला था, दूसरा सन्ध्या का समय था—रात्रि होने वाली थी, तीसरे उसे रास्ते का पता न था और साथ में भोजन आदि का कुछ सामान न था! उसने चारों ओर नजर फैलाई पर शिवाय विशालकाय वृक्षों के और कुछ भी दिखाई न दिया। वह सोचने लगा—किधर जाऊं, क्या करूं ? अंधकार में चलने से पथभ्रष्ट हो जाने के संकट के अतिरिक्त हिंसक जन्तुओं

का भी खतरा था। अतएव उसी स्थान पर उसने रात काटने का निश्चय किया। भयानक सिंहों और व्याघ्रहों के चित्कार के बीच किसी प्रकार वह रात्रि व्यतीत हो गई प्रभात हुआ और वह एक ओर को चल दिया। रास्ते में एक जंगली हाथी उसे मिला और हाथी ने उसका पीछा किया। जयचन्द प्राण हथेली पर लेकर भागा और एक पेड़ की मजबूत-सी डाली पकड़ कर लटक रहा। पेड़ के नीचे एक भयंकर गहरा कूप था और उस कूप में विषैला सांप फन फैलाए फुसकार रहा था। सांप की भाव-भंगी से जान पड़ता था कि वह जयचन्द की प्रतीक्षा में है कि कब जयचन्द नीचे गिरे और कब उस पर अपनी विषाक्त दाढ़ों को आजमाऊं ! हाथी जयचन्द को पेड़ पर लटका देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हो रहा था और पेड़ के तने को अपनी बलवान और मोटी सूंड में लपेट कर पेड़ को उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा था दुर्भाग्य से जयन्द जिस शाखा के सहारे लटका हुआ था। उस शाखा को दो चूहे कुतर रहे थे। उसी पेड़ पर मधुमक्खियों का बड़ा-सा छत्ता लगा हुआ था। हाथी के धक्कों से पेड़ हिला तो मक्खियां चढ़ी और जयचन्द के शरीर से चिपट गईं। इस समय जय-चन्द चारों तरफ से घोर संकट में पड़ गया था। पेड़ के गिरने का डर था। पेड़ न भी गिरे तो चूहे उस डाली को काट डालेंगे और डाली टूटी कि सांप के शिकार बने। मधु मक्खियां अलग ही सारे शरीर में डंक मार रही थी। उस घोर यातना के समय जयचन्द को यदि कुछ सुख था तो केवल यही कि मक्खियों के छत्ते से कभी-कभी शहद की कोई बून्द नीचे टपक पड़ती थी और उसे जयचन्द मुंह फाड़ कर ग्रहण कर लेता था।

संयोगवश उधर से एक विद्याधर अपनी पत्नी के साथ निमान में वैठा जा रहा था। विद्याधरी ने जयचन्द का प्राण-संकट में देखा तो उसका हृदय द्रवित हो गया। करुणा से दिल भर आया। वह अपने पति से कहने लगी—प्राणनाथ! देखो वह वेचारा मनुष्य किस बुरी तरह चहुँमुखी विपदा में पड़ा हुआ है हम सहज ही उसके प्राणों की रक्षा कर सकते हैं। शीघ्रता कीजिए, अन्यथा उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।

विद्याधर ने कहा—प्रिये! जिस व्यक्ति पर इस तरह की विपदा आई हो उस व्यक्ति के बूंद चाटने की वात भी सूझ सकती है! देखो वह कितनी लोलुपता से छत्ते की ओर टकटकी लगा कर बूंद की प्रतिक्षा कर रहा है। उसकी लोलुपता को देखकर मुझे संदेह है कि शायद ही वह हमारी वात सुने।

विद्याधरी दया के अतिरेक से वोली--स्वामिन्! वह हमारी वात न सुनेगा तो आप भुगतेगा। हम तो अपना कर्त्तव्य पालन कर लें।

विद्याधरी की वात मान कर विद्याधर ने अपना विमान अयचन्द की ओर घुमाया। फेड़ के पास पहुँच कर उसने जयचन्द से कहा--'भाई तुम वड़ी मुसीवत में फंस गये हो। आओ, इस विमान में वैठकर अपने प्राण वचालो। तुम जहां कहोगे वहीं लेजाकर तुम्हें छोड़ देंगे।

जयचन्द वोला—आपका कृतज्ञ हूँ जरा ठहर जाइए, शहद का एक बूंद आ रहा है, उसे खाकर चलता हूँ।

विद्याधर ठहर रहा। शहद का बूंद आ गया। विद्याधर ने फिर चलने को कहा तो जयचन्द ने दूसरी बूंद खाने का समय

मांगा । इस प्रकार जब काफी देर हो गई और जयचन्द चलने के तैयार न हुआ तो निराश हो विद्याधर चल दिया ।

अन्त में यही परिणाम हुआ जो होना संभव था । चूहों ने डाली काट डाली । डाली कटते ही वह धड़ाम से कुएं में आ गिरा । उसके गिरते ही नागराज उस पर झपटा और अपने ती विष से उसका शरीर व्याप्त कर दिया । अन्त में जयचन्द शह की थोड़ी बूंदों के लोभ में पड़कर मरण-शरण हो गया ।

जम्बूकुमार फिर कहने लगे—'प्रभव ! मैं जयचन्द की भांति मूर्ख नहीं हूँ । प्रत्येक मनुष्य इस समय जयचन्द की अवस्था में विद्यमान है । इसे जरा स्पष्ट किये देता हूँ । सघन वन समान यह संसार है और सार्थवाह के समान जिनेन्द्र भगवा हैं । जो जिनेन्द्र भगवान् से दूर चला जाता है और प्रमाद रू निद्रा में मग्न हो जाता है उसे संसार रूपी गहन वन में भटक पड़ता है । कथा में जिस हाथी का वर्णन आया है उसे का समझना चाहिये । काल मनुष्य के पीछे-पीछे दौड़ रहा है औ उसका अन्त कर डालने के लिए कटिबद्ध है । कथा में नाग कुएं में फण फैलाए खड़ा है सो कुएं के स्थान पर नरक अ दुःख-प्रद गतियां हैं और वहां की दारुण वेदनाएं नागरा समान समझना चाहिए । जीवन रूपी वृक्ष है और उसकी शा अर्थात् आयु को दिन-रात रूपी दो चूहे कतर-कतर नष्ट कर हैं । मधुमक्खियों के समान कुटुम्बीजन हैं जो चारों ओर चिपट कर 'यह लाओ, वह लाओ, यह करो-वह करो' इत्य कहकर मनुष्य को कष्ट देते हैं । मधु-बिन्दु संसार के विषय सुख हैं ।

प्रभव ! तुम समझ सकते हो कि इस भयंकर दशा में क्षण भर का प्रमाद करना कितनी मूर्खता है ? यदि तुम जयचन्द को बुद्धिमान मानने को तैयार होओ तो मानवभव पाकर विषय-जन्य सुखों में लुभाने वाले बुद्धिमान् मान सकते हो। जयचन्द को यदि अविवेकी समझते हो तो हमें उसका अनुकरण न कर आत्म रक्षा के प्रयत्न में शीघ्र से शीघ्र लग जाना चाहिए।

प्रभव ! मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि मैं इन क्षणिक सुखों में मुग्ध न होकर सद्गुरु रूपी विद्याधर के धर्म विमान का आश्रय लूंगा। वह विमान मुझे यथेष्ट स्थानों पर अर्थात् मोक्ष में पहुँचायेगा, जहां जन्म-मरण की वेदना नहीं है, किसी प्रकार की कामना नहीं, कामना जन्य असतोष नहीं है, असंतोष जन्य अशान्ति नहीं है, अशान्ति जन्य परिताप नही है, परितापजन्य कर्म बध नहीं है, कर्मबन्ध-जन्य किसी प्रकार का कष्ट नहीं है।

प्रभव—'जम्बूकुमारजी ! आप से तर्क करके विजय पाना मुझ जैसे गंवार चोर के वश की बात नहीं है। आप अपनी बात बड़े अच्छे ढंग से, युक्ति और सरल उदाहरण के साथ पेश करते है। अपनी बात सांगोपांग जमाकर आप कह सकते है। आप का कथन सत्य से परिपूर्ण है। इसमें मुझे किंचित भी सन्देह नहीं रहा है। फिर भी इन रोती हुई नववधुओं का कुछ तो ख्याल करना चाहिए ! आपके माता-पिता भी अत्यन्त अधीर हो रहे है, यह भी मुझे मालूम हुआ है। समस्त कुटुम्ब में उदासीनता छाई हुई है। इस अवस्था में इनका त्याग कर देना मैं किसी भी प्रकार उचित नहीं समझता अतएव, कुमार ! एक बार फिर विचार कीजिये।'

जम्बू—प्रभव ! मैं तुम्हारी बात समझ गया हूँ। कुटुम्ब के संबंध में जो कहते हो उस पर मैंने गहरी तात्त्विक दृष्टि से विचार किया है। मैं तुमसे कह चुका हूँ कि आत्मा अनादि काल से जन्म और मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है। संसार में कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसके साथ प्रत्येक जीव का प्रत्येक प्रकार का सम्बन्ध न हो चुका हो। कहा भी है—

सब जीवों के सब जीवों से सब सम्बन्ध हुए हैं।
लोक-प्रदेश असंख्य जीव ने अगणित बार छुए हैं॥

अतएव जरासी उदार दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि कीड़ी से लेकर कुंजर तक, नारकी से लगाकर देवता तक प्रत्येक जीव हमारा संबंधी है, कुटुम्बी है, आत्मीय है। फिर सबके साथ नाता न जोड़ कर कुछ इने-गिने जीवों के साथ ही क्यों नाता जोड़ा जाय ? अपने कर्त्तव्य की मर्यादा छोटे-से दायरे में ही क्यों समाप्त कर दी जाय ? क्यों न इस विशाल विश्वभर में उसे फैलाया जाय ? मैं अपने कर्त्तव्य की मर्यादा अब विस्तृत करने जा रहा हूँ। अब तक जो स्नेह इने-गिने लोगों तक सीमित था उसे फैलाकर प्राणी मात्र पर समान रूप से विभक्त कर देना चाहता हूँ। 'सत्वेषु मैत्रीम्' को क्रियात्मक रूप देने के लिए तत्पर हो रहा हूँ।

संसार संबंधी जो क्षुद्र नाते हैं उनमें कोई वास्तविकता नहीं है। उनके बनने और बिगड़ने में क्षण भर भी नहीं लगता। कवि का यह वचन सर्वथा सत्य है—

एक जन्म की पुत्री मरकर है पत्नी बन जाती।
फिर आगामी भव में माता बनकर पैर पुजाती॥

पिता पुत्र के रूप जन्मता, वैरी बनता भाई।
पुत्र त्याग कर देह कभी बन जाता सगा जमाई॥

उल्लिखित काव्य में सांसारिक सम्बन्धों की अस्थिरता और असारता का वर्णन किया है और वह वर्णन जन्मान्तर को लक्ष्य कर के है। पर एक ही भव में, अठारह नाते तक होते है इसीलिए ऋषि-महर्षि संसार को असार कहते है। इस असारता से प्रेरित होकर वे संसार से उपरेति प्राप्त करते है।

प्रभव—कुमार एक जन्म में अठारह नाते होते है सो कैसे ?

अठारह नाते

जम्बूकुमार-सुनो ! मथुरा नगरी भारतवर्ष में विख्यात है। वह किसी समय अत्यन्त विशाल समृद्धि से परिपूर्ण और अनेक जाति के निवासियों से भरपूर थी। वहां के निवासी सुखी और प्रसन्न रहते थे। मथुरा नगरी की छटा सचमुच अनोखी थी और यमुना :के अविरल और अनवरत प्रवाह के कारण तो उसके सौन्दर्य में चार चांद ही लग गये थे। वहां दूर-दूर के व्यापारी व्यापार करने आया करते थे। कृषको और व्यापारियों को वहां अनेक सुविधाएं थी। वहां का व्यापार अत्यन्त उन्नत था।

मथुरा में एक ओर वेश्याओं का एक मोहल्ला था। उस मोहल्ले में कुवेर सेना नाम की वेश्या निवास करती थी। एक बार संयोगवशात् उसके युगल-सन्तन उत्पन्न हुई। उसमे एक लड़का था और एक लड़की थी। वेश्या का हृदय अत्यन्त निष्ठुर होता है। चेहरे पर जैसी उज्जवलता होती है। हृदय में उससे भी

अधिक मलिनता रहती है। निरन्तर पाप-पंक में पड़े रहने से हृदय की स्वाभाविक ध्वनि वन्द हो जाती है, मानवीय शुचिता नष्ट हो जाती है, विवेक विनष्ट हो जाता है, नीति और धर्म पास भी नहीं फटकने पाता। वह मायाचार की खान है, पतन की पराकाष्टा है शील का संहार करने वाली भयंकर ज्वाला है। पाप करते-करते वह इतनी निर्भीक हो जाती है कि वड़े से बड़े पाप और क्रूर से क्रूर कार्य करने में उसे हिचकिचाहट भी नहीं होती।

कुबेर सेना ने सोचा—सन्ताप के पालन-पोपण करने में वड़ी झंझट हो जायेगी। इस से राग-रंग में वाधा पडेगी और सन्तानवती समझ कर लोग मुझ से उपेक्षा करेंगे। अतएव किसी उपाय द्वारा सन्तानों से पिंड छुड़ा लेना ही हितकर है। इस प्रकार विचार कर उसने दोनों शिशुओं को सावधानी के साथ काठ की एक पेटी में वन्द कर यमुना नदी की धारा में वहा दिया। लड़के का नाम कुबेरदत्त और लड़की का नाम कुबेरदत्ता रक्खा गया था। दोनों के चेहरे पर सदृशता स्पष्ट दिखाई देती थी और साधारण नजर डालते ही यह मालूम हो सकता था कि यह दोनों किसी एक ही अभागिनी माता के उदर से उत्पन्न हुए हैं।

यमुना काठ की पेटी को अपनी छाती पर तैराती-तैराती सौरीपुर तक ले आई। सौरीपुर के एक घाट पर दो सेठ खड़े थे। उनकी नजर पेटी पर पड़ी तो उन्होंने पेटी में जो भी कुछ हो आधा-आधा बांट लेने का निश्चय करके मल्लाहों को अच्छा पारितोषिक देकर पेटी मांगने को भेज दिया। सेठों ने बड़ी उत्सुकता के साथ पेटी खोली और जब देखा तो विस्मय से आंखें फटी

लगे। पहले तो उन्हें यह ध्यान आया कि न जाने यह वालक-वालिका किस जाति के और किस वर्ण के होंगे ? हम लोग इन्हें ग्रहण करें या न करें ? मगर मानवीय दया के उद्रेक ने उन्हें ग्रहण करने को मजबूर कर दिया। सोचने लगे—इन नवजात शिशुओं की जात-पांत का विचार करना मूर्खता है। जाति तो इनकी स्पष्ट मालूम हो रही है-यह मनुष्य जाति के है। अथवा पचेन्द्रिय जाति के हैं। वाकी की अवान्तर जातियां तो मनुष्य-समाज के द्वारा कल्पित की गई है। उनमें कोई सच्चाई नहीं है। रही वर्ण की वात, सो अव तक इनका कोई वर्ण नहीं है आजाविका के साधनों के अनुसार वर्ण का विभाग होता है। इन वच्चों की आजीविका का कोई साधन नहीं है अतएत इन्हें अभी किसी वर्ण में नही गिना जा सकता। पल पुस कर जब बड़े हंगे तव जिस प्रकार की आजीविका को अपनाएंगे वही इनका वर्ण हो जायगा।

सभव है यह वालक अनुचित सम्बन्ध से उत्पन्न हुए होंगे। अन्यथा इनकी यह दुर्गति न होती। ऐसा होने पर भी वालक तो निर्दोप ही है। व्यभिचार का पाप व्यभिचारी को लगना चाहिए, न कि उससे होने वालों को। फिर भी जान पड़ता है इनकी माता अत्यन्त निष्ठुर-हृदया और पापिनी है, जिसमें इतना भी साहस नहीं है कि वह पाप करके उसका परिणाम भुगतने के लिए तैयार हो। जो हो, वालक सर्वथा निर्दोप और निष्पाप है और इनके जीवन की रक्षा करना हमारा धर्म है।'

इस प्रकार ऊहापोह करके सेठों ने एक दूसरे की सहमति से एक-एक वालक ले लिया और घर जाकर अपनी-अपनी पत्नि को सौंप दिया। सेठानियों ने प्रेमपूर्वक उनका लालन-पालन

किया। योग्य वय होने पर दोनों का आपस में विवाह कर दि
गया।

एक बार पति-पत्नी अर्थात् भाई-बहिन चौपड़ खेल रहे थे उन दोनों की दृष्टि अगूठी पर पड़ी तो देखा कि एक पर कुबेरद और दूसरी पर कुबेरदत्ता लिखा है। यह नाम पढ़कर उन्हें कु संशय उत्पन्न हुआ और चेहरे को गौर से देखा तो एक प्रका की सदृशता दिखाई दी। इससे वह संदेह और अधिक पुष्ट हो गया। दोनों एक दूसरे के सामने लज्जित हो गये और अपने अपने माता-पिता के पास जाकर वास्तविक बात क्या है—इ अंगूठियों का क्या इतिहास है, यह जानना चाहा। माता-पिता ने असली भेद छिपाना उचित न समझ कर उनका पूर्व इतिहास क सुनाया कि तुम दोनों एक ही पेटी में, यमुना की धारा में ब हुए पाये गये थे। औरस संतान की भांति स्नेह के साथ तुम्हारा पालन किया गया है और अब दोनों को विवाह बन्धन में बद्ध कर दिया है।

अपने शैशव काल का इतिहास सुनकर दोनों के सिर लज्जा से नीचे झुक गये। उन्हों को ऐसा जान पड़ने लगा मानों जमीन पैरों तले से खिसकी जा रही है वस्तुतः पहले जो कुछ घटित हो गया है उसका लेश मात्र भी उत्तरदायित्व उनके सिर न था, वे सर्वथा निर्दोष थे फिर भी संस्कारवश और भाई-बहिन का विवाह सम्बन्ध हो जाने के कारण वे अपने को धिक्कारने लगे। अब उन्हें निश्चय हो गया था कि वे आपस में भाई-बहिन हैं।

कुबेरदत्ता लज्जा का भार न संभाल सकने के कारण दी

ही वहां से चल दिया और घूमता-घूमता मथुरा आ पहुँचा। वहां जाकर उसने व्यापार आरम्भ कर दिया धीरे-धीरे कुसंगित में पड़ कर कुबेरसेन वेश्या के मोह में पड़ गया। वह जिस पाप के डर से बचने भागा था, सयोगवश उसी पाप में पड़ गया भाई-बहिन का कुसम्बन्ध छूटा तो माता और पुत्र में अनुचित एवं पापपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया।

कुबेरदत्ता वहां रहती रही पर उसका मन क्षोभ और आत्म-ग्लानि के कारण सदा उदास रहता था। वह ऐसी जान पड़ती मानों उसका सर्वस्व लुट गया है, उसकी पवित्रतम् सम्पदा का विनाश हो गया है या उसका नारीत्व कलंकित हो गया है। सौभाग्यवश कुबेरदत्ता एक वार एक मुनिराज के उपदेश में पहुँची। मुनिराज अत्यन्त क्रियानिष्ठ और दिव्य ज्ञानी थे। उनका प्रभावपूर्ण उपदेश सुन कर उसे एक प्रकार की सान्तवना-सी मिली। उपदेश जब समाप्त हो गया तो उसने मुनिराज के सामने लज्जायुक्त विनय के साथ प्रश्न किया—गुरुदेव! पूर्वभव में मैंने कौनसा अशुभ कर्म उपार्जन किया था, जिसके फल से हम भाई-बहिन का पती पत्नी के रूप में सम्बन्ध हो गया।

मुनिराज ने अपने दिव्य ज्ञान से जान कर कहा—बहिन! तुम दोनों पूर्व जन्म में पति-पत्नी के रूप में थे। मुनियों के तेजस्वी उपदेश को सुन कर तुमने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया था। पर तुम्हारी एक पड़ौसिन अत्यन्त दुश्शीला थी। उसने तुम्हारे पवित्र व्रत को भंग करने का प्रबल प्रयत्न किया! 'परलोक कुछ भी नहीं है जीव मर कर फिर जन्म नहीं लेता है। अतएव परलोक में सुख पाने की अभिलापा से इस जन्म के सुखों का परित्याग करना

निरी मूर्खता है। जो हाथ आये हुए सुखों को-प्रत्यक्ष के भोग-विलास को—छोड़ कर अप्रत्यक्ष-कल्पित सुखों की कामना करता है उससे बढ़ कर मूढ़ और कोई नहीं है। जीवन क्षणिक है, जवानी चार दिन की चांदनी है, जो कुछ आनन्द लूटना है, शीघ्र लूट लो।' इस प्रकार तुम्हें तरह-तरह से समझा-बुझा कर उसने तुम्हारी सद्बुद्धि पर पर्दा डाल दिया। तुम उसके चंगुल में फंस गई और अपने पावन शीलव्रत को भंग कर दिया।

पड़ोसिन अपने प्रबल पाप के उदय से मथुरा में कुबेरसेना नामक वेश्या हुई है और तुम दोनों उसकी कूंख से भाई-बहिन के रूप में उत्पन्न हुए हो। उसी पूर्व जन्म के पाप के परिपाक से भाई-बहिन हो करके भी तुम्हें पति-पत्नि का सम्बन्ध भोगना पड़ा।

बहिन! ली हुई प्रतिज्ञा को भंग करने से बड़ा पाप लगता है। प्रतिज्ञा भंग करना वमन किये हुए को फिर से खाने के समान अतीव निन्दनीय और गर्हणीय दोष है। प्रतिज्ञा लेते समय खूब विवेक और दीर्घ विचार से काम लेना चाहिए। क्षणिक उत्तेजना के वशीभूत होकर जो खूब समझे-बुझे बिना प्रतिज्ञा ले लेते हैं और कुछ दिनों बाद उसे भंग कर डालते हैं वे घोर पाप के भागी होते हैं। प्रतिज्ञा लेते समय अपनी शक्ति, आसपास का वातावरण, संयोग, द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव, आदि सब बातों का विचार कर लेना चाहिए। अन्तरंग से ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा ही स्थिर रहती है। किसी के दबाव में पड़ कर या लोक लाज में ऊपरी मन से प्रतिज्ञा लेना उचित नहीं है। फिर यदि प्रतिज्ञा ले ली हो तो प्राणों का उत्सर्ग करके, सर्वस्व का निछावर कर-पूर्ण दृढ़ता से उसका पालन करना चाहिए। तुमने ग्रहण की हुई

प्रतिज्ञा का परित्याग कर दिया और पाप-पंक में पड़ना स्वीकार किया इसी कारण इस जन्म में तुम्हें घोर लज्जा और दारूण मनोव्यथा का पात्र बनना पड़ा है।

एक जगह की बात है। एक बड़ा व्यापारी अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़ कर व्यापार करने के लिए विदेश चला गया। विदेश मे उसका व्यापार खूब चमका और विशेष लाभ होने लगा। अर्थ-लोलुपता के कारण वह वहीं टिक गया। इधर उसकी पत्नी ने एक कन्या को जन्म दिया। वह धीरे-धीरे १६ वर्ष की हो गई। अब उसके विवाह का समय सन्निकट आ गया। कन्या के भाई ने अपने पिता को पत्र लिखा कि बहिन विवाह के योग्य हो गई है, आप अब शीघ्र लौट आईए। व्यापरी ने लिखा—यहां आकर व्यापार में बुरी तरह फस गया हूँ। व्यापार धीरे-धीरे बहुत फैल गया है। अब उसे समेटने की कोशिश कर रहा हूँ। समेटते-समेटते तीन-चार वर्ष लग जाएंगे। इसके बाद मैं तुरन्त रवाना होकर पहुँचूंगा इस बीच मे यदि कोई सुयोग्य वर और घर मिल जाय तो ऐसा अवसर मत चूकना। लड़की का विवाह कर देना—मेरी प्रतीक्षा न करना।

सेठ का ऐसा उत्तर पाकर उसने पास के एक गांव में रहने वाले सुयोग्य नवयुवक के साथ अपनी बहिन का विवाह कर दिया। तीन-चार वर्ष के पश्चात् प्रचुर धन-सम्पत्ति साथ लेकर व्यापारी अपने देश में लौटा और रास्ते मे अपनी लड़की के ससुराल वाले गांव में विश्राम के लिए ठहर गया।

व्यापारी जिस धर्मशाला में ठहरा था उसी के पड़ौस में उसकी लड़की का ससुराल था। रात्रि का समय था। वह छत पर

सोने के लिए गया । धर्मशाला की छत और बेटी के मकान की छत मिली हुई थी। आसानी से इधर से उधर जाया-आया जा सकता था । लड़की अपने मकान की छत ही पर सो रही थी। रात्रि काफी व्यतीत हो चुकी थी । सब लोग निद्रा में मग्न हो गये थे । वह लड़की संयोगवश रात में लघुशंका के लिए उठी और उसके पैरों की आहट पाकर व्यापारी की नींद टूट गई ।

मनुष्य का मन पारे से भी अधिक चंचल होता है । अनुकूल संयोग मिलने पर वह मनुष्य को पतन के गहरे गड़हे में गिराये विना नहीं रहता । इसी कारण नीतिकारों ने कहा है:—

घृतकुम्भसमानारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतं च वह्निञ्च नैकत्र स्थापयेद् वुद्धः ॥

अर्थात् नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अंगार के समान है । अंगार का सामीप्य होने पर घी का घड़ा पिघल जाता है । अतएव बुद्धिमान पुरुष दोनों को एकत्र न रहने दे ।

मानव-स्वभाव की दुर्वलता को समझ कर शास्त्रकारों ने भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की इच्छा रखने वालों को अनेक उपयोगी नियम वताये हैं । इसलिए ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों का विधान किया गया है । जो पुण्यशील पुरुष उनका ध्यान रख कर आचरण करते है वे अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में समर्थ होते हैं । जो उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं । वे किसी समय मानसिक दुर्वलता के शिकार होकर अपने शील रूपी अनमोल रत्न को गंवाकर आत्मिक गुण रूपी सम्पत्ति से हाथ धो बैठते हैं । वे न इस लोक के रहते हैं, न पर लोक के रहते हैं । उनकी भीषण

गति होती है। वे इज्जत-आबरू बर्बाद करके लोक-निन्दा के
पात्र बनते हैं और आगामी भव में न जाने किन-किन आपदाओं
से घेरे जाते है।

एकान्त स्थान में, सुनसान रात्रि के समय नवयुवती स्त्री
को पाकर, व्यापारी का मन विकार--ग्रस्त हो गया। उसके हृदय
में पाप की कलुषित वृत्ति उत्पन्न हो गई। वह उठा और उस स्त्री
के समीप जा पहुँचा।

स्त्री का हृदय भी लोभ की तीव्र उत्तेजना से अभिभूत हो
गया। उस पापिनी ने शील रूपी अमूल्य और अलौकि
आभूषण की अपेक्षा, सेठ के गले की मोतियों की माला को
अधिक कीमती समझा! उसने जट माला पर अनमोल रत्न को
निछावर कर दिया। जो ऐश्वर्य रूपी महल पाप की नींव पर
ठहरा है, जो आभूषण आत्मिक आभूषण को गवा कर प्राप्त किया
गया है, उस ऐश्वर्य और आभूषण को धिक्कार है, कोटि--कोटि
धिक्कार है। लानत है ऐसी सम्पदा पर।

सचमुच आभूषण अनेकानेक अनर्थों के मूल है। स्त्रियों में
आभूषण के प्रति एक विचित्र ममता देखी जाती है। उन्हें शोचना
चाहिए कि वे किस लिए आभूवणों को इतना प्यार करती है?
अपने पति को आकृष्ट करने के लिए तो आभूषण पहने नहीं
जाते, क्योंकि घर से बाहर निकलने पर ही प्रायः स्त्रियां उन्हें
धारण करती हैं और घर में आकर उतार देती है। कुल-वधुओं
का धर्म यह भी नहीं कि वे पर पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट
करें तव आभूषणों से अलंकृत होने की आवश्यकता ही क्या है?
स्त्रियों का सच्चा आभूषण शील है।

प्रातःकाल होते ही व्यापारी अपने साथियों को लेकर वहां से चलता बना। चलते-चलते वह अपने गांव पहुँचा और जिसे गर्भ में छोड़ कर गया था उस लड़की से मिलने के लिए बुलवाया। बेटी जब घर आई और उसके गले में मोतियों की माला देखी तो व्यापारी की लज्जा का पार न रहा। उसे असह्य अन्तर्वेदना हुई। क्षोभ के कारण उसके अंतःकरण में आग-सी लग गई। उसे लगने लगा कि इसी समय धरती जाती और मैं उसमें समा जाता तो कितना अच्छा होता। अपने को बारम्बार धिक्कारने लगा। वह अपनी कुबुद्धि के लिए तीव्रतर पश्चाताप करने लगा। उसे पानी में डूब मरने की इच्छा हुई। वह सोचने लगा—यदि मैंने परस्त्रिगमन के त्याग का ग्रहण किया होता इस प्रकार के घोर अनर्थ का अवसर न आता। हाय ! मैं इस दुर्घटना से, इस अमिट कलंक से, इस गर्हणीय पाप से बच सकता था।

लड़की से भी यह बात छिपी न रही। उसे इतने जोर का धक्का लगा कि वह उसे सहन न कर सकी। अपनी मनोवेदना की उग्रता को सहन करना उसे असम्भव प्रतीत होने लगा। मारे लाज और दुःख के उसकी छाती फटने लगी और अन्त में उसने फांसी लगाकर अपने कलंकमय जीवन का अन्त कर दिया।

मुनिराज कुबेरदत्ता से फिर कहने लगे—बेटी ! कुशील के ऐसे-ऐसे भयंकर परिणाम होते हैं। जो लोग कुशील-सेवन का त्याग नहीं करते उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। अतएव प्रत्येक कल्याण की कामना रखने वाले को इस पाप का परित्याग करना चाहिए। भूतकाल में जो घटना घट चुकी है वह अब अघट तो

ो नहीं सकती । अतएव विवेकी जनों का यही कर्त्तव्य है कि वे ूतकाल के हुवे कार्यों की निन्दा करते हुए भविष्य को सुधारने ा प्रयत्न करें। आत्म कल्याण का यही उपाय है।"

मुनिराज का उपदेश सुनकर कुवेरदत्ता का मन संसार से :कदम विरक्त हो गया। संसार में उसे जरा भी आकर्षक दिखाई ा देता था। उसने संसार का परित्याग कर मुक्ति की साधना ्रने की ठान ली और दीक्षा धारण कर ली।

कुवेरदत्ता अब आर्यिका है। उसने अपनी पिछली भूलों का ारिमार्जन कर लिया है। दीक्षा लेने के बाद वह तीव्रतर तपश्चर्या ्रती है। ध्यान में मग्न रहती है। शास्त्रों के स्वाध्याय में अपना समय बिताती है! वह शास्त्र के आदेश से जरा भी विचलित नहीं ्ोती। सदैव ज्ञान-ध्यान के महान् कार्य करके आत्म-शुद्धि करने के प्रयत्न में लगी रहती है। उसकी तीव्र तपश्चर्या के कारण उसके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और उसे अवधि ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

अवधिज्ञान से इन्द्रियों और मन की सहायता के विना ही, रूपी पदार्थों का मर्यादित दूरी तक ज्ञान होने लगता है। कुवेरदत्ता को जब अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई तब उसका उपयोग अपने भाई की तरफ गया। उसने देखा- मेरा भाई- जो मेरा पति भी रह चुका है—मथुरा में मौजूद है और अब वह माता के साथ भोगोपभोग भोग रहा है। साध्वी कुवेरदत्ता ने अपने मन पर सतत अभ्यास के द्वारा अच्छी विजय प्राप्त कर ली थी, हृदय में उत्पन्न होने वाले क्रोध, लोभ, क्षोभ आदि विकारों को उसने शान्त कर दिया था, फिर भी वह महान् अनर्थ देखकर उसके

हृदय में एक गहरी चोट लगी। वह इस अनर्थ को टालने के लिए छटपटाने लगी। अपनी गुरुणी से आर्यिका कुवेरदत्ता ने मथुरा जाने की आज्ञा मांगी। आज्ञा मिलते ही उसने मथुरा नगरी की ओर विहार कर दिया। मथुरा पहुँच कर वह उस वेश्या के मोहल्ले में आई और कुवेरसेना के घर जा उससे उसके घर पर ठहरने की आज्ञा चाही। कुवेरसेना वेश्या कहने लगी– साध्वीजी! मेरा घर काफी विस्तृत है। आप यहां ठहरें तो मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। मगर आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं वेश्या हूँ। आपका और मेरा व्यवहार सर्वथा भिन्न प्रकार का है। कहां प्रकाश और कहां अन्धकार! कहां पूर्व कहां पश्चिम? सती साध्वी और वेश्या का संगम आंख के साथ तेज मिर्च के संगम के समान सुखद नहीं हो सकता। आप यह सोच लें, फिर भी आपकी इच्छा यहीं ठहरने की हो तो बड़ी खुशी के साथ ठहरें। मेरी आज्ञा है पर लोक व्यवहार का भी ध्यान रखना चाहिए। लोक की दृष्टि से आपका यहां ठहरना तो दूर रहा, खड़ा होना और मुझसे वार्तालाप करना भी उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त आप इस समय भले ही संयम में सुदृढ़ हैं परन्तु मन बड़ा चचल होता है। वह कब किस तरह फिसल पड़ता है, इसका ठिकाना नहीं। ऐसा न हो कि आपके संयम में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो जाय। यहां तरह तरह के लोग आते हैं। पाप और जघन्य वासना के कीटाणु पद-पद पर मौजूद है। विलास की कालिमा यहां सदैव छाई रहती है। कहीं उस कालिमा का कोई धब्बा आपको स्पर्श न कर जाय। आप मदिरा की मादक गंध से बेभान बन जाएं। वाता-

वरण का कोई झौंका अपने अन्तर तक पहुँच न जाए।"

साध्वी कुबेरदत्ता ने मन ही मन सोचा—मैंने अपने मन को सुमेरु के समान अचल-अटल बना दिया है। विलासिता की प्रबल वायु उसे डिगा नहीं सकती। मेरा मन आकाश की भांति निर्मल है। जैसे जघन्य से जघन्य कालिमा आकाश पर अपना रंग नहीं चढ़ा सकती उसी प्रकार पाप की कालिमा मेरे मन पर असर नहीं कर सकती। मेरी आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमयी है। जैसे सूर्य अन्धकार के द्वारा ढंका नहीं जा सकता प्रत्युत वह अन्धकार का विनाश करता है उसी प्रकार पाप का यह घोर अन्धकार मेरी आत्मा को आच्छादित न कर सकेगा बल्कि इससे इस पाप-तिमिर का ही विनाश होगा। इसके सिवाय मेरे यहां आगमन का उद्देश्य तभी सफल होगा जब कि मैं यहां ठहरूंगी।

इस प्रकार कुबेरदत्त आर्थिका ने सोच कर वेश्या से कहा-बहिन! मैंने सोच-समझ कर ही यहां ठहरने का निर्णय किया है। आप स्थान देने के लिए तैयार भी हैं। मुझे तो एक छोटी-सी कोठरी दे दीजिये। उसी में मेरा काम चल जायगा। मै यहीं ठहरना चाहती हूँ। मुझे अपने लिए किसी प्रकार का संशय नहीं है और जब हमारा हृदय निर्दोष है तब लोक निन्दा की चिन्ता करना निरर्थक है। दूसरे बुरा कहें, कहते रहें। हम में यदि बुराई नहीं तो हमें लज्जित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मै प्रसन्नता-पूर्वक आपके यहां ठहरना चाहती हूँ।'

साध्वी के निश्चय से वेश्या कुबेरसेना बड़े पशोपेश में पड़ गई। उसे साध्वी का साहस और तेज देख कर यह ख्याल होने लगा कि कहीं यह हमारे यहां ठहर कर मेरे लिए आफत न बन

बैठे। इसके कारण मेरी आजीविका को धक्का लगा तो अनर्थ हो जायगा। इसकी उपस्थिति से अनेक लोग जो समाज की नजरों में धर्मात्मा बने है और गुप्त रूप से मेरे चरणों की धूल चाटते हैं यहां आने में संकोच करेंगे। मगर इसे स्थान देने का वायदा कर चुकी हूँ। अब मना करने से न जाने क्या परिणाम होगा? यह सोच कर उसने साध्वी को न ठहरने देने की एक युक्ति निकाली। बोली—देखो साध्वीजी, मैंने आपके भले की बात कही है। आप एक बार फिर विचार करलें। यहां ठहरने से आपकी घोर निन्दा होगी। इसके अतिरिक्त एक बात और है। यदि आप यहां ठहरना ही चाहती हैं तो आपको मेरा छोटा लड़का खिलाना पड़ेगा। उसे संभालना भी पड़ेगा।

ऐसा करना यद्यपि शास्त्रीय आचार के विरुद्ध है, फिर भी एक भीषण अनर्थ को टालने और घोर पाप को नष्ट करने के पवित्र उद्देश्य को सामने रख कर, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का विचार कर साध्वीजी ने वेश्या की यह शर्त स्वीकार कर ली। विवश हो कर वेश्या ने चित्रशाला के पास में एक कोठरी साध्वीजी को बता दी। साध्वी उसमें ठहर गई और प्रतिदिन वेश्या के बालक को खेलाने लगी।

एक दिन कुबेरदत्त वेश्या के साथ चित्रशाला में घुसा और बाहर साध्वीजी बालक को रमा रही थी। बालक किसी बात पर मचल रहा था। वह चिल्ला कर रोने लगा। बालक के रोने की आवाज वेश्या ने सुनी तो वह साध्वीजी से कहने लगी।—अरी तपस्विन! मुफ्त में तुझे यहां ठहरा रक्खा है और तुझ से एक छोटा-सा बालक भी नहीं संभलता? अच्छी तरह उसे संभाल।

देख, वालक रोवे नहीं। कोई लोरी गा जिससे वह सो जाए।

वेश्या की फटकार सुन कर साध्वीजी वालक को गाकर सुलाने का प्रयत्न करने लगी। हां, वह जागते हुए बालक को सुलाने की कोशिश कर रही थी और साथ ही मोह-निद्रा में सोते हुए उसके माता-पिता को जगाने का प्रयत्न कर रही थी। लोरी के वहाने साध्वीजी ने अठारह नाते का गीत गाना शुरु किया। साध्वी के स्वर में एक प्रकार का आकर्षण था। अतः कुवेरसेना और कुवेरदत्त का ध्यान उसी गीत की ओर खिंचा। उन्होंने जो गीत सुना उसका आशय इस प्रकार था।

'वालक ! तू रो मत, सो जा एक नाते तू मेरा भाई है, क्योंकि तेरी और मेरी माता एक है। अतः 'जामण जाया वीर' रोवे मती रे लाल ! दूसरे नाते से तू मेरा देवर है क्योंकि तू मेरे पति का छोटा भाई है। तीसरे नाते से तू मेरा लड़का है क्योंकि कुवेरसेना मेरी सौत है और तू उसका लड़का है। चौथे नाते अपने भूआ-भतीजे है क्योंकि तेरा पिता मेरा भाई है। पांचवें नाते मै तेरी दादी हूँ और तू मेरा पोता है, क्योंकि तेरा पिता कुवेरसेना का वेटा है और मै उसकी सौत हूँ। उसका लड़का मेरा भी (सौतका) लड़का है, और तू लड़के का लड़का है छठे नाते तू मेरा काका है, मै तेरी भतीजी हूँ क्योंकि कुवेरसेना का पति होने के कारण कुवेरदत्त मेरा पिता है और तू उसका छोटा भाई है।

साध्वी कुवेरदत्ता का यह विचित्र गीत सुन कर कुवेरदत्त भड़क उठा। वह आग-ववूला होकर वाहर आया और कहने लगा—'साध्वी ! तू वड़ी वनी हुई जान पड़ती है। इस वालक के

साथ देवर—भौजाई और भूआ—भतीजे के क्या सम्बन्ध जोड़ रही है ? तेरी यह हिम्मत ?'

साध्वी ने कहा—इतना क्रोध करने से क्या लाभ है ? जो बात कहनी है वह बिना क्रोध किये भी कही जा सकती है। मैं बालक से जो कह रही हूँ उसमें असत्य क्या है ? साध्वी कभी असत्य भाषण नहीं करती, यह तुम्हें मालूम है या नहीं ?

कुवेरदत्त—अगर साध्वियां तेरे जैसी ही होती हैं तो कहना चाहिए—भगवान् उनसे बचावे ! अन्टसन्ट बिना सिर पैर के बक रही है फिर भी यह दावा करती है कि मैं साध्वी हूँ और इस लिए सत्य बोल रही हूँ !

साध्वी—अगर तुम कोई बात भूल जाओ और वह बात मुझे याद रहे और उसे मैं सुनाऊ तो क्या वह इसीलिए असत्य हो जायगी कि तुम्हें उसका स्मरण नहीं ?

कुवेरदत्त—मैंने तुझे पहले कभी देखा तक नहीं है। कौन-सी बात मैं भूल गया और तुझे याद रह गई ? पहले सी क्यों बुझाती है ? साफ-साफ क्यों नहीं कहती ?

साध्वी—बस यही तो कहती हूँ कि तुम हरेक बात भूले जाते हो और मुझे झूठी बनाते हो। मुझे पहले कभी देखा है, यह भी तुम्हें याद नहीं है। तुम कैसे भुलक्कड़ स्वभाव के हो ?

कुवेरदत्त—साध्वी, तू क्या जाल फैला रही है ? तेरा मेरा क्या नाता ?

साध्वी—नाते की पूछते हो ? जैसे इस बालक के साथ मेरे छह नाते हैं उसी प्रकार तुम्हारे साथ भी मेरे एक-दो नहीं छह नाते हैं। कहो तो गिनाऊं ?

कुवेरदत्त— भला बता तो सही तू मेरी कहां की नातेदारिन आई है?

साध्वी—सुनो-तुम मेरे भाई हो क्योंकि कुवेरसेना वेश्या तुम्हारी और हमारी दोनों की माता है, हमदोनों ने इसी के उदर से जन्म लिया है। दूसरे नाते तुम मेरे पिता हो क्योंकि मेरी माता कुवेरसेना के तुम पति बने हुए हो। तीसरी नाते तुम मेरे पतिदेव हो, क्योंकि सौरीपुरी में तुम्हारे साथ मेरा पाणिग्रहण हुआ था। चौथे नाते तुम मेरे पुत्र हो क्योंकि कुवेरसेना और मै सौत है और तुम उसके पुत्र हो इसलिये मेरे भी पुत्र हो। पांचवे नाते तुम मेरे दादा हो क्योंकि यह वालक मेरा काका है और तुम इसके पिता हो। छठे नाते तुम मेरे श्वसुर हो क्योंकि मैं कुवेरसेना के वेटे की पत्नी हूँ।

इतना सुनना था कि वेश्या के शरीर में एडी से चोटी तक आग लग गई! मारे क्रोध के वह कांपने लगी। उसके होठ फड़कने लगे और आंखें आग उगलने लगीं। वह वोली- जा, हट रांड कहीं की! साध्वी का भेप वना कर मेरा सत्यानाश करने आई है ? निरलज्ज बातें वकते हुए तुझे लाज नही आती! साध्वी के भेप को कलंकित करने चली है। सच्ची साध्वी होती तो यहां वेश्या के घर क्यों डेरा डालती ? तू जरूर कोई धूर्त औरत है। अभी-अभी इसी वक्त मेरे घर से वाहर निकल जा, नहीं तो चोटी पकड़ कर घसीटूंगी।

कुवेरदत्ता सब कुछ सेन करने को तैयार होकर आई थी। वेश्या के वचन रूपी अगारों से उसके चित्त में जरा भी तेजी न आई। वह अत्यन्त शान्ति के साथ कहने लगी—कुवेरसेना! से

अभी तुम्हारे यहां से चली जाती हूँ। न जाऊं तो तुम्हें चो॰ पकड़ कर बाहर निकाल देने का अधिकार है। पर तुम्हारे स॰ भी तो मेरे छह नाते हैं। उन्हें क्या तुम नहीं सुनोगी ?

पहले नाते में तुम मेरी माता हो। एक दिन तुम्हारे उद॰ से ही मैंने जन्म लिया था। तुमने पेटी में बन्द करके यमुना की धारा में बहा दिया था। मैं वही तो हूँ। बहुत बड़ी हो गई हूँ इस॰ कारण तुम मुझे भूल गई हो।

दूसरे नाते तुम मेरी भोजाई हो और मैं तुम्हारी ननद हूँ क्योंकि मेरे सहोदर भाई कुवेरदत्त की तुम पत्नी बन रही हो।

तीसरे नाते तुम मेरी दादी हो, क्योंकि कुवेरदत्त मेरा पिता है और तुम उसकी माता हो।

चौथे नाते तुम मेरी सासूजी हो, क्योंकि कुवेरदत्त तुम्हारा पुत्र है और मैं उसकी विवाहिता पत्नी हूँ।

पांचवें नाते मैं तुम्हारी सासू हूँ, क्योंकि कुवेरदत्त मेरी सौत का बेटा है और तुम उसकी स्त्री हो।

छठे नाते तुम मेरी सौत हो, क्योंकि तुम्हारा और मेरा पति एक (कुवेरदत्त) ही है।

एक नाते वाला जब घर आता है तब उसका बड़ा आदर सत्कार किया जाता है। मैं तो यहां के तीन प्राणियों से छह-छह नाते धराती हूँ, इस प्रकार अठारह नाते हैं फिर भी मेरी चोटी पकड़ कर मुझे बाहर निकाल रही हो।

अच्छा मैं अब जाती हूँ। तुम्हें यदि मेरे वचन अप्रिय लगे हों तो क्षमा करना। मेरे हृदय में किसी प्रकार का कषाय नहीं है।

कुबेरसेना साध्वीजी की बात सुन कर दंग रह गई। उसे तीत की स्मृति हो आई। अपने कुकृत्य पर वह लजाने लगी र घृणा के मारे मरी जाने लगी। अपनी दुर्बुद्धि को कोसती ई कहने लगी-'भगवती! आपने हमारे नेत्र खोल दिये हैं। मेरे र पर घोरतर पापों का पहाड़ लदा हुआ है उसके बोझ को हन करने की मुझ में शक्ति नहीं रह गई है। अनजान में आपके ते अत्यन्त अभद्र व्यवहार हो गया है, उसके लिए क्षमा करें र इन महान् पापों का प्रतिकार किस तरह होगा, वह भी कृपा र बता दीजिए।'

ाध्वीजी कहने लगीं—पूर्व कृत अशुभ कर्मों को बिना भोगे टकारा नहीं मिल सकता। मनुष्य इतना जरूर कर सकता है सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर उन पापों की पुनरावृत्ति न होने दे र तीव्र तपश्चर्या आदि साधनों से पूर्वोपार्जित कर्मों को शीघ्र शीघ्र निर्जीर्ण कर दे। इसलिए अब यह अनाचार बन्द कर । भविष्य को सुधारने का प्रयत्न करो। भोगविलासों को विष समान समझ कर उनका त्याग करो। स्मरण रखना, यह मानव विन अमूल्य वस्तु है। अत्यन्त दुर्लभ है। न जाने कितने कितने रकी-पशु-पक्षियों के भव भुगतने के बाद प्रबलतर पुण्य के ग से इस अनमोल चिन्तामणि की प्राप्ति होती है। इसे वृथा न ने दो। अब भी समय है। शीघ्र सावधान हो जाओ। जीवन जो बहुमूल्य क्षण अभी अवशेष हैं उन्हें सार्थक करो। आत्मा कल्याण में प्रवृत्त हो जाओ।

साध्वीजी की यह पवित्र वाणी सुनी तो कुबेरदत्त और बेरसेना को बहुत कुछ आश्वासन मिला। इन वाक्यों का उनके

हृदयों पर जादू का-सा प्रभाव पड़ा। वेश्या और कुबेरदत्त के
ने मानों नवजीवन धारण कर लिया। दोनों आत्म कल्याण
तत्पर हो गये।

जैन धर्म पतित-पावन और दीनजनोद्धारक धर्म है। इ
पतित से पतित प्राणियों को भी अभ्युदय का मगलमय
प्रदर्शित करता है। धर्म शब्द का अर्थ है—दुर्गति और दुख
में पड़े हुए जीवों को सद्गति और सद्वस्था में धारण
वाला जैन धर्म में यह शब्दार्थ पूर्ण रूप से घटित होता
जैन धर्म स्वभावतः उन्नति की ओर प्रेरित करता है। इतर
परमात्मा को भी आत्मा बनाने में अपनी कृतार्थता समझ
वे नारायण को नर बनाते हैं, तब जैन धर्म आत्मा को
बनाता है, नर को नारायण के उच्च पद पर प्रतिष्ठित
है। जैन धर्म की यह महत्वपूर्ण विशेषता है।

संसार में उन्नति-अवनति का चक्र सदैव चलता
है। जो आज उन्नत अवस्था में है वही कल अवनति के
गर्त में गिर पड़ता है। इसी प्रकार अवनति के पाताल से
के स्वर्ग में पहुँच जाता है। जैसे प्रकाश के पश्चात् अन्ध
अन्धकार के अनन्तर प्रकाश फैलता है उसी प्रकार
भी सदा एक अवस्था में नहीं रहता। प्रकृति का यह
प्राणी मात्र को लागू होता है। इस नियम से केवल वे
बच पाते हैं जिन्होंने प्रकृति पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त
है। जो विकास की चरम सीमा को पहुँच चुके हैं और
पर कोई भी संसार का नियम लागू नहीं होता।

कुबेरसेना और कुबेरदत्त की आत्मा का घोर पत

चुका था पर साध्वी कुबेरदत्ता का सद्बोध उन्हें प्राप्त हो गया। और उसके फलस्वरूप वे कल्याण मार्ग में प्रवृत्त हो गये। साध्वी कुबेरदत्ता अपनी गुरुणी के समीप पहुँच गई और प्रबोध के लिए शास्त्रीय विधान का जितना उल्लंघन करना पड़ा था, उसका आलोचन-प्रति क्रमण करके यथोचित प्रायश्चित लेकर, आत्मशुद्धि के कार्य मे पहले की तरह तल्लीन हो गई।

जम्बूकुमार ने अपना कथन चालू रखते हुए कहा—प्रभव! अब तुम समझ गये हो कि सांसारिक नातेदारी का क्या हाल है और उसमे कितना तथ्य है? मै पहले ही कह चुका हूँ कि संसार मे सब जीवों के सब जीवों से सम्बन्ध हो चुका है। इस अवस्था में अन्य समस्त प्राणियों को छोड़कर इने गिने प्राणियों के साथ ही क्यों नातेदारी रक्खी जाय? पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति काय तथा दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रि, चतुरिन्द्रिय आदि अन्य प्राणियों के साथ क्यो न नाता जोड़ा जाय? थोड़े-से प्राणियों के सुख और संतोष के लिए इन अनन्त प्राणियों के साथ जो इन्हीं की भांति किसी समय के सम्बन्धी है—क्यो द्रोह करना चाहिए? हमारा कर्त्तव्य है कि उनके साथ भी सम्बन्ध स्थिर रखा जाय और उन्हे किसी प्रकार से कष्ट न देना ही उनके साथ सम्बन्ध स्थिर रखना है। यह बात साधु-अवस्था प्राप्त हो जाने पर ही हो सकती है। अतएव विवेकशील पुरुष को शीघ्र से शीघ्र साधु वृत्ति धारण करनी चाहिए। साधु ही प्राणी मात्र के प्रति बन्धुभाव रख सकता है, क्योंकि वह षट्काय का रक्षक होता है, किसी भी कार्य का आरम्भ—समारम्भ नहीं करता। मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को लेशमात्र भी कष्ट न पहुँचे

इसी पवित्र भावना को क्रियात्मक रूप देने के लिए मैं दीक्षा अंगीकार कर रहा हूँ।

प्रभव ! संसार में वस्तुतः कोई किसी का सहायक नहीं होता। सब स्वार्थ के सगे हैं। प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने शुभाशुभ कर्म अकेले ही भोगने पड़ते हैं—उनमें हिस्सा बांटने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। एक कवि ने क्या ही करारा व्यंग किया है—

थोड़ी-थोड़ी बांट दे, प्रबल रोग की पीर।
आस पास में जो खड़ी, सगे जनों की भीर॥

उसी ने फिर कहा है—

सूने और गहन वन में, जब सिंह हिरन को पाता।
तब उसकी रक्षा करने को कौन सामने आता॥
इसी भांति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचावे भू पर।
यदि अपनी थोड़ी-सी आयु हम औरों को देवें,
तो कुछ काल उन्हें दुनियां में हम जीवित रख लेवें।
किन्तु आयु का लेना देना कब किसने देखा है।
आयु कर्म की है ज्ञानी ! यह प्रबल अमिट रेखा है॥

भाई प्रभव ! इस प्रकार न तो कोई कुटुम्बी हमारे दुःख में हिस्सा ले सकता है और न हमें काल के झपट्टे से बचा सकता है। ऐसी अवस्था में अपने रक्षण के लिए स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए।

प्रभव की विरक्ति

जम्बूकुमार का यह विस्तृत और उदाहरण-पूर्ण कथन सुनकर प्रभव के आन्तरिक नेत्र खुल गये। उसे अपूर्व ज्ञान मिला। जिन बातों पर उसने अपने जीवन में कभी ध्यान

नहीं दिया था, वही बातें वास्तव में मानव-जीवन को जघन्य से धन्य बनाती है ऐसा विचार करके वह अपने-आपको अत्यन्त भाग्यशाली समझने लगा। उसने सोचा—मैं जम्बूकुमार के घर सम्पत्ति लेने आया था, सो सचमुच मुझे आज यहां ऐसी सम्पत्ति मिली है जिसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। यह ऐसी सम्पत्ति है जिसे पाकर मैं निहाल हो गया हूँ। अब मुझे प्रतीत होता है कि तीन लोक की सारी सम्पदा मेरे :कब्जे में आ गई है। मैं दुर्बुद्धि की प्रेरणा से यहां आया था पर कौन जानता था कि यह दुर्बुद्धि ही मेरे कल्याण का मार्ग मुझे सुझाएगी ? यहां आते ही मेरे मंगल का द्वार खुल गया है। मैं जम्बूकुमार से एक विद्या-चिपकाने की-सीखने आया था पर उन्होंने ससार से अलग होने की विद्या सिखा दी है। इस विद्या को सीखकर आज मैं धन्य हो गया हूँ। आज मेरी चोरी करना भी सार्थक हो गया। न यहां चोरी करने आता और न ज्ञान का यह अपूर्व प्रकाश मिल पाता।'

बाप और बेटा

इस प्रकार मन ही मन सोचते हुए वह जम्बूकुमार से कहने लगा—कुमार ! आपका कथन मुझे अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुआ है। उसमें सत्य है, हितकरता है, सभी कुछ है। मगर शास्त्र कहता है कि—

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।"

अर्थात् जो पुत्र हीन हो कर मरता है उसे शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती।

यह कथन सत्य है तो आप पुत्र हीन होते हुए भी दीक्षा ग्रहण करने को क्यों तत्पर हो रहे हैं ? एक पुत्र उत्पन्न हो जाने के बाद आप दीक्षा धारण करें तो अच्छा होगा। इससे आपकी सद्गति होगी, आपकी पत्नियों को तथा माता-पिता को आश्वासन मिलेगा और शास्त्र के आदेश का भी पालन हो जायगा।

जम्बूकुमार—प्रभव ! तुझे इतना समझाया फिर भी तेरी समझ में न आया ? जो जैसे शुभ या अशुभ कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। न तो पुत्र, पिता को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुँचा सकता है। और न पिता, पुत्र को सुगति में ले जा सकता है। यदि दूसरों के किसी कृत्य से दूसरे को फल प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म निरर्थक-निष्फल हो जायगा।

जिस वाक्यों को तुमने अभी प्रमाण रूप में उपस्थित किया है उस पर थोड़ा और विचार करो। पुत्र की प्राप्ति सम्भोग के बिना नहीं होती। स्त्री के साथ पुरुष के सगम होने से ही पुत्र उत्पन्न हो सकता है। जहां सगम है वहां ब्रह्मचर्य भंग होना अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य परम धर्म है। शास्त्र में कहा—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।

अर्थात्—समस्त तपों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है।

जो उत्तम तप है, परम धर्म है उसका खण्डन करने से पुण्य नहीं पाप ही हो सकता है। अतएव जो शास्त्र पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देता है अर्थात् बिना पुत्र के सद्गति होने का निषेध करता है वह पाप का उपदेश करता है। ऐसे पापदेशक वाक्य को शास्त्र नहीं कहना चाहिये। सच्चा शास्त्र वह है जिसका

वाक्य पाप-मार्ग का विरोधी हो, जो युक्ति और अनुमान के द्वारा खण्डित न हो सकता हो प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला हो, और सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के वचनों का अनुसरण करता हो। कहा भी है—

आप्तोपज्ञ मनुल्लंध्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तात्त्वपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कायथघट्टनम्॥

इसका भाव वही है जो ऊपर कहा जा चुका है अर्थात् आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत, तर्क द्वारा खण्डित न होने वाला, प्रत्यक्ष-अनुभाव प्रमाणों से अविरुद्ध, यथार्थ वस्तु का प्रतिपादन करने वाला, प्राणी मात्र का कल्याणकारी और कुमार्ग का नाशक वाक्य ही सास्त्र कहलाता है।

तुमने जो कहा है वह वाक्य युक्ति से विरुद्ध पड़ता है, उससे विषय भोग को प्रोत्साहन मिलता है, वह यथार्थ वस्तु का प्रतिपादक नहीं है, अतः वह शास्त्र शास्त्र नहीं है।

यदि पुत्र के विना सद्गति प्राप्त न होती तो वडे-वडे ऋषि-महर्षि और अनेक तीर्थंकर भगवान् क्यों कुमार अवस्था में दीक्षा धारण करने ? अतएव प्रभव ! इस भ्रम को दूर कर दो। आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने वाले महापुरुष को सद्गति प्राप्त न हो और विषय भोग भोग कर पुत्र को उत्पन्न करने वाले सुगति पाएं, इस वात को भला कौन वुद्धिशाली स्वीकार करेगा।

वेटे ने अपने वाप की किस प्रकार सद्गति की, सो ध्यान देकर सुनो:—

विजयपुर की घटना है। वहां महिपदत्त नामक एक व्यापारी रहता था। उसका पिता वृद्धावस्था की अंतिम सीमा पर जा पहुँचा था। पिता एक वार अस्वस्थ हुआ और उसका अन्तिम समय आ

उपस्थित हुआ। पुत्र ने उससे कहा—'पिताजी! अब आप
अन्तिम समय उपस्थित है। मैं विवश हूँ। किसी भी प्रकार आ
की सेवा नहीं कर सकता। आप अब सब प्रकार की मोह-ममता
का त्याग कर दीजिये। पीछे के लिए किसी प्रकार की चिन्ता न
कीजिए। आपके पुण्य-प्रताप से घर में सब कुछ है। मुझे
किसी प्रकार का कष्ट न होगा। आपके हृदय में यदि कुछ अभि-
लाषा हो, दान-पुण्य करने की इच्छा हो तो मुझे आज्ञा दें कि
मैं आपकी आज्ञा का सहर्ष पालन करूंगा।

अपने विनीत पुत्र का कथन सुनकर पिता कहने लगा—मुझे
तुम्हारे ऊपर पूरा भरोसा है। तुम योग्य लड़के हो। कुल की
मर्यादा बनाए रखना। अन्त में मेरी एक ही अभिलाषा है। वह यह
कि मेरी मृत्यु तिथि पर प्रति वर्ष श्राद्ध आवश्य करना और एक
भैंसे का बलिदान करना। इससे परलोक में मुझे शान्ति और
तृप्ति होगी।

बेटे ने अपने मरणासन्न पिता की कामना को पूर्ण करने
का आश्वासन दिया। कहा- पिताजी, आपकी आज्ञा अवश्य
पालूंगा। नियत तिथि पर भैंसे की बलि चढ़ा कर स्वजन-परिजन
और जाति भाईयों को जिमाऊंगा।

वह कुटुम्ब मांसाहारी था, अतएव भैंसे की बलि देना
स्वीकार करना उनके लिए साधारण-सी बात थी।

पर बहुत कुछ सोच विचार करने पर भी यह समझ
नहीं आ सका कि लोग मांस भक्षण क्यों करते हैं। हम जिस
शरीर की रक्षा के लिए संसार के सब अनर्थ तक कर डालने को
उतारु हो जाते जिन प्राणों के लिए स्वर्ग के सुखों को भी ला

मार कर ठुकरा देते हैं, फिर भी अपने शरीर और प्राणों को बचाते हैं, दूसरे प्राणी का वही अतीव प्रिय शरीर भक्षण कर डालना कितनी निर्दयता है ? कितनी क्रूरता है ? इस नृशंशता की कोई सीमा है ? हमें पैर में कांटा चुभता है तो हाय हाय करने लगते है ? और जीभ की क्षण भर की तृप्ति के लिए बेचारे दीन-हीन निर्दोप और निरपराध जीवों की गर्दन पर छुरी चलवाते हैं ! यह घोर पाप करने वाले जिह्वा लोलुप लोग कितने कठोर हृदय के हैं ?

संसार के सभी धर्मग्रन्थ मांसभक्षण के निपेध को मनुष्य का आदर्श कर्त्तव्य बतलाते हैं। सभी अहिसा और जीवदया का समर्थन करते हैं। फिर भी मूक पशुओं के प्राणों का संहार करना उनके कलेवर से अपनी काया को पुष्ट करना, मनुष्यता की सीमा से परे है। यह मानवीय वृत्ति नहीं है, घोर पैशाचिकता है, राक्षसी पन है। मांसभक्षी मनुष्य का उदर मुर्दाघर के समान है और उसके हृदय में मनष्योचित दया क्षमा विवेक आदि सद्गुण नहीं टिक सकते। जो मांसभोज है उन्हें विचारना चाहिए कि दूसरे उन्हें मार कर खा जाएं तो क्या उन्हें यह रुचिकर होगा ? यदि नहीं होगा तो दूसरे प्राणी को मार कर खाने का उन्हें क्या अधिकार है ? क्या पशुओं में चैतन्य नहीं है ? उन्हें सुख दुःख का वेदन नहीं होता ? फिर एक क्षण भर के लोलुपता के लिए सदा को किसी प्राणी के शरीर का अन्त कर डालना क्या न्याय संगत है ?

अलबत्ता कुछ लोलुप लोगों ने पितर आदि के तृप्त करने के बहाने मांस-भक्षण का प्रचार किया है, किन्तु यह मान्यता स्पष्ट रूप से घोर नास्तिकता से परिपूर्ण है। जो लोग यह

समझते हैं कि पितरों को पशुओं का मांस खिलाने से उन्हें तृ होती है वे पाप पुण्य, सुकृत-दुष्कृत या स्वर्ग-नरक की वास्त विकता को एक प्रकार से अस्वीकार करते हैं। यदि पुत्र द्वारा श्राद्ध करने से पितरों को सुख-शांति प्राप्त हो सकती तो उनका स्वयं का किया हुआ पुण्य पाप निरर्थक हो जायगा सत्य तो यह है कि सब मृतात्मा बहुत शीघ्र पुनर्जन्म धार कर लेते हैं, उन्हें नवीन शरीर प्राप्त हो जाता है और उस शरी में रहकर अपने किए हुए कर्मों के अनुसार वे सुख दुःख भोगते हैं पुत्र का किया हुआ कोई भी शुभ या अशुभ कार्य उनके सुख दु में रंच मात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकता। श्राद्ध की प्र भोजनभट्ट लोगों ने चलाकर जनता को भ्रम में डाला है। अ खूब ठूंस ठूंस कर खाते हैं, स्वयं ही तृप्त होते हुए प्रत्यक्ष दे जाते हैं फिर भी कहते हैं कि तृप्ति पितरों को होती है। भो धर्मान्ध जनता इस साफ धोखे को भी नहीं समझ सकती, दुःख की बात है।

हमारा यह आशय नहीं कि हम किसी को जिमाने का नि कर रहे हैं। गृहस्थ के लिए आहारदान देना उचित समझा गय है फिर भी जिमाने में जो मूढ़ता घुसी हुई है उस मूढ़ता का नि करना चाहिए। श्राद्ध की प्रथा एक भयंकर मूढ़ता है, उससे सम तत्त्व में बाधा पड़ती है, अतएव उस प्रथा के निषेध में ही जन का कल्याण है। यही नहीं, श्राद्ध की प्रथा मांस-भक्षण के प्रचार सहायक ही होती है इसलिए भी उसका निराकरण होना चाहिए

मांस रक्त से बनता है। रक्त को बहता देख कर म

मार कर कमर तोड़ दी है। यही, नहीं जिसका तू ने अपने हाथों से वध किया था, उसी जानी दुश्मन—जार—को पुत्र के रूप में पाकर अपने को निहाल समझता है! हाय! कैसी रिश्तेदारी है? माता-पिता का वध और ताड़न तथा दुश्मन का इस प्रकार लालन? अविवेकी जीव! इस अनर्थ की कहीं सीमा है?

महिपदत्त योगी की बात सुन कर चोंक उठा। बोला-योगी जन सर्वथा निस्पृह होते हैं। उन्हें असत्य भाषण से कोई प्रयोजन नहीं होता। पर आप मुझे नीचा दिखाने के लिए असत्य क्यों बोल रहे है? मैने आपका क्या विगाड़ा है?

योगी—महिपदत्त! मै असत्य भाषण नहीं कर रहा हूँ। मेरा कथन सर्वथा सत्य है। प्रमाण देने की आवश्यकता हो तो बताओ—तुम्हारे पिता ने मरते समय पाड़ा मार कर श्राद्द करने का आदेश दिया था या नहीं? अपनी भावना के अनुसार वह स्वयं ही पाड़ा हुआ है। और बताऊं? पर रहने दो। इससे तुम्हारी अप्रतिष्ठा होगी। फिर भी बताये देता हूँ कि तुम्हारे प्रेम का प्रतिद्वन्दी पुरुष, जो तुम्हारे ही हाथों यमलोक पहुँचा था, वही यह बालक है। कुतिया तुम्हारी माता ही है। विश्वास न हो तो जाकर देख लो। जहां वह बैठती है वहां खोद कर देखना। मोहरों से भरा हुआ घड़ा तुम्हें मिलेगा।'

महिपदत्त को मुनिराज के वचनों की सत्यता में जरा भी-संदेह न रहा। जो महापुरुष मोहरों का घड़ा पड़ा हुआ जानकर भी-स्वयं ग्रहण न करके मुझे बता रहा है, क्योंकि मै उस घड़े का नियमानुसार अधिकारी हूँ, जो मेरे घर के गुप्त भेदों को इस प्रकार जानता है जैसे यह सब उसी के सामने

की घटना हो, वह पुरुष सचमुच धन्य है। ऐसे सत्पुरुष कभी मिथ्या भाषण नहीं करते। इस प्रकार सोचकर महि-दत्त मुनिराज के चरणों पर गिर पड़ा। वह गिड़-गिड़ा कर बोला—भगवान्! पतित पावन! मैं अतिशय पतित पापात्मा हूँ। पापों के पंक में पड़ा हुआ पामर प्राणी हूँ कृपाकर मेरा उद्धार कीजिए। मुझसे यह घोरातिघोर अनर्थ अनजान में हो गया है। भविष्य में मैं इस प्रकार की हिंसा नहीं करूंगा और गृहस्थ के योग्य धर्म का यथाशक्ति पालन करके अपना कल्याण करूंगा। मैं इस भ्रम में था कि श्राद्ध करने से पित्तर प्रसन्न होते हैं पर अब प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि मेरे पिता के श्राद्ध में उन्हीं का वध हुआ है। यह सब स्वार्थी साधुओं द्वारा फैलाया हुआ मिथ्यात्व है। मैं इस मूर्खता का सदा के लिए त्याग करता हूँ।

किसी जगह एक राजा के मुंह लगे दरबारियों को मालपुवे खाने की इच्छा हुई। उन्होंने परस्पर मंत्रणा करके राजा से कहा—'महाराज! पूर्वजनों का श्राद्ध होना चाहिए। श्राद्ध में शक्कर के मालपुवे ठीक रहते हैं अतः वही बनवा लिये जावें।' राजा ने दरबारियों की बात मानकर मालपुवे बनवाने की स्वीकृति दे दी। उसी दरबार में एक समझदार और राजा का सच्चा हितैषी दरबारी भी था। उसने सोचा—इन लोगों ने मालपुवों पर हाथ साफ करने की अच्छी तरकीब ढूंढ निकाली है। पर राजा को भुलावे में डालना उचित नहीं है। राजा का वही सच्चा दाना श्रेष्ठ है जो सर्वथा निःस्वार्थ होकर सच्चे अन्तःकरण से निकली हुई सलाह देता है। जो चाटुकार है वह राजा का अहि-

करता है और अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।' ऐसा विचार कर उस हितैषी दरवारी ने कहा अन्नदाता ! अपने अमुक अन्नदाता को अफीम का वहुत शौक था। वे कदाचित भोजन के विना रह सकते थे पर अफीम के विना उनका काम नहीं चलता था। वे कम से कम एक तोला अफीम का प्रतिदिन सेवन करते थे। उन्हें स्वर्गवासी हुए सौ वर्ष हो गये है। इतने दिनों तक उन्हें अफीम नहीं मिली होगी। ऐसी दशा में आज कम से कम ढाई मन अफीम, पक्के सेर से तुलवाकर मालपुवा खाने वालों को पिलादी जाय तो मालपुवों के साथ अफीम भी उन अन्नदाता तक पहुँच जायगी।'

यह वात सुनते ही पेटू दरवारी मसीवत में पड़ गये। यदि मालपुवा खाएँगे तो अफीम भी खानी पड़ेगी। यह अफीम खाते ही उन्हें भी पितृलोक की यात्रा करनी पड़ेगी। यह सोच कर सवने किसी प्रकार श्राद्ध स्थगित करवा दिया। फिर भी श्राद्ध का नाम तक न लिया। इससे जान पड़ता है कि श्राद्ध के मूल में कुछ भी तथ्य नहीं है। भ्रम और मिथ्यात्व के चंगुल में पड़कर ही लोग श्राद्ध-क्रिया किया करते है।

पूर्वजों की तृप्ति करने के लिए श्राद्ध करना एक मूढ़ता है। एक आदमी घर पर आम का वृक्ष लगा कर गंगा स्नान करने गया ! वह गंगा का जल उलीच कर वाहर डालने लगा। एक सभ्य पुरुष ने ऐसा करने का कारण पूछा तो वह कहने लगा— 'भाई, मैं अपने घर आम का पौधा लगाकर आया हुँ। यहां चले आने के कारण उसे वहुत दिनों से पानी नहीं मिला। अव आज मौका पाकर उसे पानी दे रहा हूँ।'

सभ्य पुरुष—अरे मूर्ख ! यहां पानी उलीचने से क्या यह तेरे घर पहूँच जाएगा ? ऐसा नहीं हो सकता।

विचारणीय बात यह है कि दूसरी जगह डाला हुआ पानी यदि बहुत दूर पर रोपे हुए पेड़ को लाभ नहीं पहूँचा सकता तो इस लोक में दूसरों को खिलाने से परलोकवासी किसी अन्य के पास वह कैसे पहुँच जायगा ? वस्तुतः मृतात्मा के निमित्त किया जाने वाला कोई भी विधि-विधान मृतात्मा को लाभ नहीं पहुँचा सकता। अन्यथा लोग मृतात्मा के नाम पर पाप करेंगे तो वह पाप भी मृतात्मा को भोगना पड़ेगा। इससे संसार में बड़ा अन्धेर फैल जायेगा। कर्म, कर्त्ता को ही भुगतना पड़ता है। जिसके उद्देश्य करके कर्म, किया जाता है उससे कोई भी हानि-लाभ नहीं पहुँच सकता।

इतने कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो मनुष्य परलोक में सुख, शान्ति और संतोष चाहता है उसे अपनी जीवित अवस्था में, इच्छापूर्वक ही उसके लिए दान, पुण्य, जप, भगवद्भक्ति धर्माचरण आदि कर लेना चाहिए। मरने के बाद दूसरों के द्वारा किया हुआ दान-पुण्य मृतात्मा के काम नहीं आता। यही नहीं बल्कि ऐसे शुभ कार्यों में तो जीवन के अन्तिम समय पर भी भरोसा करके नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि मृत्यु पहले से सूचना देकर नहीं आती। वह तो प्रायः चील की भांति अचानक झपटती है और प्राणियों के प्राण लेकर चल देती है। किस समय तन से प्राण निकल जाएंगे, यह कोई भी छद्मस्त नहीं जानता। मरना किसी भी समय संभव है। कोई बलवान् से बलवान् पुरुष भी अब तक जीवित नहीं रह पाया है।

साधारण को घृणा होती है। उस घृणित पदार्थ से उत्पन्न हुए अति घृणित मांस का भक्षण करना कितना गृणास्पद है ?

मांस शरीर को बलवान् नहीं बनाता। वह शरीर में तेजी लाता है, एक प्रकार की क्रूरता उत्पन्न करता है। मांसाहारी पुरूष फलाहारी का सामना करने में सर्वथा मे असमर्थ रहता है। मांसाहारी का शरीर पोचा होता है और फलाहारी का शरीर सुदृढ़ और ठोस होता है। यदि किसी पशु को कोई बीमारी होती है तो वह उसका मांस खाने वाले पर फौरन ही अपना प्रभाव डालती है। इससे मांसाहारी कभी-कभी घोर व्याधि के पात्र बन जाते हैं और कभी तो जीवन से ही हाथ धो बैठते हैं परलोक में जाने पर तो उन्हे ऐसी-ऐसी यातनाएं भोगनी पड़ती है कि जिन कोई सीमा नहीं है। उन नारकीय यातनाओं का वर्णन करना भी असंभव है।

फिर भी कुसस्कारो के कारण व्यापारी ने भैंसा मारने की अभिलाषा प्रगट की और अपना अन्तिम समय भी बिगड़ा लिया। पुत्र को यह आदेश देकर वह चल बसा। वह मरकर संयोगवश भैसे के रूप में फिर उत्पन्न हुआ। इधर उसकी माता भी वृद्धावस्था के कारण परलोक चली गई। उसने अपने दुष्कर्मों के फल स्वरूप कुतिया के रूप में जन्म धारण किया।

महिलाओं का चरित एक रहस्यमयी समस्या है। मायाचार उनका स्वभावसिद्ध अवगुण है। अपने पति से रच मात्र भी प्रेम न होने पर भी वह दिखावटी व्यवहार से अपने को पतिव्रता साबित करती है। बड़े-बड़े युद्धों में शक्तिशाली सेना को दम भर

में पराजित कर देने की क्षमता रखने वाले शूरवीर सेनापति और अपने प्रखर पांडित्य से विविध शास्त्रों के गहन से गहन तत्वों का विवेचन करने वाले विद्वान और समस्त संसार में अपने प्रताप की ध्वजा फहराने वाले यशस्वी-तेजस्वी-ओजस्वी सम्राट भी महिला के मायाचाल में फंस कर उल्लू बन जाते हैं। शूरवीरों की शूरवीरता, विद्वानों की विद्वत्ता और सम्राटों की धाक महिला के सामने पानी भरती है। महाराज भर्तृहरि के असीम अनुराग का दुरुपयोग करने वाली रानी की कथा कौन नहीं जानता ? न्यायशील दशरथ के प्राण लेने वाली कैकेयी की कहानी किसकी जवान पर नहीं है ? रावण जैसे प्रचंड योद्धा का सर्वनाश करने वाली और सोने की लंका को धूल में मिलाने वाली दुराचारिणी सूर्पनखा को कौन भूल सकता है ? इस प्रकार इतिहास में सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं जिससे महिला के चरित पर प्रकाश पड़ता है। फिर भी पुरुष अपना विवेक-विज्ञान विसार कर स्त्री के प्रबल मोह में पड़ा रहता है और कभी-कभी तो कुत्ते की तरह अपमान फटकार और दुत्कार सहन करके भी पीछे-पीछे लगा रहता है।

महिपदत्त की बात याद आते ही महिलाओं के विश्वासघात का स्मरण हो आता है। बेचारा महिषदत्त अपनी पत्नी को प्राणों के समान चाहता था। वह उसे पतिपरायण स्त्री समझ कर उस पर पूर्ण प्रतीति रखता था। गृहस्थी का सारा भार उसने उसे सौंप दिया था और आप बाहर काम-काज करता था। मगर महिपदत्त की पत्नी अत्यन्त मायाविनी और दुराचारिणी थी। एक दिन वह अपने जार के साथ घर में आमोद-प्रमोद कर रही थी कि संयोगवश यकायक महिपदत्त घर आ पहुँचा। उसने यह

भोगीलीला देखी तो क्रोध का ठिकाना न रहा। तलवार उठा कर जार के दो टुकड़े कर दिये !

यह अचानक गुड़ गोबर होते देख महिपदत्त की पत्नी हाय-हाय कर रोने लगी और अपने दुराचार के लिये वार-वार क्षमा-याचना करने लगी। भविष्य में भूल कर भी कुपथ में पैर न देने की प्रतिज्ञा करने पर महिपदत्त ने जीवित रहने दिया।

वह दुराचारी पुरुष मर कर महिपदत्त की पत्नी के गर्भ से उसके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। कर्म-योग बड़ा बलवान् है। ससार के सम्बन्ध कैसे अनोखे है ?

कहा भी है:—

एक जन्म की पुत्री मरकर है पत्नी बन जाती,
फिर आगामी भव में माता बनकर पैर पुजाती।
पिता, पुत्र के रूप जन्मता, वैरी बनता भाई,
पुत्र त्यागकर देह कभी बन जाता सगा जमाई।

कल तक जो महिपदत्त का घोर शत्रु था, जिसे उसने तल-वार के घाट उतार कर संतोष माना था और जिसे जीवित रहने देना वह सहन नहीं कर सका था, आज वही जार उसी के लाड़ले लाल का रूप धारण कर आ गया। महिपदत्त की आंखों की पुतली बन गया, हृदय का आहार बन गया, और बुढ़ापे की लड़की कह-लाने लगा। महिपदत्त का उस बालक पर अत्यन्त स्नेह था। वह जी-जान से उसे चाहता था और उसकी रत्ती भर पीड़ा को अपने सिर पर आया हुआ दुःख का पहाड़ समझता था।

कितना मिथ्या है संसार! कैसा असार-तथ्यहीन है !

अरे मोही जीव ! आंखें खोल ! देख अपने विवेक का क दिवाला निकाल रहा है। शत्रु-मित्र की कल्पना यहां कित थोथी है ? कौन किसका शत्रु है ? कौन किसका मित्र है ? कौ किसका सगा है और कौन सम्बन्धी है ?

है संसार सराय जहां पर पथिक आय जुट जाते।
लेकर टुक विश्राम राह में अपनी-अपनी जाते॥

कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर महिपदत्त के पिता की मृत्यु तिथि आ गई। उस दिन अपने पिता के आदेशानुसार उसने मारने के लिए भैंसा खरीदा और संयोगवश वह भैंसा उसके पिता का जीव ही था, जो मरकर भैंसा के रूप में जन्मा था।

महिपदत्त ने भैंसे का वध करवाकर भोजन सामग्री तैयार करवाई। सगे-सम्बन्धी और जाति-भाई भोजन करने के लिए आ पहुँचे। भैंसे के मांस को पका डाला गया था पर उसकी हड्डियां एक ओर वहीं पड़ी थी। हड्डियों को चाटने के लिए एक कुतियां उनके नजदीक बार-बार आती थी और महिपदत्त उसे बार-बार ताड़ देता था। फिर भी जब वह कुतिया न मानी और फिर-फिर आने लगी तो महिपदत्त को तीव्र क्रोध आया और एक लट्ठ उठा कर उसने कुतियां की पीठ में दे मारा। कुतिया चीखती-चिल्लाती हुई भागी।

इसी समय एक पहुँचे दिव्य ज्ञानी योगी वहां जा पहुँचे। उन्होंने यह रोमांचकारिणी घटना अपने ज्ञान से जान कर कहा—'अरे महिपदत्त ! तू ने आज अत्यन्त पैशाचिक कृत्य किया है। तू ने भैंसे के रूप में अपने इसी जन्म के पिता का वध किया है और कुतिया के रूप में जन्मी हुई अपनी जननी-माता की लट्ठ

कहा भी है—

भरतखंड के अधिपति चक्री कितने भू पर आये,
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाये।
प्रवल शक्ति-सम्पन्न सैन्य उनका सा और कहां है ?
किन्तु धरातल पर क्या उनका नाम निशान रहा है ?
अक्षय धन परिपूर्ण खजाने शरण जीव को होते,
तो अनादि के धनी सभी इस भूतल पर ही होते।
पर न कारगर धन होता है बन्धु ! मृत्यु की वेला,
राजपाट सब छोड़ चला जाता है जीव अकेला॥

ऐसी अवस्था में धर्माचरण के लिए अंतिम समय की राह देखकर बैठे रहना विवेकशीलता का चिह्न नहीं है।

प्रभव ! इससे तुम समझ सके होंगे कि पुत्र के द्वारा पिता को सद्गति प्राप्त होती है, यह धारणा सर्वथा निर्मूल, निराधार और अज्ञानपूर्ण है। महिपदत्त का कथानक इस भ्रम को दूर कर देता है।

प्रभव की तैयारी

जम्बूकुमार का यह विस्तृत स्पष्टीकरण सुन कर प्रभव के हृदय पर तीव्र प्रभाव पड़ा। वह कृतज्ञता से जम्बूकुमार के चरणों में गिर पड़ा और पाप के प्रवल कीचड़ से निकल कर कल्याण कारी पथ पर आरूढ़ कर देने के लिए जम्बूकुमार को पुनः पुन धन्यवाद देने लगा। इसके बाद वह अपने पूर्वकृत अत्यन्त निर्दयता पूर्ण हिंसा, असत्य और चोरी आदि दुष्कर्मों के लिए सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करने लगा। वह बोला—कुमार ! मैं अत्यन्त पापी हूँ। मेरे पापों का अन्त नहीं है। जीवन सारा घोरातिघोर पाप करते-करते व्यतीत हुआ है। मेरे सिर पर पापों का वड़ा

भारी पहाड़ लदा हुआ है। इस गुरुतर भार से मैं दबा जा रहा हूँ और अब जान पड़ता है कि दबते-दबते मैं पाताल में चला जाऊंगा। कुमार! आप मेरे गुरु हैं, शिक्षक हैं, हितैषी सखा हैं मेरा उद्धार कीजिए। मेरी रक्षा कीजिए। कोई उपाय बताइए कि मैं अपने मस्तक के बोझ को थोड़ा-बहुत हल्का कर सकूं।

कुमार—प्रभव ! पश्चात्ताप की प्रबल अग्नि में बड़े से बड़े पाप जल कर भस्म हो सकते हैं। तुम अपने पिछले कृत्यों पर पश्चात्ताप कर रहे हो, यह अच्छी बात है। मगर यह स्मरण रक्खो कि पश्चात्ताप वही सच्चा पश्चाताप है जो अन्तरग से उद्भूत होता है हृदय से उत्पन्न होने वाला पश्चात्ताप ही हृदय को सुवर्ण की भांति निर्दोष और चमकदार बनाता है।

हार्दिक पश्चात्ताप का चिन्ह क्या है ? यह भी सुनो। वही पश्चात्ताप हार्दिक है जिसके एक बार उत्पन्न हो जाने पर हृदय पाप रूपी कटीली झाड़ियों को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है। अग्नि से सर्वथा दग्ध भूमि वनस्पति उत्पन्न नहीं कर सकती और पापों के पश्चात्ताप से दग्ध हुआ अन्तःकरण भी पाप-वनस्पति की उत्पत्ति के लिए ऊसर बन जाता है। अतएव तुम्हारा यह पश्चात्ताप यदि शुद्ध अन्तःकरण से निकला है तो अब उन पापों की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रभव—कुमार, अब तो उन पापों का स्मरण आते ही मेरा हृदय कांपने लगता है। पर क्या उन पापों के परित्याग मात्र से मेरा उद्धार हो जायेगा ? इससे अधिक और कुछ न करना होगा ?

कुमार—भाई प्रभव, उत्कृष्ट कल्याण का मार्ग तो दीक्षा धारण करना है। इस दीक्षा से ही परम चरम कल्याण हो सकता है। क्या तुम इसके लिए तैयार हो ?

प्रभव—क्यों नहीं ? मुझ मे अब भी काफी शक्ति मौजूद है ! जिस दीक्षा को आप सरीखे कोमल तन वाले कुमार पाल सकते हैं उसे मुझ जैसा कठोर शरीर वाला क्यों न पाल सकेगा ?

कुमार—सच कहते हो प्रभव ! भगावान् ने कहा भी है—

"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा।"

आत्मा में अपरिमित शक्ति है। वह शक्ति दुधारी है। उसका दुरुपयोग करने पर वह आत्मा के ही अकल्याण का कारण बन जाती है और सदुपयोग करने पर आत्मकल्याण का भी। जैसे शस्त्र आत्मघात का काम देता है और आत्मरक्षा का भी, यही दशा आत्मिक शक्ति की है। अकल्याण में प्रवृत्त हुई शक्ति की धारा यदि कल्याण की ओर मुड़ जाय तो मनुष्य धन्य बन जाता है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि जो कर्म में शूरवीर है वह धर्म में भी शूरवीर हो सकता है। आज तुमने अपनी शक्ति का प्रवाह मोड़ लिया है। तुम चाहो तो दीक्षा धारण कर सकते हो।

प्रभव—कुमार ! मै कृतार्थ हुआ। मै आपकी संगति में अचानक आकर लोहे से सोना बन गया हूँ। प्रातःकाल होते ही मैं भी दीक्षा ग्रहण करूंगा।

प्रभव अचानक रात में जब आ पहुँचा था और जम्बूकुमार को दीक्षा न लेने का आग्रह कर रहा था तब कुमार की पत्नियों ने समझा था कि हमारे अहोभाग्य से ही मानों देवदूत आ पहुँचा

है। अब तक वे बड़ी ही उत्सुकता से उनकी बातचीत सुन रही थीं और यह आशा लगाये बैठी थीं कि हम जिस उद्देश्य में सफल नहीं हो रही हैं उसमें शायद प्रभव समर्थ हो सके। वह सब प्रभव को अत्यन्त सहायक के रूप में देख रही थीं परन्तु जब उस पर भी जम्बूकुमार का वैराग्य रंग चढ़ गया और वह भी उनके साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गया तो उनके दुःख की सीमा न रही वे जिस धरती पर ठहरी थीं वही मानों खिसकने लगी। जिस नाव पर आरूढ़ होकर वे संसार-समुद्र को पार करना चाहती थीं वह उन्हें बीच में ही छोड़ देना चाहती है, यह निश्चय कर उनकी वेदना का अन्त न रहा। समुद्रश्री नाम की स्त्री को तो प्रभव पर इतना क्रोध आया कि वह लाल लाल आंखें निकाल कर कहने लगी-दुष्ट प्रभव ! तूने जिन्दगी भर लोगों को लूटा-खसोटा है, फिर भी तेरा पेट नहीं भरा जो अब हमें लूटने चला है ! हमारा सुख, हमारा सर्वस्व, हमारा देवता लूट कर क्या तू सुख से रह सकेगा ? लुटेरा ! साधु बनने चला है फिर भी हमारा सौभाग्य-लूटे बिना न रहेगा ? तू ने अब तक न जाने कितनी सुहागिनों के सुहाग छीने हैं, न जाने कितने बालकों को अनाथ बना दिया है और न मालूम कितने ही श्रीमानों को दर दर का भिखारी बना डाला है ! पापी ! अब भी तेरी प्यास नहीं बुझी जो हम पर हाथ साफ करने चला है। हमने समझा था तू हमारा हितैषी भाई बनकर आया है, पर तू तो भयंकर सांप निकला! हमें डंसने को तैयार हो गया है, तेरा हृदय पत्थर से भी ज्यादा कठोर है। तू उन्हें समझाते-समझाते उल्टी उत्तेजना दे रहा है! नौ सौ चूहा खाय बिलाड़ी हज करने निकली" की कहावत चरि-

तार्थ करने वाले ढोंगी ! हट ! जा यहां से !

प्रभव इन वाग्बाणों से रंग मात्र भी उत्तेजित न हुआ। उस ने सोचा—जिसके स्वार्थ में बाधा पड़ती है वह क्रुध होता ही है। यह क्रोध करके अपना ही विगाड़ कर रही है, इसमें मेरा क्या विगड़ता है ? वास्तव में मेरे पूर्व कृत्य ऐसे ही निर्दयतापूर्ण हैं कि उनकी शतमुख से निन्दा की जाय तो भी पूरी निन्दा न हो पाय मैं कर भी क्या सकता हूँ ? मैंने आरम्भ में कुमार को समझाने का प्रयत्न किया मगर अन्त में उन्होंने मुझे समझा दिया ! जब वस्तु स्थित यही है तब उसे अस्वीकार करने से कल्याण नहीं हो सकता। मैं स्वीकार न करूं तो भी कुमार मानने वाले नहीं हैं। मैं दीक्षा न लूंगा तो इससे इन स्त्रियों का कुछ लाभ न हो सकेगा।

यह सोच कर प्रभव ने कहा—'बहिनजी ! कुमार को मैं समझा रहा था पर उन्होंने मुझे समझा दिया है। सत्य को स्वीकार करना यदि मेरा अपराध हो तो मैं आप से क्षमा चाहता हूँ। मैं कुमार को न समझा सका अब आपही अपनी शक्ति की परीक्षा कर देखिये ! आप कहलाती है अबला पर वास्तव में होती है। प्रबला। शायद आप कुमार के मजबूत मन को जीत सकें। मैं, आपके रास्ते का फूल बन कर आया था पर शूल बन गया हूँ। लीजिए अब एक शब्द भी न बोलूंगा।'

इतना कह कर प्रभव चुप हो गया और एक किनारे बैठ गया।

पति-पत्नि संवाद

समुद्रश्री जम्बूकुमार को लक्ष्य करके कहने लगी—प्राणनाथ आप दयावान् बनने चले है पर आपकी दया का जो रूप

हमारे सामने है, वही यदि वास्तविक दया है तो उसे धर्म कैसे माना जा सकता है ? किसी के हृदय में दुःख की भीषण ज्वाला सुलगा कर, कलेजे में वियोग की कटारी भोंक कर, किसी का सर्वस्व छीन कर और उसे दुःखों के दावानल में जलने को फेंक जाना, यही क्या दया है ? दया तो देवी है, मंगलमयी है, करुणा-मूर्ति है, पर आप जिसकी आराधना कर रहे हैं वह विकराल दानवी है, अमंगलजननी है और निष्ठुर है। आप इस राक्षसी के भ्रम में पड़ कर अपना और हमारा अनिष्ट क्यों कर रहे हैं? जिन्होंने आपको अपनी आशाओं का केन्द्र बनाया है, अपने सुख का आधार और जीवन का जीवन बनाया है, भला उनके ही ऊपर प्रहार करके आप किस धर्म का आराधन करेंगे ?

जो सुख प्राप्त है उन्हें लात मार कर कल्पना लोक के सुखों की कामना करना दीर्घदर्शी विचारशील पुरुष का कर्त्तव्य नहीं है। गोद के लड़के को त्याग कर पेट के लड़के पर आशा रखना बुद्धिमत्ता नहीं है। यह तो दुराशामात्र है। बग़ किसान के समान मूढ़ता है।

मारवाड़ में सुवरी नामक गांव में एक किसान रहता था। वह अपने खेत में मोठ-बाजरी बोकर अपनी सुसराल गया। सुसराल में इक्षु बहुत होते थे। इक्षु रस का ताजा गुड़ निकलवा कर जमाई के लिए बढ़िया स्वादिष्ट मालपुवे बनवाये गये। उसने कभी मालपुवों के दर्शन तक नहीं किये थे। मालपुवों में उसे अद्भुत मिठास का अनुभव हुआ और वह एक-एक कौर में एक-एक मालपुवा निगलने लगा। जमाई की यह करतूत सासू और उसकी साली ने देख कर आपस में सोचा—कोई दूसरा

देखेगा तो जमाईजी को कंगाल और भुखमरा समझेगा। इससे उनकी बदनामी होगी और अपना भी नाक कटेगा। अच्छा हो हम उन्हें इशारा करके समझा देवें कि एक मालपुवे के कम से कम दो टुकड़े करके खाएं। यह सोचकर साली ने दो उंगलियों का इशारा किया। जमाईजी इस इशारे को देखकर-समझे कि एक कौर में एक नहीं दो मालपुवे खाने चाहिए। उन्होंने एक साथ दो-दो मानपुवे मुंह में घुसेड़ना शुरु किया। जब वह दो एक साथ मुंह में डालता था तो उसके गाल फूल जाते थे और ऐसा लगता था जैसे बन्दर का मुंह हो। यह देखकर लोगों की हंसी का पार न रहा। सब ने उसकी भरपेट हंसी उड़ाई।

वग जब जीम कर उठा तो उसने मालपुवा बनाने की विधि पूछी। सुसराल वालों ने अपने खेत पर ले जाकर उसे इक्षु दिखाये और रस निकालने, गुड़ बनाने तथा मालपुवा तैयार करने का क्रम सिखलाया।

वग अपने साथ इक्षु का बीज लेता आया। जब वह लौट कर आया तो मोठ-बाजरी पकने में कुछ ही दिनों की देरी थी, पर इक्षु की मिठास ने उसे अधीर बना दिया और उसने मोठ-बाजरी उखाड़ फैंके। इक्षु बो दिए गये। घर वालों और पड़ौस वालों ने ऐसी नादानी न करने के लिए उसे बहुत कुछ कहा-सुना पर उसने जरा भी कान न दिया और अपनी मनमानी की वह नादान वग मोठ-बाजरी से हाथ धो ही चुका था इधर मार-वाड़ में जल के अभाव के कारण इक्षु भी न हुए। घर में जो थोड़ी-बहुत पूंजी थी वह कुआ खुदवाने में लगा दी पर पानी का पता भी न लगा। वह न इधर का रहा न उधर का रहा!

पतिदेव ! आप भी वग के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। आप गुरुवर रूप श्वसुर के यहां से मुक्ति रूप मालपुवे की मधुरता सुनकर मोठ बाजरी के समान हमें त्याग रहे हैं। पर स्मरण रखिए, मोक्ष का कहीं अता-पता नहीं है अतएव उसकी प्राप्ति होना कल्पना मात्र है। इसके लिए हमारे और सांसारिक सुखों के त्याग से, इधर से भी हाथ धोने पड़ेंगे। अतएव आप से हमारी नम्रतापूर्ण प्रार्थना है कि आप मुक्ति के सुख के फेर में न पड़ कर लोक में स्वतः प्राप्त सुखों का उपभोग करें।

इसके अतिरिक्त प्रभव जैसे कठोर शरीर वाले लोग तो साधु अवस्था की तकलीफों को सरलता से सहन कर सकते हैं पर आप का शरीर अत्यन्त कोमल है। आमने न कभी गर्मी देखी है, न सर्दी देखी है। जमीन पर पैर नहीं रखा। आप उन कष्टों को, जो साधु को अनिवार्य रूप से सहने पड़ते हैं, कदापि न सह सकेंगे। क्या आप झोली पात्रा आदि लाद कर पैदल चल सकेंगे ? वह भी कड़ी धूप में, नंगे सिर, नंगे पैर और धीरे-धीरे। इसलिए हे प्रियतम ! हमारी दीन प्रार्थना स्वीकार कर गृहस्थधर्म का पालन कीजिए और हमारी सेवा स्वीकार कीजिए।'

समुद्रश्री की बात सुन कर जम्बूकुमार ने अत्यन्त गंभीरता के साथ कहा—प्रिये ! तुम सब मुझे प्यार करती हो यह मैं खूब समझ रहा हूँ। पर मनुष्य को सदा अपने असली और उच्च उद्देश्य की ओर लक्ष्य रखना चाहिए। हम लोग छोटी-छोटी और तुच्छ बातों में पड़ कर बड़ी बातों को भूल जाते हैं। ऐसा करने से मानव-जीवन निरर्थक हो जाता है। अत्यन्त प्रबल पुण्य के योग से यह जीवन प्राप्त होता है। एक बार वृथा खो

देने पर फिर कब इसकी प्राप्ति होगी, यह जानना भी कठिन है। अतएव सौभाग्य से अभी जो सुअवसर हमें प्राप्त है उसका सदुपयोग क्यों नहीं करना चाहिए ? भोगोपभोग में ही जीवन व्यतीत कर दिया जाय तो तुम्ही सोचो, मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रह जाएगा। आहार, निद्रा, भय और विषयभोग, इन सब का सेवन तो पशु भी करते है। मनुष्य में यही विशेषता है कि वह धर्म का आचरण कर सकता है। यदि धर्माचरण न किया तो मनुष्य, आकार में भिन्न होते हुए भी पशु ही है। कहा भी है:—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
सामान्य मेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः
धर्मेण हीन पशुभिः समानः॥

इसका आशय वही है जो अभी कहा जा चुका है। क्या तुम यह उचित समझती हो कि मनुष्य पशु होकर जीवित रहे ? या उसे सच्चे मनुष्य के गुण प्राप्त करके जीवित रहना चाहिए ?

प्रिये ! भोगोपभोग अग्नि के समान हैं। अग्नि में जितना काष्ठ आदि ईंधन डालो, वह उतनी ही अधिक प्रबल होती है, शांत नहीं होती। विषयभोग भी ज्यों ज्यों भोगे जाते है त्यों-त्यों उनके भोगने की अभिलाषा बढ़ती है। भोग भोगने वाला वृद्ध हो जाता है पर भोगों की कामना सदा नवयुवती बनी रहती है। जीवन का अन्त आ जाता है पर कामना का कभी अन्त नहीं आता। सच तो यह है कि हम भोग नहीं भोगते वरन् भोग ही हमें भोग लेते है। भोगों की अभीलाषा में मारा-मारा फिरने वाला प्राणी स्वप्न में भी सुख और शांति नहीं पा सकता। भोगी को

अगर शान्ति मिलती तो अनादि काल से विपुल भोग भोग चुकाने पर अब तक सभी मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा अन्य जीवों को शांति मिली होती, वे पूर्ण रूप से संतुष्ट हो गये होते। पर संसार में इस के विपरीत ही अवस्था दृष्टिगोचर होती है। लगभग सभी प्राणी विषयों के दास वने हुए हैं, कामनाओं के शिकार हो रहे हैं और नित-नई अभिलाषाएं उन्हें कठपुतली के समान नचा रही हैं।

प्रिये ! क्या तुम्हारा विश्वास है कि इस जन्म में भोग-भोग लेने के वाद फिर कभी भोगों की अभिलाषा नहीं उदित होगी ? ऐसे ऐसे अनन्त जीवन व्यतीत हो गये फिर भी यह असतोषी आत्मा कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ। अतएव यदि इसे संतुष्ट करने की सचमुच तुम्हारी इच्छा हो तो उसके लिए और ही कुछ उपाय करना चाहिए। और वह उपाय यही है कि भोगों की अभिलाषा को जड़ से उखाड़ फैंक दिया जाय। इसी में सुख है, सतोष है, शांति है और यही शाश्वत कल्याण का एक मात्र उपाय है।

तुम कहती हो कि मुक्ति का सुख कल्पना मात्र है। यह तुम्हारा प्रगाढ़ अज्ञान है। तुम्हें जानना चाहिए कि आत्मा इस समय कर्मों से लिप्त होने के कारण अपने असली स्वरूप से च्युत हो रहा है। नाना प्रकार के विकार उसे विकृत वनाये हुए है। फिर भी उसके गुणों का थोड़ा-थोड़ा अंश अब भी प्रकट है। जैसे सघन से सघन वादल भी सूर्य के सम्पूर्ण प्रकाश को रोकने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार प्रबल से प्रवल कर्म भी आत्मा के समस्त गुणों का सर्वथा घात नहीं कर सकते। यही कारण है कि आत्मा की वर्तमान कर्मवेष्टित अवस्था में भी आत्मिक गुणों का थोड़ा-वहुत प्रकाश दिखाई पड़ता है। ज्ञान, दर्शन सुख और शक्ति अव भी

विद्यमान हैं यह आत्मा के वास्तविक गुण हैं। जब आत्मा इन गुणों के स्वभाव वाला है तो शुद्ध रूप मे आने पर इन गुणों का सम्पूर्ण विकास अवश्य होगा। विकास की यही अवस्था मुक्ति कहलाती है। मुक्ति न तो किसी स्थान को कहते है और न जाने को। सम्पूर्ण विकास को प्राप्त आत्मा ही मुक्तात्मा कहलाता है। उसमें सुख का भी पूर्ण विकास हो जाता है। वह सुख अनिन्द्रिय है, असीम है, अनन्त है, विषयजन्य नहीं है मुक्तात्मा उस परम सुख का सदा काल अनुभव करते है। यह सुख काल्पनिक नही है। ससार का सुख ही काल्पनिक है, क्योंकि वह अनन्त दुःखों का कारण है। ससार के सुखों का वेदन करना मधु से चुपड़ी हुई तलवार की धार को चाटने के सुख के समान है। मधु-लिप्त तलवार की धारा को चाटने से क्षण भर माधुर्य की अनुभूति हो सकती है पर उसका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। जिह्वा के काटने की तीव्र वेदना का वह कारण है। यही हाल समस्त सांसारिक सुखों का है।

सांसारिक सुख कर्मो के आधीन है। जब तक शुभ कर्म का उदय रहता है तब तक सुख रहता है। अशुभ कर्म का उदय होते ही वह कपूर की तरह उड़ जाता है। उसके वियोग से प्राणी को घोर सताप होता है वह सताप इतना अधिक और आजीवन स्थायी है कि उसके सामने वह तुच्छ सुख नगण्य हो जाता है। इस प्रकार क्षणिक होने के कारण वह त्याज्य है। इसके अतिरिक्त उस सुख के बीच—बीच में भी दुःख भोगना पड़ता है। वह पाप का भी बीज है। ऐसे सुख को ही काल्पनिक सुख कहना चाहिए। जो सुख शाश्वत है, बाधा रहित है, अनन्त है, जिसमे दुःख को

लवलेश भी संसर्ग नहीं है, उस मुक्ति के परमोत्तम सुख को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता।

तुम कहती हो मेरा शरीर कोमल है, अतएव मैं साधुवृत्ति के कष्टों को सहन नहीं कर सकूंगा। यह कथन भी ठीक नहीं है। मैं आत्मा हूँ और आत्मा अनन्त शक्ति का धनी होता है अतएव मुझ में भी अनन्त शक्ति है। इस आत्मा ने अनन्त वार नरकगात की अपार और वचनागोचर यातनाएं सहन की हैं। इसने तीर्यञ्च योनि के अपरिमित दुःखों का सामना किया है। फिर साधुवृत्ति के कष्ट सहना क्या बड़ी बात है।

प्रिये! तुम यदि यह चाहती हो कि मुझे कष्ट न उठाने पड़े और मैं सुख का भागी बनूं तो फिर आग्रह करके मुझे ऐसे पथ पर क्यों घसीट ले जाना चाहती हो जो पथ सीधा नरक की ओर जाता है? विषयभोग भोगने से तो भयंकर दुःख भोगने पड़ेंगे उन दुःखों को मैं कैसे सह सकूंगा? अतएव मुझ पर यदि तुम्हारा सच्चा अनुराग है तो मुझे दुःखों की तरफ न ले जाओ, दुःखों से बचाने का प्रयत्न करो। तुम सुख के लिए दुःख के मार्ग का मुसाफिर बना रही हो, यह उचित नहीं है।

बग कृषक का उदाहरण देकर तुमने भूल की है। बग कृषक तो पौद्गलिक सुखों का लोलुप था। इसी लिए वह दुःखों का पात्र बना। मैं पौद्गलिक सुखों का परित्याग करना चाहता हूँ। बग का उदाहरण उन्हें लागू होता है जो सांसारिक सुखों के भुलावे में पड़कर अपने हिताहित को भूल जाते है। सचमुच सब संसारी जीवों की अवस्था बग के समान है। वे सुख की प्राप्ति के लिए दुःखों के पथ पर चलते हैं और अन्त

में पश्चात्ताप करते हैं।

नर्मदा नदी का नाम तुमने सुना होगा। उस नदी के किनारे एक हाथी मर गया। उसे खाने के लिए बहुत दूर-दूर के काक, गिद्द, बाज आदि पक्षी इकट्ठे हुए। दिन को आते, कपना पेट भरते और सन्ध्या होने पर अपने अपने घर बसेरे की ओर चल देते। एक दिन एक कौवा हाथी के मल-द्वार के रास्ते, उसके पेट में घुस गया। भीतर का कोमल मांस खाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। सायकाल होने पर कौओं की कांय-कांय शुरु हुई और चलने का यह संकेत पाकर सब चलने को तैयार हो गये पेट में घुसे हुए कौए ने सोचा—इससे अधिक सुरक्षित स्थान ठहरने के लिए दूसरा कहां मिलेगा ? इसके अतिरिक्त दूर जाना-आना भी बड़ी झंझट है। अतएव दूसरे कौओं के तुमुल कांव-कांव शब्द को सुनकर के भी वह बाहर न निकला। उसके साथी सब कौए चल दिये। झुण्ड के मुखिया कौवों ने उसे साथ चलने का आग्रह भी किया और कहा-देखो, तुम यहीं रहोगे तो बड़ी विपत्ति में पड़ जाओगे। पर उस लम्पट ने उसकी बात पर कान नहीं दिया।

ग्रीष्म के दिन आ चले थे। गर्मी कुछ तेज होने से एक दिन मलद्वार सिकुड़ गया। अब कौआ निकलने का प्रयत्न करके भी निकलने में असमर्थ था। ग्रीष्म के बाद वर्षा ऋतु आई। मूसल-धार वर्षा होने पर तमाम नदी-नाल एकमेक हो गये। हाथी का कलेवर बह गया। बहते-बहते, न जाने कितनी लम्बी यात्रा के बाद वह अन्त में समुद्र में पहुँचा। लगातार कई दिनों पानी में रहने के बाद हाथी का चमड़ा कुछ नरम हुआ-ढीला पड़ा और

कौआ बाहर निकला। बाहर निकल कर उसने चारों ओर पानी ही पानी देखा तो उसकी घबराहट का पार न रहा।

सौभाग्य से वहां होकर एक जहाज निकला। जहाज का निर्यामक दयालु हृदय का था। उसने कौए को मुसीबत में पड़ा देखा तो उसकी जान बचाने के खयाल से जहाज हाथी के कलेवर के पास से निकला! कौआ अत्यन्त लोलुप तो था ही, उसने सोचा—जहाज का आश्रय लेने से आत्म रक्षा हो सकती है, पर मांस इस समय मुलायम है थोड़ा—बहुत खाकर फिर जहाज पर सवार हो जाऊंगा। ऐसा सोचकर वह भीतर घुसा और इधर जहाज आगे निकला गया। जब वह बाहर आया तो जहाज अदृश्य हो चुका था। थोड़ी देर के बाद एक मत्स्य ने हाथी का कलेवर पकड़कर जल में डूबो लिया। कौआ अब इधर से उधर और उधर से इधर उड़ता-उड़ता अन्त में थक गया। उसे कहीं पानी का अन्त आता नहीं दिखाई दिया। आखिर पंख फैलाकर जल में गिर पड़ा और तड़फते-तड़फते मृत्यु के मुंह में चला गया।

जम्बूकुमार ने अपना कथन चालू रखते हुए कहा—समुद्र श्री! चार गति रूप यह संसार समुद्र के समान है। कौआ जीव के समान और नारीजन मृतक हाथी के समान है। भोग रूप मांस का लोलुप कौआ रूप यह प्राणी अत्यन्त गृद्ध हो रहा है। जैसे कौआ ने अपने झुण्ड के मुखिया का कथन न मानकर समुद्र में डूबकर प्राण गंवाये उसी प्रकार सद्गुरु का कथन न मानकर मनुष्य संसार रूपी अर्थात् सागर में डूबते हैं और अनेक कष्ट भुगतते हैं। उस सागर में जन्म-मरण रूपी जल की कहीं सीमा

दृष्टिगोचर नहीं होती समुन्द्र में जैसे भयंकर जलचर मत्स्य आदि होते हैं उसी प्रकार संसार में रोग, शोक आदि सब सदा विद्यमान रहते हैं कौआ के पुण्योदय से जैसे उस समय अचानक जहाज आ पहुँचा था। उसी प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी धर्म रूपी जहाज लेकर यहां पधारे हैं। ऐसे पुण्य-प्रसंग मर भी, इस सुयोग को पाकर के भी यदि कोई धर्म-मान पर आरूढ़ नही होता और विपय रूपी मांस के भक्षण करने में आसक्त बना रहता है तो वह विवेकशील नही है। समुद्र श्री ! मै ऐसी लम्पटता को पास नहीं फटकने देना चाहता। मैं इस दिव्य धर्म-पान की उपेक्षा न करूंगा। मैं पापी कौए की मौत मरकर अपने जन्म-मरण की असीम परम्परा चालू नही रखूंगा। मै अपने दुःखों का प्रक्षय कर के अनन्त सुखां का भाजन बनना चाहता हूँ।

प्रिये ! संसार का स्वरूप तुम्हें मैंने स्पष्ट करके समझा दिया है। निस्सन्देह संसार एकान्त दुखों का परम धाम है। मोह की लीला के कारण यह सुख का रूप भान होता है और इसी कारण और ज्यादा दुःख भोगने पड़ते है ! उसका त्याग करने वाली आत्मा ही अमर-अजर होकर दुःखों से सदैव के लिए छुटकारा पाती है। मेरी इच्छा है कि तुम भी आत्मकल्याण के पथ की पथिक बनो और तुच्छ एवं जघन्य वासनाओं से नाता तोड़ो।

जम्बूकुमार का वस्तु-स्वरूप का यथार्थ चित्रण करने वाला कथन सुनकर समुद्रश्री को भी संसार की निस्सारता का आभास हुआ। उसने मुक्ति के सुख की वास्तविकता को स्वीकार किया। उसे भी वैराग्य का रंग चढ़ गया और वह दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हो गई।

समुद्र श्री की यह हालत देखकर दूसरी स्त्री पद्म श्री अत्यन्त आकुला गई। सोचने लगी—जम्बूकुमार के पास न जाने कैसा अनोखा जादू है! जो उनसे बात करता है वही उनके रंग में रंग जाता है। पर मैं अपने ऊपर वह जादू कदापि न चलने दूंगी। यही नहीं वरन् मैं अपना जादू उनपर चलाकर रहूँगी। न चला सकी तो मेरा नाम पद्म श्री नहीं! बड़े बड़े देवों के मन को चंचल कर देने वाली नारी शक्ति की आज परीक्षा होगी। देखूंगी प्राणनाथ में कितनी दृढ़ता है? मेरा नाम पद्म-श्री (कमल की शोभा के समान शोभा वाली) है। पद्म-श्री की मनोहरता किसे नहीं डिगा सकती। किसके नेत्र उसे देखकर अनुराग से रंजित नहीं हो जाते? पद्म-श्री की ओर किसका हृदय आकर्षित नहीं होता? मैं अपने स्वर्गीय सौन्दर्य से और प्रबल युक्तियों से प्राणनाथ को अवश्य आकृष्ट करूंगी।

इस प्रकार विचार करके पद्मश्री जम्बूकुमार के पास पहुँची और कहने लगी:—

पद्मश्री—नाथ! इस नवयौवन अवस्था में आपको यह क्या धुन समाई है? मानव-जीवन में यह अपूर्व यौवन एक मूल्यवान् रत्न के समान है। इसका अधिक से अधिक सदुपयोग करना उचित है। क्या यह यौवन-रत्न जंगल में जाकर लुटा देने के लिए मिला है? जीवन का यह सर्व श्रेष्ठ समय है जीवन रूपी उद्यान का यह सौरभपूर्ण सुन्दरतम् सुमन है। क्या यह सुमन अरण्य में व्यर्थ मुरझा जाने योग्य है?

जम्बूकुमार—प्रिये! तुम्हारा कथन सत्य है। मैं उसे

स्वीकार करता हूँ। सचमुच जीवन में यौवन का समय सर्व-श्रेष्ठ है और उसका अधिक से अधिक सदुपयोग करना चाहिए। मै यही करना चाहता हूँ।

पद्मश्री—कृतार्थ हुई नाथ! आपने मेरी वात की सत्यता को स्वीकार कर लिया। मेरे तथा मेरी साथिन वहनों के भाग्य धन्य है।

जम्बूकुमार—पद्मश्री! मैंने तुम्हारी वात की सच्चाई को स्वीकार किया है पर तुमने मेरी वात की सच्चाई स्वीकार नहीं की है।

पद्मश्री—वह कौनसी बात जीवनधन?

जम्बूकुमार—वह यह कि जीवन का अधिक से अधिक सदुपयोग भोगोपभोग भोगने में नहीं किन्तु उसके त्यागने में है। इसमें जीवन की कृतार्थता है।

जम्बूकुमार का यह कथन सुन कर पद्मावती मानों आकाश से जमीन पर आ गिरी। उसने सोचा था—मेरी सहज ही विजय हो गई है। पर जम्बूकुमार के अन्तिम शब्दों ने उसकी विजय भावना को पराजय के रूप में परिणित कर दिया! उसके चारों ओर घोर निराशा का अन्धकार छा गया। वह फिर वोली—

पद्मश्री—आप कृपा कर पहेली न वनिये। हम अवलाओं को शब्द के चक्कर में न फसाइए। स्पष्ट कहिए आपका अभिप्राय क्या है?

जम्बू०—देखो पद्मश्री। मैं किसी को छलने का प्रयास नहीं करता। वात यह है कि सव गतियों में मनुष्यगति श्रेष्ट है, मनुष्य-गति पाने पर भी सद्गुरु का कल्याणकारी धर्मोपदेश श्रवण

करने का अवसर दुर्लभ है, धर्मोपदेश श्रवण का सुअवसर पाते पर भी उस उपदेश का रग-रग में भिद जाना, उस पर प्रगाढ प्रतीति होना, रुचि होना और निश्चल श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा हो जाने पर भी उस परमोत्तम धर्मोपदेश का स्पर्श करना मन-वचन-काय से पालन होना अतीव कठिन है। इस प्रकार इन चार अंगों की प्राप्ति होना भगवान् ने अत्यन्त पुण्य का फल कहा है। शास्त्र बतलाता है:—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

जिस पुण्यात्मा पुरुष को इन चार अंगों की प्राप्ति हो चुकी है वह अतिशय धन्य है। जिसे एक ही प्राप्ति हुई हो उसे अगले अङ्गों की प्राप्ति करनी चाहिए। मेरा यह सौभाग्य है कि मुझे तीन अङ्ग प्राप्त हुए हैं और चौथे अंग को प्राप्त करने अर्थात् संयम में सम्पूर्ण शक्ति लगाने का मैं संकल्प कर चुका हूँ।

प्रत्येक जीव—कीड़ी से कुंजर तक—सुख की प्राप्ति को अपना ध्येय मानता है। स्थायी और निर्बाध सुख पाना सर्वोत्कृष्ट ध्येय है। इस ध्येय की प्राप्ति करने में ही जीवन व्यतीत करना जीवन का—यौवन का—अधिक से अधिक सदुपयोग है। यौवन अवस्था में ही प्रबल पुरुषार्थ द्वारा अनन्त, अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो सकती है। अतएव मैं अपनी युवावस्था का अधिक से अधिक सदुपयोग करना चाहता हूँ। यही मेरा आशय है।

पद्मश्री—नाथ! आपको ज्ञात है कि पति के बिना स्त्री के लिए दूसरा सहारा नहीं है। आपके अतिरिक्त हमारा और कौन धनी-धोरी है? जैसे भोजन नमक के बिना नीरस होता है उसी

प्रकार पति विहीन नारी जीवन नीरस है आप इस बात का भी विचार कीजिये कि हम निरपराध अबलाओं का असमय में परित्याग करना कहां तक न्याय है ? आप प्राप्त सुखों को छोड़ कर अप्राप्त सुखों के लिए उद्विग्न हो रहे हैं, पर इससे पश्चात्ताप ही करना होगा।

जम्बूकुमार—पद्मश्री ! चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुप, चाहे कीट-पतंग हो या हाथी और सिंह हो, मानव हो या दानव हो, देव हो नारकी हो, कोई भी हो, सब में अनन्त शक्तिशाली आत्मा विराजमान है। सिद्ध भगवान् की आत्मा में जितनी शक्ति है जितने गुण हैं, वह सब संसारी आत्मा में विद्यमान है। वस्तुतः प्ररमात्मा और आत्मा में कुछ भी मौलिक भेद नहीं है। सामान्य संसारी आत्मा ही अपने स्वरूप का विकास करके परमात्मा की संज्ञा प्राप्त करता है अतएवं अपने को या दूसरे किसी को निर्जीव, निस्तेज, अशक्त या निर्बल समझना आत्म-देव की आसातना करना है। तुम्हें अपने को अवला नहीं समझना चाहिए। तुम्हारे भीतर असीम शक्ति विद्यमान है। उसे तुमने अभी पहचाना नहीं है। उस ओर तुम्हारा लक्ष्य नहीं है। अपने आन्तरिक खजाने को देखो। अपने ऊपर विश्वास रखो। अपनी शक्ति को पहचान कर उसे अधिक से अधिक अभिव्यक्त करने का प्रयास करो। तुम अवला नहीं हो सबला हो, प्रवला हो, शक्ति के अक्षय भण्डार की स्वामिनी हो।

पतिविहीन नारी का जीवन नीरस होता है, यह कथन भी एकान्त सत्य नहीं है। जो रस-जो सुख-दूसरे पर आश्रित है वह पराधीन है। जो सुख पराधीन है वह तभी तक रहता है जब तक

वहां 'पर' विद्यमान रहे। 'पर' सदा विद्यमान नहीं रह सकता अतएव वह सुख भी सदा विद्यमान न रहेगा। अतएव ऐसे विनाशशील सुख के लिए प्रयत्न करना वृथा है। जो सुख पराधीन न हो, जो अपनी आत्मा में ही निवास करता हो, शाश्वत हो और जिसके भोगने से दुख न भोगना पड़े वही स्वाधीन सुख वास्तविक है।

मैं तुम्हें त्याग रहा हूँ, यह कथन भ्रमपूर्ण है। मैं आत्मा हूँ, तुम भी आत्मा हो। निश्चय से आत्मा किसी को न ग्रहण करता है और न आत्मा को कोई ग्रहण कर ही सकता है। ग्रहण करने का अर्थ सम्बन्ध स्थापित करना है तो संसार में ऐसा कोई जीव नहीं जिसके साथ सब जीवों का सम्बन्ध स्थापित न हो चुका हो। इस दिशा में किसी को ग्रहण करना और किसी को त्यागना क्या न्याय संगत है ? अतएवं सब जीवों को समान भाव से देखना चाहिए। पृथ्वीकाय आदि से लेकर देवगति तक के सभी जीव संयम धारण करने पर ही समान भाव से देखे जा सकते है। इसलिए यह आवश्यक है कि सब के साथ समान सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सयम स्वीकार किया जाय।

प्राप्त सुखों को छोड़कर अप्राप्त सुखों के अभिलाषी होना तभी अनुचित हो सकता है जब वह अप्राप्त सुख भी प्राप्त सुख के समान हो। पर मेरा लक्ष्य सुख तो और ही प्रकार का है अतएवं पद्मश्री ! तुम्हारा कथन मुझे जंचा नहीं।

पद्मश्री—नाथ ! यदि आप अपना आग्रह न त्यागेंगे तो आपको उस वन्दर की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

जम्बूकुमार—कौन से वन्दर की तरह ?

पद्म श्री—सुनिये। किसी जगह एक सघन वन था। वह भांति-भांति के फलों-फूलों वाले वृक्षों से व्याप्त था। उस वन में अनेक प्रकार के पक्षी और वन्दर रहते थे। उसमें जगह-जगह पानी के कुण्ड भी वने हुए थे। एक वार देववाणी हुई कि इस समय जो तिर्यञ्च पानी के कुंड में गिरेगा वह मनुष्य हो जायगा और जो मनुष्य होगा वह देव वन जायगा।

एक वानर-वानरी के जोड़े ने यह आकाशवाणी सुनकर सोचा—'यह सुअवसर फिर हाथ आना कठिन है। अतएव इसे हाथ से जाने देना ठीक नहीं है। मनुष्य वन जाएंगे तो जीवन सार्थक हो जायगा।' यह सोचकर वानर-वानरी दोनों जल के कुण्ड में कूद पड़े। कुंड में कूदते ही वान्दर २२ वर्षीय नवयुवक और वानरी अष्टादश वर्षीय नवयुवती सुन्दरी स्त्री वन गई। मनुष्य अपने सद्भाग्य की सराहना करता हुआ पत्नी से वोला—प्रिये! अव भी समय है। पशु से मनुष्य वन गये है तो दूसरी वार डुवकी लगाकर मनुष्य से देव भी वन सकते हैं। चलो जल्दी करो-देव-देवी वन लें अभी हमारे पास न कपड़े-लत्ते है, न आभूषण है और न विशिष्ट शक्ति है। देव वन जाने पर अनायास ही सव वस्तुएं प्राप्त हो जाएंगी। स्त्री को अपने पति का यह लोभ पसन्द न आया। उसने कहा—

प्रिय! अधिक लोभ, लाभ के वदले हानि देकर जाता है पशु से मनुष्य वन जाना कम लाभ नहीं है कृपा कर इतने में सन्तोष कीजिए। वस्त्राभूषण धीरे-धीरे मिल जाएंगे। उनके लिए इतनी व्यग्रता नहीं करनी चाहिए।'

मनुष्य ने कहा—तुम पगली हो अपने हिताहित का तुम्हें

भान नहीं। आकाशवाणी की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान होने पर भी उसमें सन्देह कर रही हो। जब वन्दर से मनुष्य हो गये तो मनुष्य से देव बनने में क्या देरी लगेगी! स्त्रियां स्वभाव से ही ढीली और आलसी होती हैं। बातें करते करते ही सारा अनमोल समय बिता दोगी तो सदा के लिए पश्चात्ताप रह जायगा। अतः मेरी बात मानो। विलम्ब न करो।

स्त्री—प्राणनाथ! अब भी आप की वात मेरे गले नहीं उतरती। मेरी तो यही प्रार्थना है कि सन्तोष ही संसार में सार है। असन्तोषी कभी शान्ति का उपभोग नहीं कर सकता। अब कृपा कर इस झंझट में न पड़िए। जो मिला है वही बहुत है।

पुरुष—'फिर वही पिष्टपेषण! ऐसे दुर्लभ अवसर का सदुपयोग न करना हद दर्जे की मूर्खता है। मैं इस मूर्खता का शिकार न बनूंगा। तुम मेरे साथ डुबकी मारो तो अच्छा है, अन्यथा मैं कूदता हूँ और अभी-अभी देव बनता हूँ। मेरे देव बन जाने पर तो तू कूद कर देवी बनेगी न? या फिर भी सन्देह करती बैठी रहेगी।'

इतना कह कर वहां धमाक से कुण्ड में कूद पड़ा। पर वह देव बनने के बदले पहले सरीखा वानर बन गया। चौबेजी छब्बे बनने गये थे पर दुब्बे ही रह गये! वानर अत्यन्त पश्चाताप करते हुए अपनी पत्नी से कहने लगा—कुबुद्धि और लोभ का मारा मैं देव बनने गया था, पर हाय! मनुष्य भी न रह पाया। तेरी बात मान ली होती तो क्या ही अच्छा होता!

सच है—'लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ?' अर्थात् भाग्य में जो कुछ लिखा है उसे कौन मिटा सकता है। आज मैंने जान लिया कि असन्तोष परम दुःख है, असन्तोष सुख का विनाशक है, ! पर प्यारी ! अब क्या तुम भी मुझे त्याग दोगी ? हम लोग चिरकाल के साथी हैं। अब हमारा-तुम्हारा बिछोह होना उचित नहीं है। अतएव आओ, तुम भी कूद पड़ो। फिर हमारा-तुम्हारा जोड़ा बन जायगा। क्या तुम मुझे नहीं चाहती ?

स्त्री ने मनुष्य-शरीर पाकर तिर्यञ्च बनने से इन्कार कर दिया। कहा मुझे क्या तुम बुद्धि हीन समझते हो कि मैं जान बूझ कर बन्दरी बनूंगी ? मैंने बहुतेरा समझाया बुझाया था, पर तुमने मुझे मुर्खा मानकर मेरी बातों पर कान न दिया। अब मैं तुम्हारी बातों पर कान न दूंगी। अपनी करनी का फल तुम्हीं भोगो। इतना कहकर वह एक झाड़ के खोतर में अपनी लज्जा बचाने के लिए छिप गई।

इतने में वहां एक राजा आ निकला। वह उस सुन्दरी को देखकर बोला—आप कौन हैं ? यहां इस दशा में रहने का क्या कारण है ?

स्त्री—मै एक अबला हूँ। अपनी कहानी फिर सुनाऊंगी, पहले तन ढंकने को एक वस्त्र दे दीजिए।'

राजा ने दुशाला उतार कर फैंक दिया। स्त्री ने दुशाले से अपना शरीर ढंक लिया और वह राजा के सामने आई।

अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाया तो राजा आश्चर्यान्वित हो गया उसने कहा—तुम अकेली हो मनुष्य के रूप में अभी इस संसार में

अवतीर्ण हुई हो ससार का तुम्हें अनुभव नहीं है। अतएव मेरे साथ चलो। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा।

राजा का कथन सुनकर उसे अच्छा आश्वासन मिला और वह राजा के साथ चलदी। बन्दर यह सब देखकर अपना भाग ठोककर रह गया। वह शोक सागर में डूब गया। मनुष्यता से हाथ धो बैठा था अब स्त्री से भी हाथ धो बैठा।

इधर एक मदारी बन्दर की खोज में घूम रहा था। इस बन्दर को चुप चाप बैठा देखकर उसने पकड़ लिया। कुछ दिनों तक मार पीट कर उसे खेल सिखाए। मदारी उसे नाच नचाकर लोगों को तमाशा दिखाकर अपनी आजीविका चलाता था। बन्दर मदारी के इशारों पर नाना प्रकार की मनोरंजन चेष्टाएं करता था। इस प्रकार घूमता-घूमता मदारी एक बार उसी नगर में आ पहुँचा जहां उसकी स्त्री, रानी के रूप में मौजूद थी।

राजा अपनी नवीन रानी को बहुत चाहता था। उसने यह भी आदेश दे रखा था कि नगर में जो कोई नया खेल आवे वह सब से पहले नई रानी साहेबा के सामने पेश किया जाय, तत्पश्चात् अन्यत्र दिखाया जाय। इस आदेश के अनुसार बन्दर के साथ मदारी रानी के सामने लाया गया। मदारी ने अत्यन्त सावधानी के साथ खेल आरम्भ किया। रानी साहिबा अपने महल के झरोखे में विराजमान थी। ज्यों ही बन्दर की दृष्टि रानी पर पड़ी, वह एकदम उदासा हो गया। उसे अपना सम्पूर्ण अतीत, वर्तमान की भांति स्पष्ट दिखाई देने लगा। चिरकालीन जीवन संहचरी के साथ आनन्द पूर्वक व्यतीत किये हुए दिन सामने आ गये और उसके हृदय में मानों कील सी चुभने लगी। बन्दर पूर्व

घटनाओं के स्मरण में तन्मय हो गया। खेल करना भूल गया। वन्दर का यह हाल देखकर मदारी के क्रोध का पार न रहा। रानी के सामने मदारी की इस प्रकार भद्दी उड़े यह उसे सहन न हुआ। इसके अतिरिक्त आजीविका का प्रश्न सामने था। उसे जान पड़ा जैसे आया हुआ सुयोग निकल रहा है। अतएव मदारी ने वन्दर को डन्डे लगाने शुरु किये, फिर भी वन्दर आज नाचने को किसी भी प्रकार तैयार न हुआ।

रानी को भी यह दृश्य देख कर अपने अतीत का अस्पुष्ट-सा प्रतिभास होने लगा। उसे जान पड़ा शायद यह वही मेरा पूर्व जीवन का साथी है। हाय कितने कष्ट में है? इस का उद्धार करना मेरा पवित्र कर्त्तव्य है। इस प्रकार सोच कर रानी ने अपनी दासी से कहला भेजा—'मदारी! वन्दर को तंग न करो। उसे मारना व्यर्थ है। सौ रुपये ले जाओ और यह वन्दर मुझे दे जाओ।

मदारी जो चाहता था उसे उससे बहुत अधिक मिल गया उसे आशातीत सफलता मिली। वह वन्दर रानी को सौंप कर और रुपये लेकर प्रसन्नता पूर्वक चला गया। रानी ने वन्दर को अपने सोने के पलग के पाये से बांध दिया। वन्दर रानी के समीप रहकर एक ओर से शान्ति और दूसरी ओर से अशान्ति का तीव्र अनुभव करने लगा।

रोज-रोज के नाच और लोगों के मनोरंजन करने से एवं मदारी की मार खाने से पिंड छूटने के कारण उसे शान्ति थी, पर राजा रानी के पारस्परिक स्नेह पूर्ण सम्वाद सुनकर उसके हृदय में तीव्र अग्नि सुलग उठती थी। ऐसे समय में रानी उसे अत्यन्त प्रेम

के साथ सान्तवना देती ओर भाग्य की महिमा का वखान करती। कभी-कभी वह लोभ के कारण अपनी बात न मानने के दोष वतला कर यह समझाती—देखो, संसार का कोई भी प्राणी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं है। जो जितने अंश में सन्तुष्ट है वह उतने ही अंश में दुखी है! अतएव सुख के साधन सन्तोष को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जो महानुभाव अपनी प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहता है। दूसरी परिस्थिति के लोभ का सवरण करके उसी में मग्न बना रहता है, उसे दुख का स्पर्श नही हो सकता। मेरी यह बात तुमने पहले मानी होती तो इतना कष्ट न उठाना पड़ता। अव भी यह बात मानों और जिस परिस्थिति में हो उसी में सन्तुष्ट रहो। सुख-शान्ति का यही राज मार्ग है।

पद्म श्री ने जम्बूकुमार को यह दृष्टान्त देकर कहा-जीवन-धन इस दृष्टान्त के भाव पर विचार कीजिए जैंसे वानर-वानरी जंगल में रहते थे उसी प्रकार हम लोग ससार रूपी वन में निवास करते है। वानर-युगल आकाशवाणी सुन कर जैंसे जल के कुण्ड में कूद कर पशु से मनुष्य हो गया था उसी प्रकार हम लोग गुरु महाराज की पवित्र वाणी सुन कर सुकृत रूपी कुण्ड में कूद कर मनुष्यभव प्राप्त कर सके हैं। इसके वाद लोभ में पड़ कर वन्दर जैंसे देव वनने के लिए, अपनी पत्नी के निषेध करने पर भी कुण्ड में कूद पड़ा, उसी प्रकार आप हमारे निषेध करने पर भी लोभ के वश होकर साधुवृत्ति रूपी कुण्ड में कूदने के लिए तैयार हो रहे हैं। ध्यान रखिए, अन्त मे जैसे वन्दर को आजीवन पश्चात्ताप करना पड़ा उसी प्रकार कहीं आपको भी न पछताना पड़े। आपके लिए अव भी विचार करने का अवसर है। इसी कारण हमारा अत्यन्त नम्रतापूर्ण अनुरोध है कि आपको जो कुछ प्राप्त हो

गया है उसी में सन्तोष करना चाहिए।

जम्बूकुमार—प्रिये! तुमने दृष्टात की योजना करने में अपने चातुर्य्य का परिचय दिया। पर इस दृष्टान्त का जो निष्कर्ष निकलता है वह सर्वत्र लागू नहीं होता। यदि प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट ही रहा जाय और अपने विकास का प्रयत्न न किया जाय तो उन्नति के लिए अवकाश ही न रहेगा। संसार में अनेक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों के विकास में निरन्तर दत्तचित्त रहते हैं। इसी कारण उन्हें असाधारण शक्ति प्राप्त होती है। तुम्हारा कथन मानने से ससार की समस्त प्रगति ही रुक जायगी। जिसे जितना ज्ञान प्राप्त हो गया है वह उतने में ही सन्तुष्ट होकर बैठ रहे तो कोई पारंगत विद्वान् न बन पायगा। जिसे जितना बल मिला है वह उसको प्रर्याप्त समझ ले तो कोई बलिष्ट न हो सकेगा। इस प्रकार समस्त प्रगतियों का प्रतिरोध करने वाला तुम्हारा कथन मान्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि तुम्हारा दृष्टान्त, अपने आपको आप ही खण्डित कर रहा है। वानर-वानरी यदि पहले ही अपनी अवस्था में सन्तोप मान बैठते तो उन्हें मनुष्य बनने का अवसर ही न मिलता। वे अपनी वर्तमान पशु अवस्था से असन्तुष्ट हुए तभी मनुष्य बन सके थे। अतएव प्राप्त अवस्था से अधिक श्रेष्ठतर अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक प्राणी को प्रकृष्ठ प्रयत्न करना चाहिए, जैसा कि वानर-वानरी ने किया था।

तीसरी बात यह है कि जहां सांसारिक भोगोपभोगों के साधनों का संचय होता है, उनके त्याग के विरुद्ध भावना होती है, त्याग करने से दुःख होता है और विपयभोग की सामग्री का

अधिक से अधिक संग्रह करने की भावना होती है, वहाँ लोभ समझना चाहिए। जिस प्रवृत्ति से सांसारिक भागोपभोगों का परित्याग होता है, आरम्भ-परिग्रह के प्रति त्याग की भावना उत्पन्न होती हैं, विषयभोगों की सामग्री से घृणा पैदा होती है, ममता का परिहार होता है वह प्रवृत्ति लोभ-जन्य नहीं कहलाती। ऐसी प्रवृत्ति लोभ की विरोधनी है। यह प्रशस्त प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति पर धर्म निर्भर है। मैं अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने के लिए जगत् का यह विशाल वैभव त्याग रहा हूँ, यह लोभ है या लोभ का त्याग है यदि यह लोभ का परित्याग है तो य दृष्टान्त मुझ पर लागू नहीं हो सकता।

पद्म श्री ! यदि विवेक के साथ विचार करो तो यह तुम बखूबी लागू पड़ता है। जैसे बानर ने भोगे हुए विषयों में सन्तोष न मान कर अधिक विषय-सुख भोगने के लिए प्रयत्न किया उस प्रकार तुम अब तक भोगे हुए विषय-सुख में सन्तुष्ट न होकर अधिक विषय-सुख की कामना कर रही हो। तुम्हारा यह असन्तोष अवश्य ही पश्चात्ताप का कारण होगा।

जो लोग जगत् की मोह-माया में अधिक मग्न रहते हैं और कनक-कामिनी के क्रीत किंकर बन जाते है—उनकी दशा अंगालक के समान होती है।

पद्म श्री—अकालक कौन था ?

जम्बूकुमार—अंगालक एक लकड़हारा था। वह जंगल से लकड़ियां लाकर कोयले बना कर बेचता और अपनी आजीविका चलाता था। नित्य के अनुसार वह एक दिन लकड़ियां लाने जंगल में गया। साथमें पानी की 'दीवड़' भरली थी

ग्रीष्म ऋतु थी। कड़ी प्यास लगी और जितना पानी पास में था वह सब पी गया। फिर भी उसकी प्यास न बुझी। उसे वड़े जोर से प्यास लग आई। किसी तरह उसने भारे में लकड़ियां बांधी और सिर पर लादकर गांव की ओर चला। प्यास के मारे उसका गला सूख रहा था, जीभ तालु से चिपक गई थी। उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि अब प्राण निकलना ही चाहते हैं। वह थक कर सुस्ताने के लिए एक पेड़ की छाया में बैठ गया। ठंडी हवा के कुछ झौंके आये और थकावट के कारण उसे नींद आ गई। नींद में उसे एक स्वप्न आया। उसने देखा-मैंने नदी, तालाव और कुए का खूब पानी पिया पर मेरी प्यास वुझती ही नहीं है। यह स्वप्न देख कर वह जाग उठा! प्यास के मारे गला घुट रहा था। आखिर वह वहां से उठा और कुछ दूरी पर एक जलाशय के पास पहुँचा। प्यास के मारे वह जल्दी-जल्दी जलाशय में घुसा तो दल-दल में फंस गया। न तो आगे वढकर वह पानी तक पहुँच सकता था और न पीछे लौट सकता था। वह वड़ी मुसीवत में फंस गया! सोचने लगा— यह काला-काला कीचड़ नहीं वल्कि प्राण हारी यमराज है, जिसने मुझे अपने फंदे में फांद लिया है। उसका गला प्यास के कारण रूंधने लगा। मृत्यु समीप आती दिखाई देने लगी।

अन्त में, शरीर में थोड़ी-वहुत शीतलता लाने के लिए उसने गीली मिट्टी शरीर पर पोतली और कीचड़ में छोटा-सा पानी का गड़हा करके घास के ऊपर पानी का वूंद ले ले कर जीभ से लगाने लगा। पर ज्यों ज्यों वह जीभ से पानी लगाता था त्यों-त्यों

उसकी प्यास प्रबल से प्रबलतर होती जाती थी। थोड़ी ही देर के बाद शरीर पर पोती हुई मिट्टी सूख गई और उससे चमड़ी खिंचने लगी। इससे उसकी वेदना दुगुनी हो गई।

इतने में एक दयालु पुरुष उस ओर आ निकला। अगालक की दुर्गति देख उस दयालु का दिल दया से द्रवित हो उठा। उसने अंगालक को कीचड़ से निकाला, उसके शरीर की मिट्टी धो दी और जल पिलाया। अंगालक को अत्यन्त शान्ति मिली। उसे आज जल का वास्तविक मूल्य मालुम हुआ।

प्रिये ! इस दृष्टान्त पर भलीभांति विचार करो। देखो, अंगालक के समान संसारी जीव है लकड़ी काट कर कोयले बनाने के समान पंद्रह कर्मादान रूप व्यापार है। अशुभ कर्म रूपी प्यास लगती है। परन्तु भोग रूप जल न मिलने के कारण यह जीव अत्यन्त दुखी होता है। अंगालक जैसे जल के अभाव में अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो गया था उसी प्रकार विषय रूप जल के अभाव में विषयान्ध-तृष्णान्ध होकर यह जीव घोर संताप, तीव्र वेदना का अनुभव करता है। जैसे अंगालक ने घास के तिनके से अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार यह जीव सुकृत रूपी कितने से विषय रूप जल पी कर अपनी अभिलाषा पूर्ण करना चाहता है। पर जैसे अंगालक की तृष्णा बुझी नहीं और ज्यादा बढ़ी थी उसी प्रकार जीव की विषय-अभिलाषा भोग से घटती नहीं है-बढ़ती जाती है। जैसे अंगालक ने शान्ति प्राप्त करने के लिऐ शरीर पर गीली चिकनी मिट्टी लपेट ली थी उसी प्रकार यह जीव सांसारिक सुख-शान्ति पाने के लिए निकाचित् पाप कर्मों से लिप्त

होता है सूर्य। के ताप से मिट्टी सूख जाने पर अंगालक को और अधिक कष्ट हुआ था इसी प्रकार निकाचित पाप कर्मों का उदय रूप ताप पड़ने पर जीव को और अधिक वेदना होती है। जैसे किसी दयालु परोपकारो ने पानी पिलाकर और शरीर धोकर अंगालक को सुखी किया था उसी प्रकार श्रीसुधर्मा स्वामी क्रिया रूप जल से पाप रूपी कीचड़ को हटाकर और आत्मिक सुख रूप निर्मल जल पिलाकर सुखी कर रहे है।

प्रिये! इसी लिए मोह माया का त्याग कर के, आत्मीय सुख के अथाह सागर में रमण करने जा रहा हूँ। तुम मेरा हित चाहती हो, मुझे सुखी देखना चाहती हो तो बाधक न बनो। मैं भी तुम्हारा कल्याण चाहता हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम भी अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। दीक्षा लेकर दुखों का अन्त करो।

जम्बूकुमार के इस प्रकार समझने पर पद्मश्री का मन भी वैराग्य से पूर्ण हो गया। उसने सोचा—स्वामी जिस कल्याणपथ पर प्रयाण करने को कटिबद्ध हो रहे है उसमें कटक बनना अपनी अधोगति को आमन्त्रित करना है। मुझे स्वय ही इस पथ पर चलना चाहिए। ऐसा विचार कर वह समुद्रश्री की भांति दीक्षा धारण को तैयार हो गई और एक किनारे-समुद्रश्री के पास जा बैठी।

यह दृश्य देखकर शेष छह स्त्रियों को अत्यन्त निराशा हुई उन्होंने सोचा—पद्मश्री दृढ़ सकल्प करके गई थी पर अकृत कार्य रोकर, स्वय भी स्वामी की बात पर राजी हो गई। अब प्राणनाथ को अपने पथ से विचलित करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी जब

तक श्वास तब तक आस रखनी चाहिए। यदि हमें स्वामी को समझाने में सफलता मिल गई तो क्या कहना है।

इस प्रकार विचार—विनिमय के पश्चात् पद्मसेना नाम की तीसरी स्त्री जम्बूकुमार को उनके पथ से विचलित करने का उद्देश्य लेकर सामने आई। जम्बूकुमार से कहने लगी—

पद्मसेना-प्राणनाथ ! स्त्रियां स्वभाव से भोली भाली होती हैं। एनके भोलेपन से लाभ उठाकर आपने मेरी दो सखियों को वहका दिया है। पर आपको मैं यह बतला देना चाहती हूँ कि सब धान बाईस पंसेरी नहीं होता। सब स्त्रियां एक-सी भोली नहीं होती। मै आपकी वहका देने वाली बातों में न आऊंगी। आप को मैं किसी भी प्रकार न जाने दूंगी। सुख के सुन्दर समय को वृथा व्यतीत क्यों करना चाहते हैं आप ? क्या हमें सहसा ठुकरा देना इतना आसान काम है, जितना आप समझ रहे हैं ? हमारे स्नेह में शक्ति है। हमारा स्नेहपाश बहुत मजबूत है। उसे तोड़ फैंकने का इन्द्र में भी सामर्थ्य नहीं है। सारा संसार महिलाओं की उंगली के इशारे पर कठपुतली की तरह नाच रहा है। आप हमें अवला न समझिए। आपने स्वयं पद्मश्री को समझाते हुए हमें सवला कहा है। कृपाकर आप उस वुगले की तरह न कीजिए, जिसने मुंह में आई हुई मछली को भूलकर दूसरी मछली पकड़ने का प्रयत्न किया और दोनों ही हाथ से गंवाई। इस कथा को जरा सावचेत होकर सुनिये !

पूर्वीय देश में राजगृही नगरी थी। उसमें एक स्वर्णकार रहता था। उसके एक पुत्र था और उस पुत्र की स्त्री थी। घर में ही मनुष्य रहते थे। पुत्र-वधू अत्यन्त कुटला थी और वह

अपने पापों को छिपाने में अत्यन्त कुशल थी। पर पाप कब तक छिपा रह सकता है ?

पाप छिपाये नहिं छिपे, छिपे तो मोटा भाग ॥
दाबी-दूब नहिं रहे, हई लपेटी आग ॥

एक दिन पुत्र-वधू के दुराचार को देख कर पिता ने अपने पुत्र से कहा-बेटा ! बहू को जरा अंकुश में रखो, नीतिकार कहते हैं:—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रः स्थावरे रक्षैंत, नं स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति ॥

अर्थात्—स्त्री की कुमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति रक्षा करता है और वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है। स्त्री स्वतन्त्रता की पात्र नहीं है !

स्त्री को जितनी स्वाधीता दी जाय, उसके चरित्र में उतनी ही खराबी आ जाती है । अतएव कुल की मर्यादा कायम रखने के लिए लोक निन्दा से बचाने के लिए, एवं निति और धर्म का मूल सुदृढ रखने के लिए स्त्री पर अंकुश रखना चाहिए। इस कथन में अनेक अपवाद हो सकते है। अनेक महिलाएं संसार में सदाचार का आदर्श स्थापित कर गई हैं। सीता जैसी अनेक सतियों ने भयंकर कष्ट सहन करके भी अपने शील-रत्न की रक्षा की है। पर अधिकांश महिलाएं अपने मृदुल हृदय के कारण, उच्च शुद्ध और सात्विक शिक्षा के अभाव में नीति की मर्यादा का उल्लंघन कर जाती हैं ! अस्तु ।

पद्मसेना कहने लगी—स्वर्णकार का पुत्र, अपनी पत्नी का दास था। वह अपनी स्त्री के इशारे पर नाचता था। पिता के

हित-वचन सुनकर वह कड़क कर बोला-पिताजी ! जान पड़ता है तुम सठिया गये हो। शरीर के बुढ़ापे के साथ बुद्धि भी बुढ़ी हो गई है। इस उम्र में भी तुम्हारी कुटीलता न गई! वह बेचारी सीधी-साध्वी, भोलीभाली पतिव्रता और सदाचारशीला महिला है। उसके विषय में तुम्हें निर्मूल भ्रम हो रहा है। किसी भी सती-साध्वी महिला के विषय में ऐसा घृणित विचार करना उसका घोर अपमान करना है। इससे उस महिला का ही अपमान नहीं किन्तु समस्त नारी जाति का अपमान है यह मुझे भी अपना अपमान जान पड़ता है।

पिताजी ! आज तो आपने कहा सो कहलिया पर आगे इस प्रकार की वात मुंह से न निकालें। इसी में आपकी भलाई है।

पिता—बेटा, तू नासमझी भरी वातें कर रहा है। तुझे विवेक-बुद्धि से काम लेना चाहिए। स्त्री के प्रति अनुराग होना अच्छा है, पर अंधश्रद्धा होना भयानक है। मुझे संसार का तुझसे अधिक अनुभव है। तेरी आंखों पर जो चश्मा चढ़ा है वह यथार्थ वस्तु नहीं देखने देता। मेरे दो-चार पुत्र वधुएं तो है नहीं कि उस से ईर्षा करता। तू ही अकेला पुत्र है और वही अकेली पुत्रवधू है। मैंने अपनी इन बूढ़ी आंखों से जो कुछ देखा है। उसीके आधार पर मैंने संकेत किया है। मेरी वात पर तुझे विश्वास नहीं होता तो तनिक ठहर जा। अवकी वार ऐसा प्रयत्न करूंगा कि तुझे संशय ही न रह जाय।

पुत्र—अच्छी वात है। जव आप प्रमाण उपस्थित करेंगे तव विचार करूंगा।

एक दिन पुत्र वधू को परपुरुष के साथ शयन करते देखकर स्वर्णकार किसी प्रकार उसके पैर में से नेवर (एक गहना) खोल लाया। जैसे ही पुत्रवधू की नींद खुली तो उसे समझने में देरी न लगी कि श्वसुर ने नेवर खोल लिया है। प्रातःकाल होते ही वह मेरे पापों का भंडा फोड़ कर देगा।

इस प्रकार विचार कर उसने अपने प्रेमी को जगाकर उसके घर रवाना कर दिया और स्वयं अपने सोये हुए पति के पास जा पहुँची। बड़ा स्नेह प्रदर्शित करके बोली— प्राणनाथ! मुझ दासी को आप से अलग होकर—अकेले में नींद नहीं आती। आप भी कृपाकर शयनगृह में पधारें। इस प्रकार कहकर वह अपने पति को शयनगृह में ले गई। थोड़ी देर चुपचाप पड़ी रहने के बाद अचानक चिल्लाने लगी-प्राणनाथ! प्राणनाथ! देखो, जागो, कोई मेरे पैर का नेवर उतार कर लिये भागा जाता है।

स्वर्णकार का लड़का चौंक कर उठा। बोला—कौन है यहां? कौन तेरा नेवर लेजा रहा है?

स्त्री धीमे से बोली—'मैंने पहचान लिया है चोर कोई बाहर का नहीं, घर का है और वह है—आपके पिताजी, मेरे श्वसुर राज!

स्त्री पति को उत्तेजित करने के लिए कहने लगी जीवन-धन! आपको इनकी करतूतों का पता नहीं है न जाने कब से यह मेरे साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं। यह तो मै ही थी कि इतने दिनों शान्त रही और परमात्मा से उन्हें सुबुद्धि देने की कामना करती रही। मैंने पिता—पुत्र के बीच क्लेश उत्पन्न करना उचित नहीं

समझा। कुलीन स्त्री का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह कुटुम्ब में विग्रह पैदा करे। इसके अतिरिक्त मुझे लज्जा भी मालूम होती थी। परन्तु अब हद हो चुकी है। अब उनका व्यवहार सहन करना मेरी शक्ति से बाहर हो गया है। आज तो सब कुछ प्रत्यक्ष हो गया है। अब तो किसी प्रकार की शंका आपके हृदय में नहीं रह गई है ? पत्नी की लाज बचाना :पति का धर्म है। अब आपकी जो इच्छा हो, कीजिए।'

पत्नि का कथन सुन कर वह आग बबूला हो गया। उसे अपने पिता की लम्पटता का ख्याल कर घोर व्यथा होने लगी। प्रातःकाल होने के साथ ही वह पिता के पास पहुँचा। पिता अपने पुत्र को बिना बुलाये आया देख नेवर बताने का उपक्रम कर ही रहा था कि पुत्र गुस्से से कांपता हुआ, लाल-लाल आंखें निकाल कर कहने लगा—अरे बूढ़े ! तुम्हारे सामने बात कहने में भी मुझे लज्जा आती है। तुम्हारे हृदय में इतनी लम्पटता भरी हुई है, यह मुझे स्वप्न में भी पता न था। तुम्हारा इतना अधिक पतन हो चुका है। तुम्हारी नियत इस कदर बिगड़ी हुई ! लोग ठीक कहते हैं—साठी और बुद्धि नाठी। मैं सोया हुआ था फिर भी तुमने इतना साहस किया कि नेवर उतार कर ले आये ? कदाचित् मैं वहां न होता तो उस बेचारी की न जाने क्या दशा होती ? उसके सिर जन्म भर के लिए कलंक का टीका लग जाता। उस सीधी, और भली औरत की इज्जत धूल में मिल जाती।

अपने मूढ़ पुत्र की बात सुन कर स्वर्णकार ने माथा ठोका 'होनहार बलवान्' कह कर किसी प्रकार चुप्पी साधी।

इसी समय पुत्रवधू रोती-रोती आई और कहने लगी—प्राणनाथ ! मुझे भयंकर कलंक लगाया गया है। इस कलंक से कलंकित मुंह दिखाना मेरे लिए असंभव हो गया है। मुझे किसी प्रकार यह कलंक मिटाना होगा। इसे मिटाने के लिए मैं 'धिज' (एक प्रकार का दिव्य परीक्षण) करूंगी। पति ने उसकी बात तत्काल स्वीकार करली।

स्त्री अत्यन्त चालाक थी उसे अपने पापों पर पर्दा डालने का बड़ा अच्छा तरीका आता था ! उसने अपने प्रेमी को कहला भेजा—'मैं आज धिज' करने जा रही हूँ। तुम फटे-टूटे चीथड़े पहन कर, पागल की वेशभूषा बना कर रास्ते में मिलना और मुझे छू लेना।' उसने स्वच्छ वस्त्र धारण किये, थाल कंकु आदि सामग्री रखी और नगर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर हो कर देवी के मन्दिर की ओर चल दी। मार्ग में वह प्रेमी पागल के वेष में आया और उसे स्पर्श करके भाग गया ! वह स्त्री अपने वस्त्रों का स्पर्श होते ही चिल्ला उठी—हाय ! हाय गजब हो गया ! जिंदगी भर परपुरुष से मेरे पल्ले का स्पर्श नहीं हुआ था, आज इस पागल के साथ मेरे वस्त्र का भी स्पर्श हो गया ! हे परमात्मा ! तूने यह क्या सितम ढा दिया। मेरा तो शरीर कांप रहा है। हाय ! अब मै क्या करूं ?

इस प्रकार विसूर-विसूर कर रोती हुई वह देवी के मन्दिर में पहुँची। लोगों को एक तमाशा हो गया था। हजारां आदमी उस के पीछे-पीछे चल रहे थे। वह उन सब लोगों के सामने ऊंचे स्वर में बोली—'हे देवी माता ! हे पुण्य-पाप को प्रकाश करने वाली अम्बा ! यदि मैने अपने विवाहित पति और उस पागल आदमी

के सिवाय किसी भी मनुष्य का पल्ला छुआ हो तो मेरे जीवन का यही अन्त कर डालना।' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वह देवी के मन्दिर में प्रविष्ट हो गई। रात भर वह वहीं बनी रही। देवी उस का कुछ भी न बिगाड़ सकी, क्यों उसने अपने पति और पागल बने हुए प्रेमी को अपवाद रूप में रखा लिया था। दोनों के साथ उसका स्पर्श हुआ था, अतएव देवी का उस पर कुछ भी वश नहीं चल सका।

प्रातःकाल हुआ। हजारों आदमी उसके सत्यशील की परीक्षा का परिणाम जानने के लिए अत्यन्त उत्सुकता और कुतुहल के साथ जमा हो गये थे। सब के मुंह पर उसी की चर्चा थी। आखिर मन्दिर के पट खुले और स्त्री जीवित निकल आई तो लोगों की प्रसन्नता का पार न रहा। सभी मुक्त कण्ठ से उसके शील की सराहना करने लगे। किसी ने कहा—धन्य है इस पवित्र महिला को, जो शील के अमूल्य आभूषण से भूषित है। इसकी आत्मा कैसी उज्जवल ओर पवित्र है! हमें गौरव है कि हमारे नगर में ऐसी शीलवती परम सती साध्वी स्त्री विद्यमान है ऐसी महिलाओं से जगत् पावन बन जाता है।

दूसरे ने कहा—वह सुनार बुढ्ढा बड़ा नीच और लम्पट जान पड़ता है। ऐसी सुशीला पुत्रवधू पाकर भी जो उसे कलंकित करने की कुचेष्टा करता है उसके समान शीलद्वेषी और अधम कौन होगा?

स्वर्णकार के पुत्र को अब पूरा अवसर मिला। उसने अपने पिता को खूब आड़े हाथों लिया और पानी पी-पीकर भरपेट ... । बेचारा बूढ़ा यह सब देखकर चकित रह गया। उसकी

समझ में नहीं आता था कि यह सब सत्य है या स्वप्न है ? सोचने लगा—इसमें कोई रहस्य अवश्य होना चाहिए। मैंने एक बार नहीं, अनेकों बार जो कुछ अपनी आंखों से देखा है वह मिथ्या नहीं हो सकता। मेरी आंखें मुझे इस प्रकार धोखा कदापि नहीं दे सकती। निस्सन्देह इसमें कुछ दाल में काला है। पर अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। इस समय चुप्पी साध कर ही सब सहन करना होगा। समय आने पर सब रहस्य अपने-आप खुल जायगा।

सुनार के चुप्पी साथ लेने पर भी काम नहीं चला। एक सती-साध्वी पवित्र महिला पर मिथ्या दोषारोपण करने के अपराध में वह गिरफ्तार कर लिया गया। सारा नगर उसकी निन्दा से व्याप्त हो गया।

बेचारा सोनी सच्चा होने पर भी अपनी सच्चाई को प्रमाणित करने में असमर्थ था। स्त्री के मायाचार के आगे देवी को भी झख मारना पड़ा वह भी उसका कुछ न बिगाड़ सकी तो सुनार तो साधारण मानव था। वह क्या कर सकता था ? फिर भी उसे इस घटना से करारी चोट लगी। चिन्ता ही चिन्ता में वह घुलने लगा। सदोप स्त्री के निर्दोप सिद्ध होने की अपेक्षा उसे स्वय निर्दोप होते हुए सदोष-कलंकित और कारावास-वासी बनने का अत्यन्त दुःख था। वह इस दुःख के मारे खाना-पीना और सोना तक भूल गया। सारी रात जागते-जागते व्यतीत करता था। कारागार के पहरेदार जब कभी रात्रि के समय उसे आवाज देते, तभी वह जागता हुआ मिलता। रात-दिन उसके चहरे पर उदासीनता छाई रहती थी। पापी के अन्तःकरण मे पाप का फल भोगते समय एक प्रकार की निश्चिन्तता और सन्तुष्टि-सी लक्षित

होती है। वह निश्चिन्तता और सन्तुष्टि सुनार के पास भी नहीं फटकती थी। अकृत कर्म का फल यों तो किसी को भोगना न पड़ता, पर पुराकृत कर्म का फल जब किसी असत्य आधार पर भोगना पड़ता है तो विकलता अवश्य होती है। स्वर्णकार अपने किसी पुराने कर्म का फल भोग रहा था पर उस भोग का निमित्त बन गया था उसीसे उसे हार्दिक सन्ताप था। वह बेचैन था। पहरेदारों को स्वर्णकार की जागरूकता का: पता चला और धीरे-धीरे यह बात राजा के कानों तक पहुँच गई। राजा ने स्वर्णकार को अन्तःपुर का पहरेदार बना दिया।

अन्तःपुर का पहरा देते-देते स्वर्णकार ने जो कुछ देखा उससे उसके रोंगटे खड़े हो गये। उसकी आत्मा तिल-मिलाने लगी। उसे अन्तःपुर की घटनाए देखकर कुछ-कुछ सोन्तोप-सा होने लगा। वह सोचने लगा बड़े-बड़े घरानों का भी यह हाल है तो साधारण कुटुम्बों में ऐसा होना क्या आश्चर्य-जनक है? इस प्रकार कुछ सन्तोप हो जाने के कारण उसकी वेदना न्यून हो गई और उसे नींद आने लगी। एक दिन वह इतना अधिक सोया कि पहर भर दिन चढ तक उसकी निद्रा भंग ही नहीं हुई। यह बात राजा को मालूम हुई तो उसने फौरन ही सुनार को बुलवा कर पूछा—'आज तुम्हें इतनी नींद कैसे आ गई? साफ साफ कहो?

सुनार—महाराज! आप अन्नदाता हैं क्षमा करें, नींद आने को मेरा अपराध समझ लें। उचित दण्ड दे दें। अपराध बन पड़ा है।

राजा—अपराध की बात नहीं कहता। सोना कोई अपराध

भी नहीं है। मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि तुम्हें पहले नींद नहीं आती थी, अब क्यों आने लगी ?

सुनार—हुजूर ! चाहे सो दण्ड दीजिए, पर बस यही न पूछिए।

राजा—तुम्हारी नींद का कारण गोपनीय है तब तो अवश्य बताना पड़ेगा ! जल्दी करो, निस्संकोच होकर कहो।

सुनार—पृथ्वीराज ! एक साधारण व्यक्ति के विपय में सत्य भाषण करने का फल कारागार मिल सकता है तो राजघराने के विपय में सत्य बोलने से यमलोक नहीं मिलेगा ?

राजा—नहीं, मै तुम्हें माफ कर दूंगा, सच कहो।

सुनार—दीनबन्धु ! पहले मेरा क्या ख्याल था कि दुराचार की क्रीड़ा मेरे ही घर पर होती है। इससे मुझे तीव्र मनोव्यथा थी। अब यह देख कर कुछ संतोष हो गया है कि यह क्रीड़ा सर्व-व्यापिनी है। इससे मेरी व्यथा कम हो गई और नींद आने लगी है।

राजा ने सुनार को एकान्त स्थान में ले जाकर पूरी घटना सुनी ! रानी के पतन का हाल सुनकर उसे अत्यन्त दुःख हुआ। राजा ने सारी घटना को प्रत्यक्ष देख लेना उचित समझा। अतः वह रात को झूठी नींद में सो गया। जब रानी ने राजा को सो गया समझ लिया। तब उसने अपने प्रेमपात्र महावत को कुछ संकेत किया। महावत ने हाथी की सूंड के द्वारा रानी को महल से बाहर निकाला और कुछ समय बाद इसी प्रकार महल में पहुँचा दिया।

राजा को रानी का यह दुराचार देखकर अत्यन्त घृणा हुई

और गुस्सा आया। उसने रानी, महावत और हाथी को देश-निकाले का दण्ड दिया। कुछ लोगों ने कहा—'अन्नदाता, इसमें हाथी का क्या दोष है ? वह तो महावत की आज्ञा मान कर कार्य करता था और वह उसका कर्त्तव्य था। अतः हाथी को रहने दीजिए। राजा ने यह बात मान ली और रानी एवं महावत को निर्वासन का दण्ड दिया। रानी और महावत दोनों जा रहे थे। रास्ते में एक मन्दिर में ठहरे। रात का समय था। सुनसान मन्दिर में एक चोर आया। चोर हट्टाकट्टा और नौजवान था। रानी का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया और वह चोर के साथ चलदी।

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

एक वार विवेक—हिताहित के ज्ञान से शून्य होने पर शत-मुख पतन होता है। ऐसे पतन की सीमा नहीं रहती।

चोर बड़ा चालाक था। उसने महावत को स्वतन्त्र छोड़ना अपने मार्ग में बाधक समझकर उसे फंसाने का भी उपाय किया वह चोरी के कुछ सामान की एक गठरी महावत के पास रखकर गया। चोर और रानी के चले जाने के बाद वहां पुलिस आ धमकी। पुलिस ने महावत को ही चोर समझ कर पकड़ लिया और चोरी का माल अपने कब्जे में ले लिया।

रानी का चुपचाप खिसक जाना, चोरी का माल आ जाना, पुलिस का आ पहुँचना इस प्रकार एक साथ अनेक अनोखी घटनाएं देख कर महावत के आश्चर्य का पार न रहा। उसे इतनी अधिक घबराहट हुई कि वह उसे सहन नहीं कर सका। भय के मारे उसका रोम-रोम कांपने लगा। सोचने लगा—'मैंने अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया, अनीति और अधर्म का आचरण

करके लोक-परलोक बिगाड़ा, इन विषयों के जाल में पड़ कर मैंने अपना जीवन बर्बाद कर दिया। मेरे भयंकर पापों का फल अब मुझे भोगना ही पड़ेगा। हाय! न जाने अब मेरी क्या-क्या दुर्गति होगी?' इस प्रकार अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करते हुए भय के कारण उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। अन्तिम समय में पश्चात्ताप का भाव आ जाने के कारण वह मर कर देव योनि में उत्पन्न हुआ।✓

रानी को लेकर चोर दूसरे मार्ग पर जा रहा था चोर को रास्ते में विचार आया—'यह रानि है। राजा की विवाहिता स्त्री है। फिर भी इसने राजा को धोखा दिया है। इसके बाद महावत के साथ इसने अपना नाता जोड़ा। बेचारे महावत ने इसके लिए देश-निर्वासन का अपमान सहन किया और इसने उसके साथ भी विश्वासघात किया। यह विना ही किसी कारण महावत को छोड़ कर मेरे साथ चली आई है ऐसी उच्छृङ्खल और कलंकिनी कुलटा का क्या भरोसा किया जा सकता है? इसे ज्यों हि कोई मुझ से अच्छा दूसरा पुरुष मिलेगा त्यों ही मुझे त्याग कर उसके साथ चलती बनेगी। साथ में न जाने मेरा क्या-क्या ले जायगी? साथ ही यह मेरी गिफ्तारी का भी कारण बन सकती है। अतएव इसका विश्वास न करके इसे अच्छा सबक सिखाना चाहिए। इसे यह बता देना चाहिए कि पुरुष-जाति इतनी अन्धी नहीं है कि वह तुम जैसी कुटलाओं पर विश्वास करके बेवकूफ बने।'

इस प्रकार सोचते-सोचते वह रानी के साथ एक नदी के किनारे आ पहुँचा। नदी में गहरा पानी था। चोर ने रानी को शिक्षा देने का यही अच्छा अवसर देखा। उसने कहा—'प्यारी!

पहले मैं जाकर साथ का सामान उस पार रख आता हूँ, फिर आकर तुम्हें ले चलूंगा'। इस प्रकार आश्वासन देकर उसने रानी के पास जो आभूषण आदि थे सब ले लिए और नदी में तैरता हुआ परले पार जा पहुँचा।

रानी इस पार खड़ी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। चोर ने उस पार से कहा—'अरी दुराचारिणी! तू अपने कपटाचार से राजा और महावत आदि को धोखा देकर समझती है कि सभी पुरुष बुद्धू होते हैं। सभी पुरुष इतने भोले नहीं होते कि वह सूझते हुए भी अन्धे बन जाएं। तू राजा की न हुई, महावत की भी न हुई तो मेरी कैसे होकर रहेगी? जा कलंकिनी अपने पापों का फल भोग। मैं यह चला।'

इस प्रकार रानी की भर्त्सना करके और उसके समस्त आभूषण लेकर वह चोर नौ दो ग्यारह हो गया। रानी ने यह सुना और देखा तो उसके होश ठिकाने न रहे। आंखों के आगे अन्धकार छा गया। वह किंकर्त्तव्य मूढ़ होकर, सब ओर से निराश देखती हुई नदी के किनारे पर बैठ रही। उसे कुछ सूजता नहीं था। क्या करें? किधर जाए? किसका सहारा ले? सोचा—पास में कुछ बचा नहीं—चोर का हृदय चुराने का मैंने प्रयत्न किया था पर वह उल्टे मुझ पर डाका डाल कर चलता बना। यह कलंकित मुख किसके आगे ले जाकर दिखाऊं?'

महावत मरकर देवयोनि में उत्पन्न हुआ था। वह शृगाल का रूप धारण करके वहां आया। उसने नदी में से एक मछली पकड़ी। उसे मुख में रखे हुए ही वह दूसरी मछली पकड़ने झपटा। इस झपट्टे में जो मुंह फाड़ा तो मुंह की मछली भाग

निगल गई और नयी मछली भी पकड़ में न आई। रानी अन्य-मनस्क भाव से बैठी हुई बगुले की चेष्टा देख रही थी। उसने कहा—'अरे बगुला! तू बड़ा मूर्ख है। दूसरी मछली पकड़ने गया तो मुंह की भी गमा बैठा।

बगुला ने कहा—'महारानीजी! मै तिर्यञ्च हूँ। मुझमें बुद्धि ही कितनी? फिर भी मैं आपकी तरह चतुर नहीं हूँ कि राजा को छोड़कर महावत के पीछे दौड़ता फिरूं और महावत को भी त्यागकर चोर के साथ भाग जाऊ। मैंने दो मछलियां गंवाई है और आप श्रीमतीजी तीन प्राणनाथों से हाथ धो बैठी है। सच ही लोग कहते हैं—दूसरों की आंख की फूली दिखाई देती है पर अपना टेट भी दिखाई नहीं देता। कहिए, आप और मुझमें कौन ज्यादा मूर्ख है?

रानी बगुला के व्यंग से मर्माहित हो गई। उसके कलेजे में जैसे विष भरा तीखा तीर आकर लगा। लज्जा से सिर नीचा हो गया। थोड़ी देर बाद बोली—'तुम तो साधारण बगुला नहीं जान पड़ते हो। सच कहो—कौन हो और क्यों मुझ जैसी असहाय अवस्था में पड़ी हुई अवला का उपहास करने आये हो।

बगुला—आप और असहाय! जो क्षणभर में पुरुषों को अपने चंगुल में फांस सकती है, वह महिला अवला है या सवला?

रानी—दया करो तुम्हारे व्यंग वाणों को सहन करने की शक्ति इस समय मुझ में नहीं है। सीधी तरह बताओ, तुम कौन हो? यहां किस उद्देश्य से आये हो।

बगुला—'मैं और कोई नहीं हूँ, तुम्हारे प्रेम की ज्वाला में जल कर मरने वाला पतंगा हूँ। मैं महावत हूँ और किसी पुण्य के उदय से देव-योनि में उत्पन्न हो गया हूँ।'

रानी—'माफ करना महावत, मुझ मायाचारिणी को। जहां कुमति वहां कुगति होती है। इस सत्य का मैं प्रत्यक्ष प्रमाण हूँ। मेरे पापों ने मुझे धूल में मिला दिया। आज मेरी जो दुर्गति हो रही है उसे तुम खूब जानते हो। विषय-लम्पटता का शिकार होकर मनुष्य, मानव से दानव बन जाता है। मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ। चाहो तो मनमाना बदला ले सकते हो। यदि मुझपर दया आती हो तो मेरा उपकार भी कर सकते हो।

अन्त में बगुला के हृदय में करुणा का संचार हुआ और दैवी शक्ति से उसने रानी को अभीष्ट स्थान पर पहुँचा दिया।

पद्मसेना ने जम्बूकुमार के सामने यह दृष्टान्त कहकर उसका इस प्रकार उपसंहार किया—प्राणनाथ! यह दृष्टान्त है इसका द्राष्टान्तिक यही है कि जैसे रानी ने प्राप्त सुखों की उपेक्षा करके अप्राप्त सुखों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उस प्रयत्न के फल स्वरूप उसे सभी सुखों से हाथ धोना पड़ा उसी प्रकार आपको भी निराशा भोगनी पड़ेगी। नीतिकार कहते हैं कि—

चलत्येकेन पादेन तिष्टत्येकेन बुद्धिमान।

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष एक पैर से चलता और एक पैर से ठहरा रहता है। तात्पर्य यह है कि जब तक कोई नई बात निश्चित नहीं कर लेता तब तक पुरानी बात नहीं

छोड़ता । आप अनिश्चित सुखों की कामना से निश्चित सुखों का परित्याग कर रहे हैं। यह क्या बुद्धिमता का मार्ग है ? देव ! इस झंझट में न पड़िये। इस उलझन को दूर कर दीजिए। हमारे इस नन्दन-कानन को मरुस्थल न बनाइए। आप कष्टों को आमन्त्रण देकर न बुलाइए। इस सौन्दर्य का उपभोग कीजिए।

पद्मसेना की बात सुनकर जम्बूकुमार कहने लगे—पद्मसेना! तुम जिसे सौन्दर्य समझती हो और जिसके उपभोग का मुझे लालच दे रही हो, उसके वास्तविक स्वरूप का विचार तो करो। शरीर की असली स्थिति को देखो। यह मानव-शरीर कितना घृणास्पद है। यह जितना घिनौना है उतना घिनौना संसार में दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं मिल सकता। शरीर के विषय में ठीक ही कहा गया है:—

है बाहर का रूप मनोरम, सुन्दरता साकार।
बहिर्दृष्टि मोहित न होते हैं, विनय विवेक बिसार।
भीतर भरा अशुचि भण्डार।
हंस का जीवित कारागार ?

रुधिर मांस चर्बी पुरीष की है थैली अलबेली।
चमड़े की चादर ढकने को सब शरीर पर फैली।
प्रवाहित होते है नव द्वार,
हंस का जीवित कारागार।

निकल रहा है जिस भोजन से सौरभ का गुब्बार।
किसकी संगति से षटरसमय स्वादपूर्ण आहार—
पलक में बन जाता निहार-
हंस का जीवित कारागार।

विविध व्याधियों का मन्दिर तन रोग शोक का मूल।
दह भव परभव में शाश्वत सुख के सदैव प्रतिकूल।
ज्ञानी को राग-परिहार,
हंस का जीवित कारागार।

सागर का सारा जल लेकर धो डालो यह देह।
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह।
न शुचि होगा यह किसी प्रकार,
हंस का जीवित कारागार।

गाय भैंस पशुओं की चमड़ी आती सौ-सौ काम।
हाथी दांत तथा कस्तूरी कितनी मंहगे दाम।
नरतन किन्तु निपट निस्सार,
हंस का जीवित कारागार।

पावन वस्तु अपावन होती पा शरीर-संयोग।
फिर भी चेतन ? चेतन तुझको कैसे भीषण रोग ?
इसीसे बढ़ता है संसार,
हंस का जीवित कारागार।

पद्मसेना ! यह उद्‌गार मिथ्या है ? इनमें शरीर की असली अवस्था का चित्रण किया गया है। सचमुच शरीर अपवित्र वस्तुओं से निर्मित होता है और अपवित्र वस्तुओं का ही यह पिंड है। चमड़ी के भीतर क्या भरा है ? उसकी ओर दृष्टि पड़ते ही घृणा होने लगती है क्या तुम इसी शरीर की सुन्दरता का उपभोग करने को मुझे ललचा रही हो। क्या तुम यह समझती हो कि यह बाह्य सौन्दर्य भी चिरस्थायी है ? नहीं। यह तो चार दिनों की चांदनी है। एक ही चेचक जैसी भयंकर बीमारी का आक्रमण होने पर सारा सौन्दर्य कपूर की भांति उड़ जाता है। फिर सुन्दरता भयंकरता के रूप में परिणित हो

जाती है। अतएव इस शरीर पर राग करना व्यर्थ है और इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होना मूढता है।

जो विवेकशाली पुरुष हैं वे इस शरीर को आत्मीय कल्याण का वाहन बनाते हैं। इस क्षणभंगुर शरीर के द्वारा शाश्वत सुख का मार्ग सुगम बनाना चाहिए। इस मल-मूत्र से परिपूर्ण काया से निर्मल आत्मगुणों की प्राप्ति में सहायता मिलती है तो इस अवसर को चूकना नहीं चाहिए। जो विवेकान्ध शरीर का सदुपयोग नहीं करते और कौआ-कुत्तों की भांति इससे इन्द्रिय-तृप्ति करते हैं। वे अपने पैर पर कुल्हाड़ा मारते है। अतएव प्रिये! गहरा विचार करो। दूर की सोचो। प्रत्येक वस्तु को ऊपरी दृष्टि से देखने से उसका असली स्वरूप ज्ञात नहीं होगा। हम सब को अन्तदृष्टि बनना चाहिए।

एक महात्मा कहते हैं:—

मणुआणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण ॥
तेसिं विरमणकज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ॥

अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों से मनुष्य का शरीर विधाता ने अशुचिमय-अपवित्र बनाया है जिससे कि वे इससे शीघ्र विरक्त हो जावे। परन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य फिर भी शरीर पर अनुराग रखता है।

प्रिये! तुम कहती हो, हम अबला नहीं है। सो ठीक है। मैं स्वयं कहता हूँ कि प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्ति का धारक है। तुम्हारी आत्मा में भी अनन्त शक्ति विद्यमान है। पर याद रखो, शक्ति दुधारी तलवार है। उसमें अपना हित भी किया जा सकता है और अहित भी किया जा सकता है। सदुपयोग करने से वा

सुखजनक होगी और दुरुपयोग करने से दुख उत्पन्न करेगी। शस्त्र से अपना हनन भी किया जा सकता है और अपना रक्षण भी किया जा सकता है। बुद्धिमान मनुष्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके उससे अपना अहित नहीं करते। तुम भी अपनी शक्ति का सदुपयोग करो, । उसके द्वारा अप्रकट अनन्त शक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा करो। आत्मरक्षा करो।

तुम कहती हो कि मैं भोलीभाली नहीं हूँ, पर तुम्हारी बातें यह प्रमाणित करती है कि वास्तव में तुम बहुत भोली हो। जिस बात का समर्थन करने जाती हो उसी का खण्डन भी करती जाती हो। तुम्हारा दृष्टान्त ऐसा ही उल्टा है। उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भोगों के लोभ में पड़ कर मनुष्य दुःख ही पाता है। भोग भोगने से भोग की अभिलाषा शान्त नहीं होती वरन बढ़ती जाती है और भोगी का अधिक से अधिक पतन होता चला जाता है। मेघरथ का उदाहरण इसके लिए ज्वलंत उदाहरण है।

सुख पाने की इच्छा से दुःख के दुर्गम मार्ग पर न चलो। जीवन की इच्छा रखने वाले को विष का भक्षण करना उचित नहीं है। मैंने जो निश्चय :किया है वह अत्यन्त पवित्र, कल्याण-प्रद और सुख रूप है। मै उससे विचलित नहीं हो सकता।

किसी समय इसी भारतवर्ष में कोष्टक नाम का एक गांव था। उस गांव में मेघरथ और विद्युन्माली नाम के दो नवयुवक रहते थे। एक बार दोनों ने किसी विद्या की प्राप्ति के लिए बाहर जाने का निश्चय किया। दोनों तत्काल तैयार हो गये। मार्ग में उन्हें एक मन्त्र विशेषज्ञ मिला। दोनों नवयुवकों ने उनसे अनुनय विनय करके कोई अच्छा-सा मन्त्र सिखाने की प्रार्थना की।

मन्त्र विशेषज्ञ बोला—'मैं मन्त्र जानता हूँ और तुम्हें सिखा देने में भी मुझे ऐतराज नहीं है पर उसकी साधना अत्यन्त कठोर है। यदि साधना ठीक तरह न कर सकोगे, साधना करते समय डिग जाओगे तो परिणाम बड़ा भयंकर होगा। और यदि निश्चलता के साथ साधना कर सके तो बस छह माह के भीतर ही भीतर तुम्हें राज्य प्राप्त हो जायगा।'

मन्त्र विशेषज्ञ की बात सुन कर दोनों नवयुवक बोले—महानुभाव! हम लोग दृढ़ता के साथ मन्त्र साधना करेंगे। आप जैसी विधि बताएंगे उसका पूर्ण रूप से अनुसरण करेंगे। शुद्ध जाप करेंगे और उस मन्त्र का दुरुपयोग नहीं करेंगे।

मन्त्र विशेषज्ञ बोला—'मैं जो मन्त्र बतलाता हूँ उसे सिद्ध करने के लिए मेहतर की कन्या से विवाह करना पड़ेगा। फिर उसके सामने नग्न होकर इस मन्त्र का जाप करना होगा। इस समय उस स्त्री के हावभाव में पड़ कर यदि ब्रह्मचर्य से तनिक भी च्युत हो गये तो पागल हो जाओगे।'

दोनों नवयुवकों ने इसके बाद मन्त्र सीखा और फिर आगे चल दिये। आगे जाकर दोनों ने मेहतर की कन्याओं से विवाह किया और पूर्वोक्त विधि के अनुसार मन्त्र साधने को बैठे। विद्युन्माली नामक नवयुवक स्त्री के हावभावों पर विजय प्राप्त न कर सका। वह उसके कटाक्ष-बाणों से घायल होकर ब्रह्मचर्य से डिग गया और डिगते ही पागल हो गया। उसका दिमाग बिगड़ गया। परन्तु मेघरथ ने अपने मन को मन्त्र की साधना में तन्मय कर लिया। उसे स्त्री के हाव-भाव और कटाक्ष अपनी एकाग्रता और साधना से चलित न कर सके। उसका मन पर्वत की तरह

अकम्प हो गया था। उसके सामने सिवाय मन्त्र के शेष संसार का मानों अस्तित्व ही नहीं रह गया था। ऐसी दृढ़ता के कारण उस की साधना सफल हो गई। मन्त्र की अधिष्ठात्री देवी उसके सामने उपस्थित हुई और उसने मेघरथ की इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वीकृति दे दी। अन्त में मेघरथ छह माह के भीतर ही राजा हो गया। उसके सुखों का पार न रहा।

श्री जम्बूकुमार कहने लगे—प्रिये! यह दृष्टान्त है। इसके भाव पर विचार करो। दरिद्र विद्युन्माली और मेघरथ के समान संसार के समस्त प्राणी हैं। जैसे वह दोनों विषय-सुख के त्रास में फंसे हुए थे उसी प्रकार सांसारिक प्राणी विषयों के वशवर्त्ती हो रहे हैं। वे जैसे विषय-सुख की खोज में बाहर निकले उसी प्रकार जगत् के जीव जन्म-जरा-मरण रूपी अटवी में भ्रमण करते हुए विषय-सुखों की खोज कर रहे हैं। उन्हें जैसे मन्त्र-विशेषज्ञ मिला था उसी प्रकार संसारी जीवों को सद्गुरु मिल जाते हैं। मन्त्रज्ञ ने जैसे सुख की प्राप्ति के लिए मन्त्र और उसकी साधन विधि का उपदेश दिया उसी प्रकार सद्गुरु महाराज ने सम्पूर्ण सुख प्राप्त करने के लिए नवकार मन्त्र का उपदेश दिया है और साथ ही सत्तरह प्रकार के संयम की साधना भी बता दी है। जैसे विद्युन्मा[illegible]ली स्त्री के हाव भाव का शिकार बन कर पागल बन गया उसी प्रकार संसार के प्राणी विषयभोगों के जाल में फंस कर साधना से च्युत हो रहे हैं। वे हिताहित के ज्ञान से हीन होने के कारण उन्मत्त के समान हैं। प्रिये! मैं ऐसा उन्मत्त नहीं बनूंगा। मैं अपनी साधना से रंच मात्र भी स्खलित न होऊंगा। मैं मेघरथ के समान निश्चल भाव से साधना करके मोक्ष का

अकटक और असीम राज्य प्राप्त करूंगा। मैं बाईस परिषहों के कारण च्युत न होऊंगा और न वासनाएं मुझे पथभ्रष्ट बना सकेंगी। मै महावीर का अनुयायी हूँ। महावीर का सच्चा अनुयायी कम से कम वीर तो होता ही है। मैं कायर बन कर महावीर-सन्तान को कालिमा न लगाऊंगा। मुझे विद्युन्माली न समझो। मै दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ। मै तो यह चाहता हूँ। कि तुम भी अपने आत्मकल्याण का विचार करो और जगत् के जंजाल से बच कर धर्म की छत्र-छाया में आओ।

जम्बूकुमार का यह उत्तर सुन कर उनकी तीसरी पत्नी पद्मसेना भी शेष पराजित पत्नियों के साथ जा बैठी।

पद्मसेना को पराजित हुई देखकर जम्बूकुमार की चौथी पत्नी से न रहा गया। वह गर्व के साथ आई और जम्बूकुमार के सामने खड़ी हो गई। उसका नाम कंचनसेना था। वह कहने लगी—प्रियतम! अनपढ़ और असभ्य मनुष्य भी अबला के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते है। आप बुद्धिमान है, शास्त्रज्ञ है, धर्म के मर्म को जानते है और नीति में भी निपुण है। फिर आप उतावले होकर ऐसा अनुचित आचरण क्यो कर रहे है? श्री-सुधर्मा स्वामी ने आपको उन सत्पुरुषों का इतिहास सुनाया ही होगा, जिन्होंने पहले अपने सांसारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया, गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए मुनिधर्म का धीरे-धीरे अभ्यास किया, फिर गृहस्थी का भार अपने उत्तराधिकारी को सौंप कर मुनिदीक्षा ग्रहण की। आप शायद उन पुण्य पुरुषों से भी आगे बढ़ जाना चाहते है। इसीसे कल विवाह हुआ और आज दीक्षा धारण करने पर उतारू हो रहे है। हम स्वयं जिन

धर्म की अनुयायी है। और धर्माराधन करने में विघ्न उपस्थित करना उचित नहीं समझती। फिर भी जो बात उचित है, संगत है और विधेय है उसे कहना ही चाहिए। मैं केवल यही निवेदन करना चाहती हूँ कि आप उत्तराधिकारी छोड़कर ही दीक्षा धारण करें। उस समय आपके मार्ग में कोई भी बाधा उपस्थित न करेगा। जैसे आपके पिताजी ने आपको घर सौंपा है उसी प्रकार आप भी अपने पुत्र को घर का भार सौंप कर जाइए। उस समय हम आठों में से एक भी आपकी दीक्षा का विरोध नहीं करेंगी। यदि आप भावावेश में आकर मेरी इस साधारण सी बात को भी ठुकरा देंगे तो आपको इसी प्रकार पश्चात्ताप करना होगा जैसे उस किसान को करना पड़ा था। कथा इस प्रकार है—

भारत वर्ष में सूरपुर नामक एक गांव था। उसमें धुरा नामके एक चौधरी रहते थे। किसानी करना उनका काम था। चौधरी ने एक बार अपने खेतों में अनाज बोया। खेतों की रखवाली करने के लिए उन्होंने वृक्षों के ऊपर माला (मढ़ैया) बांधे और वह वहीं रहने लगे। पशु-पक्षी जो खेत में चरने या चुगने के लिए आते थे उन्हें चौधरी गोफण में पत्थर रखकर मारता। पर यह पद्धति उसे कष्टकर प्रतीत हुई अतएव उसने पशु-पक्षियों को भगाने की नई तरकीब निकाली। जब कोई पशु या पक्षी खेत के नजदीक आता तो वह शंख की ध्वनि करके उन्हें भगा देता था। ऐसा करते-करते कुछ दिन निकल गये।

एक बार कुछ चोर चोरी का माल लेकर इधर से निकले। उन्होंने उपयुक्त स्थान समझकर चौधरी के खेत के पास ही चोरी का माल बांट लेना चाहा। सारा माल खोलकर चोर बैठे ही

कि घुराजी चौधरी ने पक्षियों को उड़ाने के लिए जोर से शङ्खनाद किया। शंखध्वनि सुनते ही चोरों के छक्के छूट गये। उन्होंने समझा—पुलिस आ पहुँची है और शीघ्र ही हमें गिरफ्तार कर लेगी। अतएव माल को वहीं पड़ा छोड़कर चोर अपनी-अपनी जान बचाने के लिए नौ-दो ग्यारह हो गये। थोड़ी देर के पश्चात् चौधरी अपने माल से नीचे उतर कर इधर-उधर घूमने निकला। उसे चोरों का छोड़ा हुआ धन अनायास ही मिल गया! उसने हार्दिक प्रसन्नता के साथ उसे एक कपड़े में बाधा और घर जाकर अपनी स्त्री के हवाले कर दिया,।

स्त्री ने उस धन को देखा तो फूलकर कुप्पा हो गई। कहने लगी—प्राणनाथ! संसार की सब झंझटे धन के लिये ही करनी पड़ती है। खेती करने में चोटी का पसीना एडी तक बहाना पड़ता है। रात-दिन जागरण करना पड़ता है यह सब धन ही के लिए करना पड़ता है। सौभाग्य से हम लोगो को अनायास ही यह बहुत-सा धन मिल गया है। अब खेती करने की क्या आवश्यकता है? जीवन-निर्वाह के लिये इतना धन तो पर्याप्त है।

पर किसान चौधरी का लोभ इस समय सौ गुना बढ़ गया था लक्ष्मी जब आती है तो सतोष का सहार कर आती है और लोभ को साथ में लाती है! शास्त्रकार ने यथार्थ ही कहा है कि—'जहा लाहो तहा लोहो।' अर्थात् ज्यों लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता चला जाता है! चौधरी ने कहा—'पगली! जिस कार्य से धन की प्राप्ति हुई है उसे कैसे छोड़ा जा सकता है? इसके सिवाय मै चाहता हूँ कि बाप-दादा की उपार्जित की हुई लक्ष्मी का उपयोग न करके अपने हाथों से धनो-

पार्जन करके ही जीवन-निर्वाह किया जाय। एक कवि ने क्या सुन्दर कहा है:—

तायविढ्त्ता लक्ष्मी नूण पुत्तस्य होइ सा भगिणी।
होई परस्स परित्थी सयं विडत्ता तओ जुत्ता॥

अर्थात् पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी पुत्र के लिए भगिनी के समान है उसका भोग करना धार्मिक पुरुषों के लिए पाप है। तथा दूसरों द्वारा उपार्जित लक्ष्मी परस्त्री के समान है अतएव उसका भी उपयोग करना अनुचित है। इसलिए स्वयं उपार्जित की हुई लक्ष्मी का ही भोग करना उचित है।

इस प्रकार चौधरी का वचन सुनकर चौधराइन बोली— 'प्रियतम! आप दुराग्रह के मारे मेरी राय न मानें पर शंखध्वनि से बार-बार लक्ष्मी नहीं प्राप्त हो सकती। प्रत्युत मुझे भय है कि कहीं इससे और कोई अनर्थ न उत्पन्न हो!'

अन्ततः चौधरी ने अपनी पत्नी की सलाह न मानी। वह टेकरी पर गया और वहां जाकर फिर शंक फूंकने लगा। चोरों ने दूसरी तीसरी बार शंखध्वनि सुनी तो उन्हें वास्तविकता मालूम हो गई। वे समझ गये—यहां पुलिस नहीं है। हम लोग वृथा ही भयभीत होकर भागे थे। वे फिर लौट कर वहां आये और चौधरी को पकड़ कर उसकी अच्छी मरम्मत करने लगे। चोरों ने चौधरी को खूब मारा और अपना धन मांगा। लाचार हो चौधरी ने घर जाकर वह सारा धन चोरों को लौटा दिया और साथ ही अपनी गांठ का भी खोया। ब्याज में मार पड़ी सो अलग ही। कहा भी है:—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षं हि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति॥

अर्थात् अन्याय का धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक ठहरता है। ग्यारहवां वर्ष लगते ही वह मूल के साथ नष्ट हो जाता है!

चौधरी का धन दश वर्ष भी न ठहर पाया। इसके बाद उसकी पत्नि ने कहा—देखिये, मैं कहती न थी कि बारम्बार शंखध्वनि करने से कोई अनर्थ खड़ा हो जायगा। आखिर मेरी बात तुमने अनसुनी कर दी और उसका फल भुगतना पड़ा। जो कुछ मिल गया था उसी में सतोष मानकर रहते तो आनन्द से निर्वाह होता। इस प्रकार कहकर उसकी स्त्री ने उसकी खूब भर्त्सना की और दूसरे कुटुम्बी भी आजीवन उसे कोसते रहे

यह दृष्टान्त देकर कंचनसेना ने कहा—प्राणाधार! किसान की पत्नी की तरह मैं आपसे कहती हूँ कि आपने किसान की भांति एक बार खूब वैभव प्राप्त कर लिया है। अब आप विशिष्ट सुख की कामना से प्रेरित होकर दूसरी बार शंख फूंकना चाहते है। पर इस से उस किसान की भांति आपको भी कहीं जीवन पर्यन्त दुःख न भुगतना पड़े! अतएव आप प्राप्त सामग्री में ही सतोष धारण कीजिए। दीक्षा लेने की बात दिल से निकाल दीजिए। इसी में आपका हमारा और कुटुम्बीजनों का कल्याण है।

कंचनसेना की बात सुनकर जम्बूकुमार अत्यन्त शान्ति से कहने लगे कचनसेना! तुम्हारा कथन तो सर्वथा निर्दोष है पर उसका उपसंहार तुमने ठीक नहीं किया। तुम जो अभिप्राय अपने कथन का निकालना चाहती हो उससे उल्टा अभिप्राय निकलता है। किसान चौधरी की दुर्दशा का कारण लोभ था। यदि वह लोभ का परित्याग कर देता तो उसे दुःख न भोगना पड़ता सांसारिक

विभूति की लालसा दुःख का कारण है। यही तो मैं भी कह रहा हूँ और इसी के अनुसार आचरण करना चाहता हूँ। अतएव तुम्हारे कथनानुसार ही मुझे नहीं पछताना पड़ेगा। जो विषय-सुखों में फसेगा उसी को पश्चात्ताप करना होगा, जैसे कि एक वन्दर को पछताना पड़ा था।

कचनसेना—किस वन्दर को पछताना पड़ा था ? तनिक स्पष्ट करके समझाइए ?

जम्बूकुमार-एक बगीचा था। वह तरह-तरह के वृक्षों, लताओं, फल फूलों से युक्त, अतिशय रमणीय और मनोहर था। उसमें वन्दरों का एक यूथ रहता था। सब वन्दर मनचाये फल-फूल खाते और आनन्द के साथ रहा करते। उनमें एक वन्दर तरुण था। वह एक वन्दरी को अपनी बनाने के लिए एक बूढ़े वन्दर से लड़ पड़ा। बूढ़ा वन्दर साहसी था। उसने तरुण को मार भगाया। वह तरुण वन्दर उस यूथ से भाग कर किसी जंगल में चला गया। प्यास के मारे उसके प्राण निकले जा रहे थे। उसने इधर-उधर घूम-फिर कर पानी की तलाश की अन्त में उसे एक गड्ढे में पानी मिल गया। वह उस गड्ढे में जाकर गिर गया। गड्ढे में गिरने से पानी का चिखल हो गया। उस चिखल पानी को न पी कर उसने गीली मिट्टी शरीर के ऊपर लपेट ली। लपेटने [illegible] और थोड़ी देर तक तो उस मिट्टी से उसे बड़ी शान्ति जान पड़ी पर सूर्य के आताप और शरीर की गर्मी से वह गीली मिट्टी सूखकर तड़कने लगी। मिट्टी ज्यों-ज्यों तड़की जाती थी त्यों त्यों उसकी चमड़ी जैसे फटने भी लगी और उसे बड़ी वेदना होने लगी। वह वेदना का मारा इधर से उधर और उधर से

इधर दौड़ने लगा और अपनी मूर्खता-पूर्ण करने के लिए अपने को ही कोसने लगा। बन्दर ने अल्पकालीन सुख के लिए महान् दुःख भोगा !

कचनसेना ! यह बन्दर की कथा है। इस पर जरा गौर से विचार करो। बन्दर की तरह पाप रूपी गीली मिट्टी को संचित करना सरल है पर जब उसका फल भुगतने का समय आता है तब बड़ी ही कठोर वेदना का अनुभव होता है। सचमुच यह विषय-विकार घोर यातनाओं के जनक है। फिर भी संसारी प्राणी इन्हें सुख रूप मानकर इसमें अनुरक्त रहते है। यह कैसे आश्चर्य की बात है ? ठीक ही कहा है:—

दुक्खं सुह ति मन्नइ जीवो विषयामिसेसु अणूरत्तो।
पणरवि वहु विनडिआ न मुणइ आउं परगिलन्तं॥

अर्थात् विषय रूपी मांस का अनुरागी यह संसारी जीव दुःख को ही अज्ञान के कारण सुख रूप मानता है। वह भोगों में ऐसा आसक्त हो जाता है कि प्रतिक्षण नष्ट होती आयु को भी वह नही जान पाता।

शास्त्रकार कहते हैं:—

खणमित्तसुक्खा वहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
ससारमोक्मस्स विपक्खभूया,
खाणी अणस्थाण उ कामभोगा॥

अर्थात् कामभोग एक क्षण सुखदायक प्रतीत होते हैं परन्तु चिरकाल तक दुःख देते है। इनमें जरा-सा सुख है पर दुःख परिणाम में अत्यधिक है। यह विषयभोग संसार से मुक्त होने के मार्ग में बाधक है और विविध प्रकार के अनर्थों की खान है।

कंचनसेना ! जो व्यक्ति विवेकशील हैं उन्हें इन अनर्थकारी विषयभोगों से दूर से ही बचना चाहिए। यह विषय-सुख तलवार की तीखी धार पर लिपटे हुए शहद के समान हैं। चाटते समय शहद का थोड़ा-सा मिठास मालूम होता है पर जीभ के कट जाने से अपार वेदना सहन करनी पड़ती है इसी प्रकार विषय-सुख का क्षणिक आस्वादन करने पर इस लोक में और परलोक में असीम यातनाएं सहनी पड़ती हैं। विषयसुख दुःख के बीज है। इन बीजों से जन्म-जरा-मरण आदि की अनेक लताएं फलती-फूलती हैं। उनसे फिर अनेक दुःख उत्पन्न होते है। इस प्रकार दुःखों की परम्परा चलती रहती है। इस दुःख-चक्र में से निकलने का एक मात्र साधन संयम धारण करना है। संयम धारण करके अनादि कालीन आत्मिक मलीनता का निवारण करना प्रत्येक विवेकी का परम कर्त्तव्य है। अतएव कचनसेना ! तुम मेरे पथ का रोड़ा मत बनो। मैं कोई अप्रशस्त कार्य नहीं कर रहा हूँ।

जम्बूकुमार का कथन सुनकर कंचन सेना मौन हो रही। उसे कुछ भी उत्तर न सूझ पड़ा। तब वह भी अपनी पराजित साथिनों के पास जा बैठी।

कंचनसेना को परास्त होती देखकर शेष स्त्रियों का धैर्य नष्ट होने लगा। उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अब स्वामी किसी भी प्रकार समझाये न समझेंगे। फिर भी प्रयत्न करना चाहिए, यह सोच कर जम्बूकुमार की पांचवी स्त्री नभसेना उठी और उनके सामने आकर कहने लगी:—

नभसेना—स्वामिन् ! आप अपने वाक्चातुर्य से मेरी चार बहिनों को चुप कर चुके हैं। पर वाक्चातुर्य के द्वारा वस्तु का

ास्तविक स्वरूप नहीं बदला जा सकता। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' अर्थात् र्क का कुछ ठिकाना नहीं। जो अधिक विद्वान होता है वह अपनी ात तर्क के द्वारा सिद्ध कर लेता है। इसी से यह नहीं कहा जा नकता कि वह सत्य का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। मेरे समक्ष ेसे तर्क का अल्प मात्र भी मूल्य नहीं है। मैं ऐसे तर्क को सत्य का निर्णायक नहीं मानती। सच तो यह है कि तर्क के मेघों ने त्य रूपी तेजस्वी सूर्य को छिपा लिया है। आज तर्क के वल पर ैकड़ों ढोंगी संसार में अवतार आदि बने फिरते हैं। वस्तु का ास्तविक स्वरूप तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वह ो सहज अनुभव गम्य है। अतएव तर्क को एक किनारे धर कर ास्तविकता का विचार कीजिये।

जम्बूकुमार—नभसेना! तुम बड़ी विचित्र बात कह रही हो। र्क की निस्सारता को तर्क के द्वारा ही सिद्ध करती हो! जिस ाली पर खड़ी हो उसी को काट भी रही हो! यदि तर्क से किसी ात का ठीक निर्णय नहीं होता तो तर्क के द्वारा तर्क की निस्-ारता का निर्णय कैसे होगा?

नभ सेना— 'विषस्य विषमौषधम्।' विष का इलाज विष है। ण्टकेनैव कण्टकम्।' अर्थात् कांटा कांटे से ही निकाला जाता है र्क की निसारता भी इसी प्रकार तर्क द्वारा प्रमाणित की जा कती है।

जम्बूकुमार—तो जैसे तर्क की निस्सारता तर्क द्वारा सिद्ध हो कती है उसी प्रकार अन्य किसी वस्तु का निर्णय तर्क द्वारा ों नहीं हो सकता?

नभसेना—हो सकता है, पर होना निश्चित नहीं है। कभी

कभी तर्क विपरीत वस्तु-स्वरूप को भी युक्तिसगत बना देता है अतएव तर्क अभ्रान्त कसौटी नहीं है।

जम्बूकुमार—यों तो प्रत्येक प्रमाण कभी-कभी भ्रान्त हो जाता है पीलिया रोग वाले को सफेद शख पीला नजर आता है। तो क्या प्रत्यक्ष को भी प्रमाण-वस्तुतत्त्व निर्णायक सम्यक्ज्ञान न मानना चाहिए ?

नभसेना—वह प्रत्यक्ष नहीं है। वह तो प्रत्यक्ष सरीखा मालूम होने वाला भ्रान्त ज्ञान है। असली प्रत्यक्ष तो वही है जो कभी मिथ्या न हो।

जम्बूकुमार—तब तर्क के विषय में भी यह क्यों नहीं मान लेती ? जो तर्क वस्तु के वास्तविक स्वरूप का संकेत नहीं करता और भ्रान्ति की ओर ले जाता है वह तर्क नहीं, कुतर्क है—तर्काभास है।

नभसेना—जब तर्क और तर्काभास का भेद बताने वाला कोई साधन हमारे पास नहीं है, तब हम किसे तर्क कहें, किसे कुतर्क कहें ? इस अवस्था में भ्रांति होना अनिवार्य है ?

जम्बूकुमार—यह बात भी तो सब प्रमाणों के लिए एक सी लागु होती है। तब तो प्रमाण का कोई स्थान ही नहीं रहेगा और इच्छानुसार वस्तु का स्वरूप स्वीकार कर लेना होगा। यह क्या उचित है।

नभसेना—आप मुझे इस भूलभुलैया में डालकर पराजित नहीं कर सकते। तर्क को भाड़ में जाने दीजिए। मैं तो आपसे एक सरल और छोटा सा प्रश्न पूछना चाहती हूँ। कृपया यह बताइए कि विश्वासघात करना पुण्य है या पाप ?

जम्बूकुमार-विश्वासघात करना पाप है यह निर्विवाद है, यही नहीं मै तो विश्वासघात करने को अत्यन्त निकृष्ट और जघन्य पाप कहता हूँ।

नभसेना-तो आप हम लोगों के साथ विश्वासघात क्यों कर रहे हैं ? आपने विवाह करके हमारे साथ जीवन भर का नाता जोड़ा है। उसे एक ही दिन में तोड़ना क्या विश्वाघात नही है ?

जम्बूकुमार-नहीं, मैं तुम लोगों के साथ विश्वासघात नही कर रहा हूँ। मैंने पहले तो विवाह करना ही स्वीकार नही किया था और विवाह से पहले ही अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट कर दी थी। पर माता-पिता के आग्रह के सामने मुझे मस्तक झुकाना पड़ा फिर भी दीक्षा लेने की बात तुम लोगो पर प्रकट करदी गई थी। तुमने यह सब जानबूजकर विवाह स्वीकार किया है। इसमे विश्वा-घात कैसा ? हां तुम्हे शायद यह विश्वास होगा कि तुम सब मुझे अपने हाव-भावों से मुग्ध करलोगी तुम्हारे इस विश्वास का घात हो रहा है, पर मै इसके लिए दोपी नहीं हूँ। मैंने विश्वास दिलाकर तो उसका घात नही किया है।

नभसेना—दया सब धर्मों में श्रेष्ठ है। आप भी इसे अस्वी-कार नही कर सकते है। आप धर्म की विशेप आराधना के लिए उद्यत हो रहे है, फिर भी हमारे साथ इतना निर्दयतापूर्ण व्यवहार करना क्या उचित है ? आप हमारे जीवनाधार है। आप के बिना हमारी क्या गति होगी ? इस प्रकार हमें निराधार-निराश्रय छोड़-कर दीक्षा ले लेना कहां तक उचित है ? हमारे ऊपर आपका अनुराग नहीं है तो न सही, दया तो रखिए ! आपका विशाल

दयालुता की शीतल छाया में क्या हमें आश्रय नहीं मिल सकता !

जम्बूकुमार—नभसेना ! मैं पहले बता चुका हूँ संसार में प्रत्येक प्राणी का सुख-दुख उसके शुभाशुभ कर्म पर निर्भर है वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से दूसरे को सुखी या दुःखी नहीं बना सकता। जो मनुष्य यह सोचता है कि मैं दूसरों का पालनपोषण करता हूँ, उन्हें आराम से रखता हूँ, मेरे बिना इनका काम नहीं चल सकता, वह मिथ्या अभिमान करता है। मैं ऐसे मिथ्या अभिमान को अपने हृदय में कभी आश्रय नहीं देता। तुम यह निश्चित समझो कि तुम्हारा सुख-दुःख तुम्हीं पर निर्भर है कहा भी है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि भुज्यते तदा,
स्वयं कृत कर्म निरर्थक स्यात्॥

अर्थात् प्राणी ने पहले जैसे शुभ या अशुभ कर्म उपार्जन किये हैं उन्हीं के अनुसार वह अच्छा-बुरा फल भोगता है यदि दूसरों द्वारा दिया हुआ फल भोगा जाय तो अपने किए हुए कर्म निरर्थक हो जायेंगे।

नदी के तीव्रतर प्रवाह में बहने वाला मनुष्य यदि नदी में बहने वाले तिनके का सहारा चाहे तो क्या होगा ? तिनका क्या उसे सहारा दे सकेगा ! कदापि नहीं ! इसी प्रकार संसार के दुःखों से दुःखित कोई प्राणी सुख पाने की इच्छा से दूसरे

दुःखी ससारी प्राणी का आश्रय चाहे तो वह सर्वथा व्यर्थ है। मैं जब स्वयं निराधार हूँ तब तुम्हारा आधार कैसे बन सकूंगा। अतएव अपने हृदय के दैन्य का परित्याग करो। तुम्हारी आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। उसे देखो, पहचानों, उस पर विश्वास करो। आत्मगौरव की प्रतिष्ठा करो। संसार के कष्टों से सुरक्षित करने वाला एक मात्र धर्म है। धर्म ही परम आधार है, धर्म ही त्राता है, धर्म ही नाथ है, धर्म ही सर्वस्व है। मै उसकी प्राप्ति के लिए प्राणपन से प्रयत्न करना चाहता हूँ। यदि तुम्हे शरण चाहिए, आधार और सहारा चाहिए तो तुम भी उसकी प्राप्ति के लिए तैयार हो जाओ।

नभसेना—नाथ ! आपका कथन सत्य है। धर्म ही ससार में सुख रूप है। पर धर्म अन्तरात्मा मे निवास करता है। गृहस्थी में रहते हुए भी उसकी आराधना और प्रतिष्टा हो सकती है। उसे प्राप्त करने के लिए वन में जाने की जरूरत नही है। यदि गृहस्थ में रह कर आप धर्म साधन नही कर सकते तो जगल मे जाकर कैसे साधन कर लेगे ? एक कवि ने कहा है:—

"जिनतें घर मांहि कछु न वन्यौ, तिनते वन मांही कहा वनि है ?"

अतएव आप घर में रह कर धर्म आराधना कीजिए। ग्रन्थकार कहते है:—

न्यायार्जित धनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

अर्थात् जो गृहस्थ न्याय से धन उपार्जन करता है, तत्त्वज्ञान मे निष्ठ रहता है, अतिथियों मे अनुराग धारण करता है, शास्त्रों का ज्ञाता होता है और सदा सत्य वचन वोलता है, उसे भी मुक्ति मिलती है।

जब गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है तो बनवास स्वीकार कर गृहस्थी का त्याग करने की क्या आवश्यकता है ?

जम्बूकुमार—नभसेना ! तुमने जो उद्धरण उपस्थित किये। हैं उनका यह भाव नहीं है जो तुम समझ रही हो। जिनतें घर मांहि कछू न बन्यो' इत्यादि कथन का आशय यह है कि जिस मनुष्य ने गृहस्थावास में रहते हुए गृहस्थ धर्म का पालन नहीं किया, अपनी अन्तरात्मा को धर्म से विभूषित नहीं किया, गृहस्थ के योग्य कर्त्तव्य का भी पालन न करके विषय-विलास में ही सदा उन्मत्त बना रहा, जो धर्म की महिमा को ही न समझा वह वन में जाकर भी कुछ नहीं कर सकता। अतएव इस कथन से यह सिद्ध होता है कि साधु-धर्म धारण करने से पहले गृहस्थ-अवस्था में गृहस्थ को अपने अनुकुल धर्म की आराधना करनी चाहिए। इससे साधु धर्म का निषेध नहीं वरन् गृहस्थ धर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है।

गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है, यह कथन भ्रमपूर्ण है। गृहस्थ लिंग में रहता हुआ भी कोई महात्मा कषायों का सर्वथा क्षय कर के—भाव साधु की अवस्था में रहता हुआ-मुक्ति लाभ करता है। पर यह अत्यन्त कठोर साधना है। आत्मा अनादिकाल से विषयभोगों में रचा है। उसे विषयभोगों के प्रति तीव्र आकर्षण है। गृहस्थ अवस्था में रह कर विषयों से सर्वथा अलिप्त रहना अत्यन्त कठिन है। गृहस्थी से दूर एकान्त स्थान में वास करने वाले मुनियों का भी मन कभी-कभी राग के उद्रेक से चचल हो जाता है तो विषयपूर्ण गृहस्थी के वातावरण में मानसिक स्थिरता का निभना सरल नहीं है। अतएव मुमुक्षु साधकों के लिए गृहस्थी

का परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। जो अधिक सुख-सम्पूर्ण आत्मिक आनन्द की प्राप्ति चाहते है। उन्हें संसार के तुच्छ सुख को त्यागना ही चाहिए।

नभसेना—प्राणनाथ ! आपके सामने मेरी एक भी नहीं चलती। फिर भी आप प्राप्त सुख को छोड़ कर अप्राप्त-परोक्ष और कल्पित सुख की कामना कर रहे हैं। यह लोभ की भावना है और लोभ से मनुष्य को कष्ट उठाना पड़ता है जैसे कि बुद्धि ने लोभ के फेर में पड़ कर बड़ा कष्ट उठाया था कथा इस प्रकार है:—

वसन्तपुर में सिद्धि और बुद्धि नाम की दो स्त्रियां थी। वे अत्यन्त दरिद्र दशा मे अपना जीवन व्यतीत करती थी एक बार दोनों जलाने की लकड़ियां लेने के लिए जगल में पहुँची। कड़ाके की धूप पड़ रही थी। सूर्य मानों आग बरसा रहा था। दोनों थोड़ी देर विश्राम करने के अभिप्राय से एक तालाब की पाल पर जा बैठी। उसी समय एक सेठ उधर से निकला। उसने भी उसी तालाब के किनारे ठहरने का निश्चय किया। नौकर-चाकर साथ मे थे। उन्होंने जल्दी से गद्दी तकिया बिछा दिये। सेठ आराम से बैठ गया। अनेक दासियों के साथ, हीरा-पन्ना आदि के आभूषणों के भार से लदी हुई सेठानी भी वही एक ओर बैठ गई। सब नौकर अपने-अपने काम में लग गये। कोई पान लगाने लगा, कोई फूलों की मनोहर माला गूंथने लगा। सेठजी के शुभ्र और बहुमूल्य वस्त्रों के अतर की सुगन्ध हवा के साथ चारों ओर फैल कर आसपास के वायु मण्डल को सुगन्धित करने लगी।

सेठ-सेठानी के इस राजसी वैभव को देखकर उन दरिद्र स्त्रियों—सिद्धि और बुद्धि—की आंखों में आंसू आ गये। उन्हें अपनी दरिद्रता- मानो डंक मारने लगी। एक ने दूसरी से कहा—बहिन ! देखो तो सही, एक और हम हैं और दूसरी ओर सेठानी है ! कितना वृहत अन्तर है। एक ओर साक्षात स्वर्ग का नमूना है और दूसरी ओर घोर नरक का दृश्य उपस्थित है। हमारे भी दो हाथ-पैर हैं, दो आंखे हैं, दो कान हैं और सेठानी के भी इतने ही हैं। हमारा शरीर हाड़-मांस से बना है। और सेठानी का शरीर भी हाड-मांस का ही पिंड है। किसी बात में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता, फिर भी जमीन-आसमान का अन्तर है! हम लोगों की सारी जिन्दगी काठ की भारी ढोते-ढोते निकली जाती है, सिर के सारे बाल तक उड़े जा रहे हैं और यह सेठानी कुछ भी परिश्रम नहीं करती फिर भी अनेक दासियां उसकी सेवा में उपस्थित हैं !

एक दयालु पुरुष ओट में खड़े हुए दोनों की दुःख भरी बातें सुन रहे थे। उन्होंने इन दीन-मलीन स्त्रियों के हृदय में लगते हुए तीव्रतर आघात का अनुभव किया। तब वह सामने आकर कहने लगे—बहिनों ! तुम उदास क्यों दिखाई पड़ती हो ? यदि कोई हानि न समझो तो बताओ।

वे बोली—उदासी का कारण पूछ कर आप क्या करेंगे ? उसका कोई प्रतिकार नहीं है। फिर भी आप से छिपाने की आवश्यकता नहीं है। हम अपने भाग्य का विचार कर रही हैं। पहले के कृत्यों पर पश्चात्ताप कर रही है। पूर्व भव में पुण्य का आचरण न करने से कारण आज यह दुरवस्था भोगनी पड़ रही है। भाई,

या इस परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ? यदि हो सकता है तो कृपा करके बताइए।

स्त्रियों की दीनतापूर्ण बात सुनकर वह परोपकारी पुरुष बोले—अच्छा मैं तुम्हे एक मन्त्र सिखलाता हूँ। इसे यक्षालय में जाकर इक्कीस बार जपना। मन्त्र-जाप से यक्ष सन्तुष्ट हो कर तुम्हारे सामने प्रकट होगा और वर मांगने को कहेगा। तुम इच्छानुसार वर मांग लेना।

दोनों स्त्रियां यक्षालय में पहुँची। इस समय उनकी प्रसन्नता असीम थी। दोनों ने विधिपूर्वक जाप किया और देवता ने प्रकट होकर वर-दान दे दिया कि तुम दोनों को प्रतिदिन २५ मोहरें बिछोने में पड़ी हुई मिला करेंगी। इस वरदान को पाकर दोनों खुशी-खुशी घर लौट गईं।

उस दिन रात होते ही बड़ी उत्सुकता के साथ दोनों बिछौना बिछा कर लेट रहीं। मोहरें पाने की आशा में उन्हें नींद नहीं आती थी और नींद आये बिना मोहरें पाने की आशा न थी। अतएव वे नींद को बुलाने का प्रबल प्रयत्न करने लगीं। फिर भी नींद ने आज मानो न आने का ही निर्णय कर लिया था। उन्हें बड़ी झुंझलाहट अपने ऊपर आ रही थी। अन्त में जब सारे प्रयत्न विफल होने लगे तो बल-पूर्वक आंखें मीच कर लेट गईं और देवता को धोका देने का प्रयत्न करने लगीं। पता नहीं किस समय उन्हें सचमुच नींद आई। पर प्रातःकाल होने से पहले ही जब उनकी निद्रा भंग हुई तो उसी समय उन्होंने अपने-अपने बिस्तर टटोले। जब मोहरें उनके हाथ आ गई तो उनकी प्रसन्नता चरम सीमा पार

जा पहुँची। मारे खुशी के वह उछल पड़ी।

दोनों दरिद्राओं के दिन एकदम बदल गए। दोनों का जीव एकदम सुखमय हो गया। उस नगर में अब उन दो की सम्पत्ति की महिमा बखानी जाने लगी। दोनों की एक-स बड़ाई सुनकर बुद्धि नामक स्त्री के मन में ईर्षा की आग सुल गने लगी। मनुष्य जब तक अपने को सर्वश्रेष्ठ अनुभव नह करता तब तक उसके अहकार को पूरी खुराक नहीं मिलती पूरी खुराक न मिलने के कारण उसका अहकार उसे ह जलाने लगता है। इस जलाने की क्रिया को साहित्यकार ईर्ष कहते हैं। बुद्धि नामक स्त्री इस ईर्षा की मारी बेचैन रहने लगी। उसने सोचा—'जब दोनों की ही एक—सी प्रशसा होती है तो इसमें मेरी क्या विशेषता रही? मेरी विशेषता तो तब हो जब कि सिद्धि से दुगनी सम्पत्ति मेरे पास हो। इस प्रकार ईर्षा और लोभ के वशीभूत होकर बुद्धि ने जो सुख प्राप्त किया था उसे अपने हाथों खो दिया। सचमुच लोभ ऐसा ही अवगुण है जो समस्त शान्ति को, सम्पूर्ण सुख को और सारे सन्तोष को एक क्षण में नष्ट कर डालता है! अब बुद्धि को न पहले जैसी शान्ति थी, न तृप्ति थी। रात दिन वह इसी चिन्ता में घुली जा रही थी, कि सिद्धि से मेरा वैभव किस प्रकार अधिक हो जाय और किस प्रकार लोग मेरी अधिक प्रशसा करने लगें। इसी दुःख के मारे सम्पत्ति होने पर भी वह अत्यन्त दुःखी रहने लगी।

नभसेना कहती गई—प्राणनाथ! आप भी प्राप्त हुए

वैभव और सुख से सन्तोप न मानकर अधिक सुख की कामना कर रहे है। इस सुख की कामना रूप लोभ के जाल में न पड़िए। अन्यथा आप प्राप्त सुख से भी हाथ धो बैठेंगे। बुद्धि की लोभ के कारण क्या दशा हुई सो आप जानते हैं? वह दूसरी बार फिर देवालय में जा पहुँची। वहां जाकर फिर पहले की तरह उसने यक्ष की आराधना की। यक्ष ने प्रकट होकर पूछा—तुम क्या चाहती हो? क्यों मन्त्र जाप कर रही हो? बुद्धि कहने लगी—देवता! मुझे और सिद्धि को आपने बराबर-बराबर मोहरें दी है। उससे मेरा मन नही भरता। मुझे सिद्धि से दुगुना मिलना चाहिए। देव बोला अच्छा ठीक है, सिद्धि के मांगे से तुम्हें दुगुना मिलेगा। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में उसके पास दुगुनी सम्पत्ति हो गई।

अपनी साथिन के पास दो-गुनी-सम्पत्ति देखकर एक दिन सिद्धि ने पूछा—क्यों सखी! हम दोनों को बराबर बराबर सम्पत्ति मिलती है, फिर तेरे पास मुझ से ज्यादा सम्पत्ति कैसे हो गई है? उसने उत्तर दिया—देवता ने मुझ पर प्रसन्न होकर तुझसे दुगुना मिलने का वर दिया है। अतः मेरे पास तुझ से दुगुनी सम्पत्ति है।

सिद्धि को यह समाचार जानकर बड़ा खेद हुआ। उसने सोचा—मुझे जो मिलता है उससे दुगुना बुद्धि को मिलता है। तो मै ऐसा वर क्यों न मांग लूं कि बुद्धि भी याद करती रहे। इस विचार को निश्चय का रूप देकर वह देवता के आयतन में गई। मन्त्र का विधिवत् जाप किया। देवता आर्विभूत हुआ। वर मांगने की आज्ञा पाकर उसने देवता से कहा—देवता! अब की बार मुझे एक विचित्र वर मांगना है। मेरी एक आंख फूट जाय!

देवता ने इस बार-याचना के मर्म को समझ लिया। वह भी बुद्धि के लालचीपन से क्रुद्ध था। उसने वर दिया और सिद्धि की ए आंख फूट गई। बुद्धि को दुगुना वर मिलना चाहिए। इस हिस से उसकी दोनों आंखें फूट गई-वह अन्धी हो गई।

बुद्धि अन्धी हो गई। उसके लिए सारा संसार मानों घनघ अन्धकार में सदैव के लिए विलीन हो गया। दृश्य जगत् जैसे प्रलय हो गया। उसके समस्त सुखों का अन्त हो गया अ उसे अब पहले की दरिद्र अवस्था अधिक सुखप्रद प्रतीत ह लगी।

वह अत्यन्त दुःख के साथ सिद्धि के पास आई। आ कहने लगी—अरी सिद्धि! आज यह तूने क्या मांग की है? मे तो दोनों आंखें फूट गई है!

सिद्धि—बहिन बुद्धि! तुम चतुर हो। देवता तुम्हारे ऊ बहुत प्रसन्न हैं। मैं जितना मांगती हूँ उससे दुगुना तुम्हें अ यास ही मिल जाता है। मुझसे दुगुना पाकर तो तुम्हें सन्त होना चाहिए। अब पछताना काहे को करती हो? मजे में दुगु भोगती जाओ! मैं भला तुम्हारी बराबरी कैसे कर सकती हूँ इतने से भी सन्तोष न हो तो साफ-साफ कह क्यों नहीं देती! और भी कोई वर मांगकर तुम्हें दुगुना दिला दूंगी! बुद्धि, तु समझती होगी कि संसार का सारा चातुर्य्य तुम्हें ही मिला है पर याद रखो, दूसरों में भी थोड़ी बहुत समझ हैं। बहिन अभी तो प्रारम्भ मात्र है। मैंने रोज एक-एक वर मांगने क निश्चय किया है। अभी से घबड़ाने से कैसे चलेगा? बहिन जाओ। अपने घर बैठो। कल से मेरे यहां आने-जाने का भी

कष्ट तुम्हें नहीं करना पड़ेगा।

सिद्धि की अन्तिम बात में खास अर्थ छिपा था। उसने दूसरे दिन देवता के पास जाकर अपनी एक टांग टूटने का वर मांगा। वर मिल गया। उसकी एक टांग टूट गई और साथ ही श्रीमति बुद्धिदेवी की दोनों टांगे टूट टाट कर बेकार हो गई।

अब बुद्धि अपने लालच पर खीझ रही थी। वह अपने को ही कोसने लगी। सोचने लगी—हाय ! न जाने किस बुरी घड़ी में मुझ में लोभ का प्रवेश हुआ था। इस लोभ ने आकर मेरे सोने के संसार को एकदम उजाड़ दिया। लोभ से लाभ तो कुछ हुआ नहीं, उल्टा दुःखों का असह्य बोझ मेरे सिर पर आ पड़ा है। सचमुच लोभ मनुष्य को अन्धा बना देता है। लोभ के वशीभूत होकर प्राणी सार-असार, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म और कल्याण-अकल्याण का विवेक भूल जाता है। वह अप्राप्त सुख-सामग्री की लालसा से प्राप्त सुखों को खो बैठता है।

बुद्धि पहले ईर्षा की आग में जल रही थी। फिर लोभ ने आकर उसे अपने जाल में फंसाया। लोभ अनेक अनर्थों को साथ लेकर आया। उसने बुद्धि के समस्त सुखों को स्वाहा कर दिया। यही नहीं, उसने पश्चात्ताप की भट्टी जलाई और बुद्धि को उसी में पटक दिया।

नभसेना फिर कहने लगी--प्राणवल्लभ ! लोभ के कारण ऐसी दुर्दशा होती है। आप भी बुद्धि की भांति लोभ के फेर में पड़ रहे हैं। पुण्यरूपी देवता की प्रसन्नता से आपको मानव जन्म मिला है। अविकल अंगोपांगों से युक्त शरीर मिला है। अनुपम सौन्दर्य की प्राप्ति हुई है। पर्याप्त से भी अधिक धन-वैभव प्राप्त

है। संसार में अधिक से अधिक जो सुख-साधन हो सकते है वह सब आपको पर्याप्त परिणाम में प्राप्त हैं हम आठ जनी आपकी सेवा में सदा प्रस्तुत हैं। फिर आपको किस चीज की कमी है? आप इससे अधिक क्या चाहते हैं, जिसके लिए साधु वनने को व्यग्र हो रहे हैं? अधिक की प्राप्ति के प्रयत्न में इसे भी ठुकरा देना कहां तक उचित है? बुद्धि की तरह आपको भी कहीं पश्चात्ताप न करना पड़े, यह आप खूब सोच लें। निश्चय समझिये हम हृदय से आपका सुख और हित चाहती हैं। जो व्यक्ती अपने हितैषी के हित-वाक्यों पर कान नहीं देता और अपनी ही धुन में मस्त रहता है, वह अन्त में घोर कष्ट उठाता है। अभी समय है। आप फिर विचार कीजिये। दासी की आग्रहपूर्ण प्रार्थना को लातों से न ठुकराइए।'

नभसेना का कथन सुनकर वैराग्य के पक्के रंग में रंगे हुए जम्बूकुमार कहने लगे—प्रिये! इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि तुम हृदय से हमारा हित चाहती हो। पर खेद है कि तुम मुझे जिस पथ पर चलने को कह रही हो वह पथक ल्याण कर नही है। तुम्हारी भावना को मैं दोष नहीं देता पर तुम्हारे विचार अवश्य भ्रमपूर्ण हैं! संसार के सुख मुझे सब प्राप्त है पर जिन्हें तुम सुख कहती हो वह वास्तव में सुख नहीं हैं। वह सुखाभास है। इसके अतिरिक्त वह भी अस्थायी हैं। अभी है और अभी विनष्ट हो जाते हैं। फिर उन सुखों में भयंकर दुःख मिला हुआ है। जिस अमृत में विष मिला हो वह अमृत भी त्याज्य है। इन सुखों को स्वीकार करने से भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं। अणु मात्र सुख के लिए पहाड़ बराबर दुःख भोगना कहां की बुद्धिमत्ता

है ? तुम्ही सोचो—इस समय मेरा शरीर स्वस्थ है, सुन्दर है। पर यदि इसी समय कोई बड़ी बीमारी आकर शरीर पर आक्रमण कर दे तो स्वस्थता कहां रह जायगी ? सुन्दरता भी चली जा सकती है। फिर धन-वैभव क्या काम आयगा ? बड़े-बड़े गगन-स्पर्शी महलों से क्या लाभ होगा ? ऐसी दशा में मेरा सारा संसार बदल जायगा। समस्त सुख, दुःख का रूप धारण करके मुझ पर हसेंगे ? तुम भी उसका क्या प्रतीकार कर सकती हो ? क्या तुम मेरी बीमारी को बांट सकोगी ? क्या तुम शरीर की कुरुपता को मिटा दोगी ? ऐसा यदि नही कर सकती तो तुम्हारी सेवा क्या काम आएगी ? मान लो, जल्दी ऐसा प्रसंग न भी आया, तो भी जीवन का अन्त तो एक दिन आएगा ही। अब तक भूमण्डल मे न जाने कितने शूरवीर यौद्धा हुए हैं। न जाने भरतक्षेत्र के छह खण्डों पर निष्कटक राज्य करने वाले कितने चक्रवर्ती यहां आये है। पर अब उनमें से एक का भी अस्तित्व है ? जब अनादिकाल से आज तक एक भी व्यक्ति जीवित नहीं रहा तो अब मैं या तुम या और कोई कैसे जिन्दा रह सकता ? इस प्रकार निश्चित रूप से एक दिन मृत्यु आने वाली है। उस समय सारे भोगोपभोगो के साधन यहीं रह जाएगे। समस्त कुटुम्बीजन बिछुड़ जाएगे ! साथ में सिर्फ धर्म और पाप जायगा ! अतएव मनुष्य को सबसे पहले और सब से ज्यादा चिन्ता परलोक के साथी धर्म और पाप की करनी चाहिए। पाप साथ जायगा तो वह घोर दुःख का कारण होगा। अतएव धर्म को ही उपार्जन कर उसी को अपना साथी बनाना चाहिए। धर्म ही सच्चा सहायक है। धर्म ही सखा है। मैं उस धर्म की साधना के लिए तैयार हो रहा हूँ। वही हमारा

सर्व श्रेष्ठ लक्ष्य है और होना चाहिए।

तुमने बुद्धि और सिद्धि का उदाहरण दिया है। वह तुम्हारी बात का समर्थन न करके विरोध ही करता है। बुद्धि सांसारिक सुख सामग्री में मतवाली हो रही थी अतएव उसे कष्ट भोगना पड़ा और पश्चात्ताप करना पड़ा। मेरा मार्ग उससे एकदम भिन्न है। मैं विषयगों और उसके साधनों का त्याग कर रहा हूँ। वह लोभ के वशीभूत थी मैं लोभ को लात मार रहा हूँ। अतएव मुझे पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं है। मैं तो निर्मल आत्म-स्वरूप को उपलब्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ। प्रत्येक विवेक-वान व्यक्ति को यही प्रयास करना चाहिए। अन्यथा उसका विवेक वृथा है। गुरु महाराज ने मुझे मंगलमय मार्ग बता दिया है। जैसे सूप, तुप और धान्य को अलग-अलग कर देता है उसी प्रकार गुरु महाराज रूपी सूप ने मेरे हृदय में जमे हुए मिथ्यात्व को हटा दिया है। तुमने अपनी बात दृष्टान्त देकर समझाने का प्रयत्न किया है। मैं भी इसी प्रकार समझने का प्रयत्न करूंगा। मैं जो दृष्टान्त देता हूँ उससे आशा है, तुम्हारे हृदय के नेत्र खुल जाएगे और तुम सत्य के वास्तविक स्वरूप को देखने लगोगी।

भारत में किसी समय वसन्तपुर नामक अतिशय रमणीय नगर था। उस नगर के शासन का भार जितशत्रु राजा के प्रशस्त कन्धों पर था। एक बार एक विदेशी व्यापारी घोड़े बेचने के लिए वहां आया। सब घोड़े राजा के सामने उपस्थित किये गये। उन घोड़ों में एक घोड़ा देखने में अत्यन्त सुन्दर और सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार समस्त शुभ चिह्नों से युक्त था। राजा को वह पसन्द

आ गया और उसने उसे खरीद लिया। राजा जितशत्रु ने घोड़े को खरीद कर उसी नगर में निवास करने वाले जिनदास नामक सुश्रावक के सुपुर्द कर दिया और कहा कि इसे सुन्दर से सुन्दर चाल चलना सिखाओ। चाल ऐसी सुन्दर होनी चाहिए कि कपड़े पर यदि चलाया जाय तो कपड़े पर सलवट न पड़ने पाए। श्रावक ने राजा का आदेश शिरोधार्य किया। जिनदास उसे अपने घर ले गया और राजा की आज्ञा के अनुसार सुन्दर चाल सिखाई! घोड़ा चलने में अत्यन्त चतुर हो गया। जिनदास को जब घोड़े पर विश्वास हो गया तो वह एक दिन राजा के पास पहुँचा और कहा पृथ्वीनाथ! आप के आदेशानुसार घोड़े को चलना सिखाने का प्रयत्न किया गया है। कृपा कर आप उसकी परीक्षा कर लीजिये। राजा ने एक विशाल चौक में कपड़ा बिछवाया और उस पर घोड़ा चलाया-दौड़ाया सब दर्शक बड़ी उत्सुकता के साथ देख रहे थे। घोड़ा वेग के साथ दौड़ा पर कपड़े पर एक भी सल कहीं पड़ा हुआ दिखाई न दिया। राजा यह देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने सेठ जिनदास को धन्यवाद दिया। सब दर्शकों के समक्ष उसकी प्रशंसा की और अश्वशाला के संरक्षक को सौंप दिया।

जिस प्रकार कस्तूरी का सौरभ छिपाने पर भी नहीं छिपता उसी प्रकार सद्गुण भी सर्वत्र फैल जाते है। घोड़े की चाल के विषय में सर्वत्र चर्चा होने लगी। सभी एक मुख से उसकी प्रशंसा करने लगे। धीरे-धीरे यह बात समीपवर्ती एक दूसरे राजा ने सुनी। उसका मन फिसल पड़ा। किसी भी उपाय से घोड़े को पा लेने के लिए वह लालायित हो उठा। आत्मगौरवशाली व्यक्ति मृत्यु का आलिंगन कर सकता है पर अपने स्वार्थ के लिए किसी

के आगे हाथ नहीं पसारता। राजा घोड़े की याचना करना गर्हित कृत्य समझता था और याचना करने पर भी उसे पा लेने की आशा न थी। बच्चा कीमती से कीमती वस्तु खुशी के साथ दूसरे को दे सकता है पर एक पैसे का अपना खिलौना देना कदापि पसन्द नहीं करता। उसी प्रकार जिस वस्तु पर जिसका प्रगाढ़ अनुराग है वह उसे किसी भी मूल्य पर देना नहीं चाहता। ऐसी दशा में घोड़ा पाने के राजा के पास दो ही उपाय शेष थे। प्रथम तो यह कि वह राजा जितशत्रु पर आक्रमण करके युद्ध में उसे परास्त करे और फिर घोड़ा छीन ले और दूसरा यह कि उसे चोरी करके प्राप्त करे।

राजा ने इन दोनों उपायों पर विचार किया। उसे अपनी शक्ति ऐसी प्रबल प्रतीत नहीं हुई कि वह युद्ध में विजय प्राप्त करके घोड़े को प्राप्त कर सके अतएव उसने दूसरे कायरता-पूर्ण उपाय का अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझा। उसने कुछ साहसी विश्वासपात्र आदमियों को बुलाकर किसी प्रकार घोड़ा ले आने को कहा। एक आदमी बड़ा साहसी था उसने कहा महाराज! यह कौन-सी बड़ी बात है! आपका आदेश होने पर तो इन्द्र महाराज का ऐरावत हाथी भी ले आ सकता हूँ।

राजा का वह आदमी घोड़े को लाने के लिये वहां से चल दिया। वह चलते-चलते वहां पहुँचा जहां अश्वशाला का प्रबन्धक रहता था। अश्वशाला के प्रबन्धक ने उससे पूछा-भाई! यहां कैसे आना हुआ?

वह आदमी बोला—भैयाजी, भूखों मरता-मरता यहां पेट पालने के लिये आया हूँ। पेट देश परदेश नहीं जानता। यह

बड़ी दूर तक रगड़ ले जाता है। सुना है—यहां के महाराज बड़े दयालु हैं। क्या मेरी आजीविका चल सकेगी ? यदि तुम मेरी सहायता कर सको तो बड़ी कृपा होगी।

अश्वशाला का प्रबन्धक बोला-तुमने महाराज की प्रशंसा सुनी है वह यथार्थ है। सचमुच वे अतिशय दयालु और दीन-वत्सलय हैं। तुम यहां ठहरो। पेट भरने को काफी मिल जायगा।

वह आदमी वहीं रहने लगा। काम करते-करते थोड़े ही दिनों में वह सब का विश्वासपात्र बन गया। एक बार अवसर पाकर उसने घोड़े को खोल लिया और उस पर सवार होकर चलने लगा। वह विपरीत मार्ग चला पर घोड़ा इस ढंग से सिखाया गया था कि यह उपट नहीं चलता था। उस अश्व चोर ने घोड़े को चलाने की जी तोड़ कर कोशिश की, चम्बुक मारकर उसे घायल-सा कर दिया पर घोड़े ने एक डग भी आगे न बढ़ाया। अन्त में उस अश्वशाला के प्रबधक को इस बात का पता लग गया। वह वहां पहुँचा। उसके पहुँचते ही चोर नौ-दो ग्यारह हो गया। प्रबन्धक उस घोड़े को लेकर राजा के पास पहुँचा। राजा के सामने सारा वृत्तान्त सुनाया तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा उस दिन से राजा जितशत्रु का घोड़े पर और भी अधिक स्नेह बढ़ गया। वह उसे अपने पुत्र की तरह प्रेम करने लगा। यह उचित भी है। कहा भी है:—

गुणाः पूजस्थानं न च लिङ्गं न च वयः।

अर्थात् संसार में गुणों का ही आदर होता है। जिसमें सद्गुण होते हैं उसकी जगत् में प्रतिष्ठा होती है। न तो वेष की पूजा होती है और न उम्र की। घोड़े में जो असाधारण गुण

थे उन्हीं के कारण उसका आदर बढ़ा और राजा प्राणों की तरह उसे प्यार करने लगा।

जम्बूकुमार कहते रहे—प्रिये! जितशत्रु राजा के समान जिनेन्द्र हैं, घोड़े के समान हम जैसे आत्मा हैं और सेठ के समान श्रीसुधर्मास्वामी है, हम श्रीसुधर्मास्वामी के सुपुर्द हैं। वही हमें अच्छी चाल अर्थात् सम्यक् चारित्र की शिक्षा देते है। राजा ने जैसे अपने आदमी को घोड़ा चुराने के लिए भेजा था उसी प्रकार मोह के द्वारा प्रेषित होकर चोर की तरह तुम मुझे उलट पथ में ले जाना चाहती हो किन्तु श्रीसुधर्मा स्वामी ने मुझे शिक्षा दे रक्खी है अतएव मैं उलट पथ में चलने वाला नही हूँ। उलट पथ में न चलने के कारण राजा जैसे घोड़े पर प्रसन्न हुआ था उसी प्रकार मुझ पर परमात्मा की प्रसन्नता होगी। उसी समय मैं अपने जीवन के महत्तम उद्देश्य को प्राप्त कर सकूंगा। मै परम पुरुपार्थ को सिद्ध करके धन्य वन सकूंगा।

सामान्य जनों का मन जल की तरंग के समान और विजली की आभा के समान या पारे की तरह चपल होता है। वह पल भर में न जाने कितने विचारों का प्रसव और संहार कर देता है किन्तु महापुरुषों का मन ऐसा नहीं होता। वे उसकी चपलता का, उसकी तरल व्याप्ति का निरोध करते हैं। उसमें एकाग्रता ले आते है। उस समय मन उनका क्रीत दास वन जाता है। महापुरुप उसे किसी एक अभीष्ट लक्ष्य पर केन्द्रित कर लेते है। जम्बूकुमार इसी श्रेणी के विशिष्ट पुरुप थे। उन्होंने अपने मन पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। अतएव

महिलाओं के हाव-भाव, साधारण पुरुषों के हृदय मे उन्माद उत्पन्न करने वाले विलास उनके मन को स्पर्श तक न कर सके। उन्होंने जिसे अपना परम लक्ष्य बनाया था वे उससे किञ्चित भी च्युत न हुए। यही नही, जैसे पारस के ससर्ग से लोहा भी सोना बन जाता है उसी प्रकार उनके साथ वार्तालाप करने से जगत् की माया में निमग्न उनकी नव विवाहिता पत्नियां भी सद्बोध को प्राप्त हुई। नभसेना, जम्बूकुमार का सारपूर्ण उपदेश सुन कर मौन हो रही और पराजित साथियों के साथ बैठ गई।

तत्पश्चात् जम्बूकुमार की छठी पत्नी सुवर्णश्री की बारी आई! वह नभसेना के युक्तिवाद को बड़े ध्यान से सुन रही थी और उससे उसके हृदय मे एक क्षीण-सी आशा की किरण चमक उठी थी, पर जम्बूकुमार ने जब उसे अपनी प्रबल युक्तियों से चुप कर दिया, यही नहीं बल्कि उसे भी दीक्षा धारण करने के लिये तैयार कर लिया, तब निराशा के घोरतम अन्धकार में आशा की क्षीण किरण सर्वथा विलुप्त हो गई। यद्यपि उसकी सहेलियों ने जम्बूकुमार को सब तरह से समझा कर देख लिया था और उस के कहने योग्य कोई नवीन और प्रभावशाली बात न रह गई थी, फिर भी उसका हृदय न माना। घोर निराशा के समय भी ममता के प्रबल आकर्षण से आकृष्ट होकर मनुष्य निष्क्रिय नहीं बैठ सकता।

सुवर्णश्री जम्बूकुमार से अतिशय नम्रता के साथ बोली—हमारे जीवन-प्रभाव के बाल-सूर्य! आपके दर्शन करके हमें जो असीम आनन्द और संतोष मिला है उसे यों सहसा ही छीनने का प्रयत्न न कीजिये। प्रभातकाल मे ही सध्या का प्रवेश कैसा?

अभी तो मध्याह्न और अहराह्न अवशेष हैं। जीवन के मध्याह्न में पहुँच कर संसार का पोषण कीजिए। संसार में अपने सद्गुण रूपी किरणों का प्रकाश फैलाइए। फिर धीरे-धीरे संसार का परित्याग कर सूर्य की भांति लोकान्तर मोक्ष— में जाने का प्रयास कीजिये। आश्चर्य है कि आप प्रकृति से प्रतिकूल चल कर हम लोगों को घोर दुःख देने का उपक्रम कर रहे हैं।

प्राणनाथ! आप ही हमारे प्राण हैं। आप ही हमारे जीवन हैं। आप हमारा परित्याग कर रहे हैं अर्थात् हमारे प्राण हमें त्याग कर रहे हैं। प्राण-त्याग होने पर हमारा जीवित रहना असंभव है! यदि आप हम सब के प्राणों की आहुति से अपने धर्म को प्रज्वलित करना चाहते हैं, यदि आप हमारे रुधिर से अपने धर्म रूपी वृक्ष को हरा-भरा करना चाहते हैं, यदि आप वियोग रूपी अग्नि से जलते हुए शरीर की आतापना लेना चाहते हैं और यदि आप हमारे यौवन की अधखिली कली को कठोर-हृदय होकर पैरों से रौंद डालना चाहते हैं, तो आपकी मर्जी! पर स्मरण रखिए हमारे प्राणों की आहुति में आपका धर्म भी भस्म हुए विना न रहेगा। हमारे रुधिर के प्रवाह में आपका सारा संयम वह जायगा और वियोगाग्नि में जलते हुए शरीर की असह्य उष्णता से आपका त्याग झुलसे विना न रह सकेगा! आप हमारी यौवन-कली को कठोर वन कर मसल सकते हैं पर ऐसे कठोर हृदय रूपी क्षेत्र में धर्म का हरा-भरा सुकोमल अंकुर कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता।

जम्बूकुमार-सुवर्णश्री! जान पड़ता है नभसेना दार्शनिक वन कर आई थी और तुम कवि का कर्त्तव्य वजाने आई हो।

तुम्हारा काव्यमय कथन सुनने में रोचक है और सामान्य मनुष्यों के हृदय पर प्रभाव डालने वाला भी है। पर मैं इतना सहृदय या भावुक नहीं हूँ। मैं जगत् का दर्शन अलकार या काव्य के प्रकाश में नहीं करता किन्तु वास्तविकता की आशा में जगत् को देखता हूँ। अतएव तुम्हारे भाषण में जो ठोस चीज है उसी पर विचार करूंगा। तुम कहती हो कि अभी जीवन का प्रभातकाल है और मध्याह्न और अपराह्न अभी अवशेष है। संसार की अनित्यता पर यदि थोड़ा-सा विचार किया होता तो तुम ऐसा न कहती। क्या तुम निश्चयपूर्वक कह सकती हो कि बाल्यावस्था के पश्चात् यौवन अवस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था का आना अनिवार्य है? तुम्हें पता नहीं, सैंकड़ों मनुष्य बाल्यावस्था में ही यमराज के अतिथि बन जाते हैं। तब यह निश्चय से कौन कह सकता है कि हमारे जीवन का अन्त कब हो जायगा? शरीर रूपी पींजरे में आत्मा रूपी पक्षी बैठा हुआ है पींजरे के अनेक द्वार खुले पड़े है। इस दशा में पक्षी का पींजरे में बैठा रहना आश्चर्यजन हो सकता है। उड़ जाने में क्या विस्मय है? इसी प्रकार मनुष्य का जीवित रहना आश्चर्यजनक हो सकता है, मरण को प्राप्त होने में तनिक भी आश्चर्य नहीं है।

प्रिये! जब मध्याह्न और अपराह्न का आना ही निश्चित् नहीं है तब उनके भरोसे बैठ कर कौन वर्त्तमान को व्यर्थ व्यतीत करेगा? एक कवि ने सीधे शब्दों में कहा है—

काल करे सो आज कर, आज करै सो अब।
पल में परलै होयगो, बहुरि करैगो कब?

तुम्हारी दूसरी कविता का आशय यह है कि यदि मैं संयम

को धारण कर लूंगा तो तुम दुःख के कारण जीवित न रह सकोगी और तुम्हारे प्राण त्याग का पाप मुझे लगेगा और इस प्रकार मेरा धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु सुवर्ण श्री ! यहां भी तुम भ्रम में पड़ रही हो। दुःख तो एक प्रकार की मानसिक वेदना है। एक चीज को तुम दुःख का रूप मानती हो इसलिए यह तुम्हें दुःख देती है। वही चीज दूसरे को सुख रूप मालूम पड़ती है अतएव उसे सुख पहुँचाती है। मैं तुम्हें त्याग करता हूँ तो वियोग जैसे तुम्हें भोगना पड़ेगा उसी प्रकार मुझे भी तुम्हारा वियोग सहन करना होगा वियोग तो परस्पर की अपेक्षा रखता है ! फिर तुम्हीं उससे घबड़ाती हो, मैं नहीं घबड़ाता, इसका कारण क्या है। कारण यही है कि इसे मैं दुःख रूपी नहीं मानता। यदि तुम भी दुःख रूप न मानो तो तुम्हें तनिक भी दुःख न होगा। यही नहीं, इस वियोग को अगर तुम चाहो तो सुखद भी बना सकती हो, जैसा कि मैंने बना लिया है। तुम मुझ से यह पूछ सकती हो कि वियोग को मैं दुःख क्यों नहीं मानता ? इसका उत्तर इस प्रकार है:—

संसार में छोटे-बड़े, मनुष्य-पशु पक्षी आदि जितने भी प्राणी हैं उन सब का, सब जीवों के साथ, सब प्रकार का सम्बन्ध हो चुका है। कोई भी प्राणी संसार में ऐसा नहीं है जिसके साथ सब सम्बन्ध, सब प्रकार की रिश्तेदारियां अनन्तों बार न हो चुकी हों। ऐसी विचित्र दशा में किस-किस के वियोग पर आंसू बहाये जाए ? आंसू बहाने से भी यदि वियोग रुक जाने का निश्चय हो तो बहाये भी जा सकते हैं, किन्तु ऐसा होना असम्भव है। अब तक संसार का एक भी नाता कायम नहीं रहा, सब संयोग नष्ट हो गये, तो अब वियोग न होने की सम्भावना कैसे की जा सकती है ?

जो अवश्यम्भावी है, जिसे रोकना देवेन्द्र की शक्ति से परे है, उसमें अनिच्छा और विषाद का मिश्रण करके उसे भयावह बनाने की चेष्टा करना क्या बुद्धिमत्ता है ? उस अवस्था को स्वेच्छा और सन्तोप के साथ स्वीकार करना ही मनुष्य के विवेक की कसौटी है।

यही नहीं, वियोग की वेदना को जब हम दुःख रूप अनुभव करने लगते है तभी संयोग-वियोग की परम्परा चिरकाल के लिये आरम्भ हो जाती है। इसीसे दुःख की वृद्धि होती है इसी कारण वियोग को मै दुःख रूप नही मानता। सुवर्णश्री ! तुम भी इस कला को सीखो। इसे सीखने से फिर कोई भी वियोग तुम्हारे हृदय पर आघात करने का साहस नही करेगा। जैसे वज्रमय कवच पहनने वाला पुरुष शत्रुओं के प्रहारों से सर्वथा सुरक्षित रहता है उसी प्रकार इस कला को हृदय में स्थान देने वाला मनुष्य भी वियोग जन्य विविध वेदनाओं से बिलकुल बचा रहता है और पूर्ण शान्ति का अनुभव करता है।

इसके अतिरिक्त, सुवर्ण श्री ! एक बात और सावधान होकर सुनो। शास्त्राकार कहते है—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।

अर्थात् जीव संसार में दुःखों को सहन करता आ रहा है उसका कारण प्रधान हेतु सयोग है। इसीलिए साधु को 'सजोगा विपमुक्कस्स' अर्थात् सयोग से रहित यह विशेपण लगाया गया है। सयोग के विषय फलों का जरा विचार करो। आत्मा वास्तव में ससार के समस्त भावों से सब द्रव्यों से निराला है। वह सवसे असंसृष्ट है। किसी के साथ उसका मेल नहीं है। यह

आत्मा का असली स्वरूप है। संयोग आत्मा का सबसे प्रबल विकार है आत्मा के साथ द्रव्यकर्मों का और नो कर्मो का संयोग होने से ही उसे जन्म-मरण आदि करने पड़ते हैं और जन्म-मरण आदि के कारण दूसरी आत्माओं के साथ संयोग होता है। संसारी जीव मोहित होते हैं अतएवं सयोग के समय सुख अनुभव करते हैं परन्तु जैसे किसी वस्तु का एक सिरा है तो उसका दूसरा सिरा होना अनिवार्य है इसी प्रकार जहां संयोग है वहां वियोग होना अनिवार्य है संसारी प्राणी इस नियम को भूल जाते हैं। यही दुःख का कारण है। अतएव तात्विक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग दुःखप्रद है और सांसारिक पदार्थों से जितना-जितना वियोग-पृनक्त्व होता जाता है, दुःख भी उतनी ही मात्रा में घटता जाता है। इस प्रकार वियोग सुख रूप है। उसे दुःख रूप मान लेना भ्रम है। वास्तविक दुःख तो संयोग है।

सुवर्णश्री ! अब तुम विचार करो कि मेरे दीक्षा लेने से तुम क्यों प्राणों का परित्याग करोगी ? तुम स्वयं मेरी भांति अनित्य भावना और एकत्व भावना का चिन्तन करो और आत्मा के अक्षय कल्याण का मार्ग स्वीकार करो।

सुवर्णश्री—प्रियतम ! मैंने दीक्षा लेने का कभी विरोध नहीं किया है। दीक्षा धारण करना अत्यन्त प्रशस्त है। परन्तु सब कार्य उचित समय पर करने से ही उनकी प्रशस्तता है। दीक्षा का उचित समय अभी नहीं आया है। अभी तो संसार का अनुभव लीजिए। यौवन की उद्दाम वासनाओं को सहसा दबा लेना सहज नहीं है। अतएव

कुछ दिनों तक सांसारिक भोग-भोग लेने के अनन्तर फिर संयम धर्म को ग्रहण कीजिये। जो भूखा होता है उसका चित्त धर्मक्रिया में स्थिर नहीं होता—चंचल रहता है। उसे भोजन का ही स्मरण आया करता है। इसी प्रकार जो भुक्त-भोगी नहीं होता उसे सदा भोगों का ही स्मरण बना रहता है और भोग का स्मरण होने से भोग की एकाग्रता नष्ट हो जाती है आप इस अवस्था में संयम धारण करके न योग के योग्य रहेंगे, न भोग के योग्य ही अतएव सांसारिक तृप्ति हो जाने के पश्चात् ही आप योग धारण करने की कृपा कीजिए कुमार अवस्था में हो यदि योग साधना था तो विवाह की क्या आवश्यकता थी ? हम लोग बरसात की वदली की तरह आंखों से आंसू बहा रही हैं फिर भी आपका हृदय नहीं पिघलता। कृपया इस-हठ को त्यागिये। इस हठ से लाभ होने की कोई सभावना नहीं है एक वात सुनिये—

इसी भारत वर्ष में सुवश नामक एक गांव था! उसमें एक ब्राह्मण का लड़का और उसकी माता-इस प्रकार दो प्राणी एक कुटुम्ब में रहते थे। पुत्र जब छोटी अवस्था में था तभी पिता का वियोग हो गया था। वह वालक अपनी बाल्यावस्था में विद्या-भ्यास न कर सका। वालक देखने में जितना ही अधिक सौन्दर्य-शाली था उतना ही अधिक अपढ था। माता उससे कभी-कभी पढ़ने का आग्रह करती थी पर वह टाल जाता था। वह कहता-मै जो पढ़ता हूँ, । जल्दी ही भूल जाता हूँ। मुझे स्मरण ही नहीं रहता। फिर पढ़कर वृथा माथापच्ची करने से क्या लाभ ? भूल जाने के लिए पढ़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

एक दिन माता ने स्नेह-स्वर में कहा—बेटा ! किया हुआ परिश्रम कभी निरर्थक नहीं जाता। यदि तू सच्चे हृदय से पढ़ने का संकल्प कर ले तो अपढ़ रह नहीं सकता। देख, रामचन्द्रजी ने टेक पकड़ली थी कि सीता को लिए बिना नहीं मानूंगा आखिर उन्होंने प्रबल प्रतापी और सबल सैन्य समन्वित रावण के वंश का प्रायः मूलोच्छेदन करके सीता को प्राप्त कर ही लिया था। इसी प्रकार सत्यनिष्ठ राजा हरीश्चन्द्र ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति, राजपाट यहां तक कि पत्नी और पुत्र तक को भी त्याग कर अपनी टेक निभाई थी। बेटा ! तू भी इसी प्रकार पढ़ने की टेक पकड़, जिससे तूझे भी ज्ञान की प्राप्ति हो। पक्का निश्चय कर लेने से काम में आधी सफलता मिल जाती है। जिस काम में पूर्ण उत्साह नहीं होता, जो ऊपरी मन से किया जाता है वह सुसाध्य होने पर भी दुःसाध्य हो जाता है।

ब्राह्मण-बालक, माता की यह प्रेरणा पाकर विद्याध्ययन करने के लिए चलपड़ा। रास्ते में उसे एक गधा मिल गया। गधा अपनी आदत के अनुसार रेंकने लगा तो मूर्ख बालक ने समझा—हय गधा मुझे विद्याशाला के लिए बुलाने आया है। यह समझ कर वह गधे की ओर बढ़ा। बालक ज्यों-ज्यों गधे के समीप पहुँचता त्यों-त्यों गधा दूर-दूर होता जाता था। बालक गधे का साथ नहीं छोड़ना चाहता था। अतएव उसने लपक कर गधे की पूंछ पकड़ ली। उसका पूंछ पकड़ना था कि गधा दुलत्तियां झाड़ने लगा। लातें खाकर भी ब्राह्मण-बच्चे ने गधे की पूंछ न छोड़ी। गधा दौड़ता-दौड़ता बाजार में जा पहुँचा और वह बालक उसकी पूंछ से घसीटता हुआ उसके पीछे लगा रहा। बाजार में

लोगों ने विस्मय के साथ बालक की मूर्खता देखी। वे कहने लगे- अरे मूरख! यह क्या कर रहा है! क्यों तेरी शामत आई है? गधे के पीछे मारा-मारा क्यों फिरता है? गधे की पूंछ छोड़ दे। गधा तो गधा है ही, तू उससे भी बड़ा गधा मालूम होता है।

बालक बोला—तुम लोग सच कहते हो भाई। मैं गधा हूँ, बड़ा गधा हूँ और अपनी इस उपाधि को दूर करने के लिए ही यह सब मुसीबतें झेल रहा हूँ। मेरी माता ने मुझे टेक पकड़ कर पढ़ाई करने को कहा है इससे मुझे अवश्य ज्ञान की प्राप्ति होगी। अब मैं अपनी पकड़ी हुई टेक छोड़ने का नहीं वरना सदा के लिए मूर्ख बना रह जाऊगा।

लड़के की यह करतूत जब माता के कानों तक पहुँची तो वह माथा ठोककर रह गई! माता का हृदय था—कोमल और स्निग्ध वह दोड़ी आई और अपने आज्ञाकारी सपूत को बहुत कुछ भला-बुरा कहा। तब उसने गधे की पूंछ छोड़ी। ब्राह्मणी उसे साथ लेकर घर चली गई।

तात्पर्य यह है कि जो भलीभांति विचार किये बिना ही हठ पकड़ कर बैठ रहते है और अपने अन्तःकरण के विवेक का उपयोग नहीं करते, उन्हें ब्राह्मण-बालक के समान निरर्थक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। मेरी उदण्डता के लिए क्षमा प्रदान कीजिये, प्राणनाथ! आप भी हठ पकड़ रहे हैं। हमारी अनुनय-विनय भरी प्रार्थना को आप अनसुनी कर रहे है हमारे हृदय में वेदना का ज्वर आ रहा है और उसी के कारण न कहने योग्य शब्द भी मुंह से निकल गये है। इन शब्दों के लिए विनम्र भाव से क्षमा-याचना करती हूँ! कृपा कर हमारी प्रार्थना अंगीकार

कीजिए। हमारी मानसिक चिन्ता दूर कीजिये। मै आशा करती हूँ। मोम के समान आपका हृदय हमारी वेदना की आग से अवश्य पिघलेगा।

सुवर्णश्री की उक्ति और उदाहरण सुनकर जम्बूकुमार कहने लगे प्रिये !तुमने जिस मूर्ख ब्राह्मण-बालक के साथ मेरी तुलना की है, वास्तव में मैं वैसा नहीं हूँ। यह मोही संसारी जीव ससार की इस दुर्वेध ममता के पास में फंस कर हित को अहित और अहित को हित मान बैठा है। सद्गुरु वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझाते हैं फिर भी ममता-मोह का वह आग्रह नहीं छूटता। संसार की निसारता, ससार की भयंकरता प्रतिदिन, प्रतिपल प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, पग-पग पर वैराग्य की सामग्री विद्यमान है, फिर भी इस जीव से वासनांओं का आग्रह नहीं छूटता। यही तो गधे की पूंछ पकड़ना कहलाता है। मैं इस आग्रह को तिलांजलि दे रहा हूँ फिर भी दृष्टि दोष से तुम्हें विपरीत दृष्टिगोचर हो रहा है।

गहरा विचार करो तो मालूम होगा कि मैं नहीं वरन् तुम स्वयं उस ब्राह्मण-बालक की भांति चेष्टा कर रही हो। मूर्खता पूर्ण कदाग्रह वह है जिसके कारण दुःख की प्राप्ति होती है। तुमने अनादिकाल से लगा कर अब तक विषयभोग भोगे हैं, फिर भी तुम्हें तनिक तृप्ति नहीं हुई और इस जन्म में फिर उन्हीं को भोगने का आग्रह कर रही हो। तुम्हारी यह टेक, कुटेक है। इसका परिणाम भविष्य में सुखदायक नहीं होगा। कौटुम्बिक मोह में पड़ कर एक कछुए की जो दुर्दशा हुई थी, उसका तुम्हें पता है ?

सुवर्णश्री—वह भी कहिए।

जम्बूकुमार—सुनो। एक जंगल में तालाब था। तालाब अत्यन्त सुन्दर था। दर्शक के मन को सहसा मोह लेता था। उस का जल अत्यन्त निर्मल और मधुर था। उस पर कुमुदिनी छाई हुई थी! पानी में अनेक जलचर जीव रहते और किलोलें करते थे। उसमें कछुओं की भी पर्याप्त संख्या थी। शरद् पूर्णिमा की सुन्दर रात्रि थी। पृथ्वी मण्डल पर जैसे दूध की चादर बिछी हुई थी। स्वच्छ ज्योत्स्ना फैली थी। आकाश मण्डल मेघों से सर्वथा विनिर्मुक्त था। उसमें चन्द्रमा हंस रहा था। तारे उस हंसी में अपनी हसी शामिल करके संसार को धवलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। नक्षत्र मानों एकटक भूतल की ओर आंख फाड़ कर देख रहे थे। मन्द मन्द वायु चल रहा था। इसी वायु के सचालन से कुमुदिनी तालाव के एक किनारे से सिकुड कर एक ओर चली गई थी। अचानक एक कछुआ पानी की ऊपरी सतह पर आया। उसने आकाश मे चन्द्रदेव की जो अनोखी आभा देखी तो एकदम मुग्ध हो गया। उसके लिए यह दृश्य एकदम अपूर्व था। उसकी प्रसन्नता का पार न रहा! उसने सोचा—मैं जिस आनन्द का उपयोग कर रहा हूँ उस आनन्द की कुछ छटा अपने कुटुम्बियों को भी दिखला दूं। कोई भी सुन्दर दृश्य जब स्नेहीजनो को साथ लेकर देखा जाता है तब उसका सौन्द्रय सौगुना बढ़ जाता है। यह सोच कर कछुए ने पानी में डुबकी लगाई और कुटुम्बियों को नभमण्डल की अपूर्व छटा देखने का आग्रह किया। सब तैयार होकर जब ऊपर आये तब वायु के किसी झौके ने खुली जगह पर फिर कुमुदिनी का आवरण डाल दिया था। उसे ऊपर आने का मार्ग मिला और न दूसरी बार वह स्वर्गीय दृश्य ही

दिखाई पड़ा। कछुआ मन में अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा। सोचने लगा—हाय! यदि मैं कुटुम्ब के मोह-जाल में न पड़ा होता तो क्यों मुझे उस अनुपम सुख से वंचित होना पड़ता? सच है—जो संसार की ममता में डूबे हैं उन्हें स्वप्न में भी सुख का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

प्रिये! इस दृष्टान्त के भाव पर जरा गहराई के साथ विचार करो। वायु के वेग से कुमुदिनी के हट जाने के समान, मेरी आत्मा पर छाया हुआ मिथ्यात्व, गुरु महाराज के उपदेश से हट गया है। इससे मुझे तारा-मण्डल सहित चन्द्रमा के समान सम्यक्त्व के साथ निर्मल सुख का आभास हो रहा है। यदि मैं कछुए के कौटुम्बिक मोह के समान, तुम्हारे मोह में पड़ जाऊंगा तो सम्यक्त्व और मोक्ष-सुख से वंचित होना पड़ेगा। इससे न तुम्हारा वास्तविक कल्याण होगा और न मेरा ही। अन्त में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगेगा। अतएव तुम मुझे व्यर्थ पाप के कीचड़ में घसीटने का प्रयास न करो।

तुम कहती हो कि यदि भोग भोगे बिना ही योग की साधना करोगे तो दोनों से हाथ धोना पड़ेगा। पर यह आत्मा इस जन्म में नया उत्पन्न नहीं हुआ है। कोई भी आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है आत्मा नित्य है। उसकी पर्यायें पलटती हैं। सो अनादिकाल से इस आत्मा ने न मालूम कितने भव धारण किये हैं और न जाने कितने और कैसे-कैसे भोग भोगे हैं! असंख्य बार यह आत्मा स्वर्ग में जाकर दिव्य काम भोगों को भी भोग चुका है। अतएव भोग भोगना इस के लिए नवीन बात नहीं है। मगर इसे विवेक की विशेष प्राप्ति अभी

तक न होने के कारण यह भोगों से विमुख नहीं हुआ। यह शुभ अवसर अब आ पहुँचा है। चिरकालीन भोग-यातनाओं को भुगतने के पश्चात् अब सौभाग्य से योग की बारी आई है। फिर भी तुम कहती हो कि पहले भोग भोग लो! यह कितनी आश्चर्यजनक बात है !

सुवर्ण श्री ! भोग की कामना तो उस अग्नि के समान हैं जिसमें ईंधन डालने से वह अधिक-अधिक भड़कती जाती है। वह भोगों के भोगने से कभी तृप्त होने वाली नहीं अतएव तुम धर्म का विचार करो। धर्म के प्रशस्त पथ पर प्रयाण करते ही सब कामनाएं निराधार होकर दूर हटने लगता है। आत्मा का दबा हुआ बल क्रमशः बढ़ने लगता है और वह बढ़ने बढते जब अपनी पराकाष्टा को प्राप्त होता है तब सभी आत्मिक विकार दकदम विलीन हो जाते है। उस समय सहज सुख का पूर्ण रूप में अभ्युदय होता है। वही प्रत्येक सुखाभिलाषी का चरम लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के लिए मैं आज कटिबद्ध हुआ हूँ।

जम्बूकुमार की प्रबल युक्तियों से सुवर्णश्री पराजित हो गई। उसे जब कुछ भी उत्तर न सूझा तब वह भी उन स्त्रियों के पास जा बैठी, जो पहले निरुत्तर होकर एक ओर बैठी हुई थीं।

इसके पश्चात् जम्बूकुमार की सातवीं स्त्री रूपश्री ने भी अपना बल आजमाने का विचार किया। वह अन्य स्त्रियों की भांति अभिमान के साथ नहीं वरन् करुणा-भाव की साक्षात् मूर्ति बनकर आई। जम्बूकुमार के साथ इस प्रकार वार्त्तालाप करने लगी।

रूपश्री—प्राणवल्लभ ! हम अबला हैं, असमर्थ हैं। संसार में हमारा कोई स्थान नहीं है। यद्यपि श्रमण भगवान् महावीर ने स्त्रियों का स्थान ऊंचा उठाया है, चिरकाल से अपहरण किये हुए अधिकार उनकी कृपा से हमे मिल गये हैं, फिर भी आज दुनियां की दृष्टि में हमारा पद अत्यन्त हीन समझा जाता है। हमारी अपनी कोई महत्ता नहीं है पति ही हमारा आधार है। पति के सहारे ही हमारा जीवन शान्ति के साथ व्यतीत हो सकता है पति की प्रतिष्ठा ही में हमारी प्रतिष्ठा है! पति हमारी गति है, पति ही मति है। अतएव पति के विना हमारा जीवन निरर्थक है कटकमय और तुच्छ है। आपने दया करके हमें स्वीकार किया है तो कुछ दिनों तक सुख से रहने दीजिये। कृपा कर हमारे सुख का अपहरण न कीजिए। थोड़े समय तक इतनी दया और कीजिए।

हममें न बुद्धि है, न तर्क करने की शक्ति है। हमें आप जो चाहें सो समझा सकते है। अतएव मै तर्क करना नहीं चाहती, इसके अतिरिक्त हम में वह शक्ति भी नहीं है जिसके द्वारा हम बल-प्रयोग कर सकें। हमारे पास सिर्फ हृदय है। उससे अनुनय की जा सकती है। दया के सागर! आप के दिल में अपार दया है। समुद्र सारे संसार को जल का दान करता है फिर भी वह कभी जल से शून्य नहीं होता! उसमें सदा ज्यों का त्यों जल भरा रहता है। आप भी दया के समुद्र हैं। यदि थोड़ी-सी दया की बूंद हमारे ऊपर भी छिटक दें तो आपकी दया में तनिक भी कमी न होगी।

भगवान अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर थे उनका वैराग्य किसी भी सामान्य मुमुक्षु से न्यून नही था। वह भी विवाह नहीं करना चाहते थे फिर भी जब उनकी भौजाई ने आग्रह किया तो उन्होंने उनकी बात टाली नही और विवाह करने की स्वीकृति दे दी थी। भगवान् नेमिनाथ भला भोजाई का आग्रह कैसे टालते ? वह नीति-निपुण थे। वास्तव में जिस देश में और जिस घर में स्त्रियों को अर्धांगिनी समझा जाता है, उनकी प्रतिष्ठा की जाती है वही देश और वही गृह ऋषि-समृद्धि से सम्पन्न होता है। उसमें सब प्रकार कुशल मगल रहता है। एक कवि ने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः !

जहां नारी की प्रतिष्ठा होती है वहा देवता अर्थात् दिव्य (लोकोत्तर) शक्ति के धारक पुरुष क्रीड़ा करते है। क्रीड़ा करने का तात्पर्य यह है कि वहां के पुरुष इतने अधिक शक्तिशाली होते है कि कठिन से कठिन कार्य करना भी उनके लिए क्रीड़ा के समान सरल होता है।

प्रियतम! यही नहीं, चरम तीर्थङ्कर श्रीवर्द्धमान स्वामी ने भी माता-पिता के आग्रह को शिरोधार्य किया था और जब तक उनके माता-पिता जीवित रहे तब तक भगवान् ने साधु-वेष धारण नहीं किया था। आप इन्हीं श्रमण भगवान् के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होना चाहते है फिर भी उनके प्रतिकूल आचरण करते है। यह कैसी विपरीत बात है ? हम लोगों के अतिरिक्त आपके माता-पिता भी आपसे इस समय दीक्षा न लेने का आग्रह कर रहे है। हमारे खातिर नही तो उनकी आज्ञा का पालन करने के ही खातिर फिलहाल आप अपना विचार कुछ दिनों के लिए

स्थगित कीजिए।

जीवनाधार ! जैसे जल के विना मछली तड़फती है, उसे जल के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु सान्त्वना प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकती, इसी प्रकार आपके वियोग की कल्पना मात्र से आपके स्नेह रूपी जल के अभाव में हम सब तड़फ रही हैं। क्या आप में इतनी उदारता नहीं है कि आप थोड़ा-सा स्नेह जल हमें प्रदान कर सकें ? यदि आपने ऐसा न किया तो आपको उस पक्षी की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा। कथा इस प्रकार है:—

किसी भयानक जंगल में एक सिंह रहता था। वह प्रतिदिन हिरन आदि पशुओं को मार कर अपना पेट भरता था। एक दिन उसने किसी मृग पर अचानक आक्रमण किया और उसे मार कर तथा भक्षण करके अपनी गुफा में सो रहा। उसके मुंह में कुछ मांस के कण लगे रह गये थे। ऐसी अवस्था में सिचानक जाति के एक पक्षी ने सिंह को देखकर उसके मर जाने का अनुमान कर लिया। वह मांस के उन कणों को खाने के लिए सिंह के पास आया। उसके साथी पक्षियों ने उसे वहुतेरा समझाया कि तू ऐसा प्राणों का संदेह रूप साहस न कर, पर उसने किसी की न सुनी। वह आमिप—कणों में इतना लुब्ध हो गया था कि उसे हिताहित का विचार करना ही न सूझा। वह जल्दी—जल्दी बड़ी प्रसन्नता के साथ सिंह की ओर लपका और सिंह के फटे हुए मुंह में मजे से बैठ गया ! मुंह में आमिप के जो कण लगे हुए थे उन्हें अपनी छोटी—सी चोंच से निकाल कर खाने लगा। सिचानक का नोंक

मारना था कि सिंह उसी समय जाग उठा और उसने जबाड़े बंद किये। चक्की के दो पाटों के बीच आया हुआ गेहूँ जैसे पिस जाता है उसी प्रकार दोनों जबड़ों के बीच पड़कर सिचानक ने भी अपने प्राण गंवा दिये।

प्राणनाथ ! आप इस दृष्टान्त का मर्म समझ गये होंगे। आप सयम रूप सिह के जबड़े में, स्वर्ग और मोक्ष के सुख रूपी आमिष के टुकड़े को प्राप्त करने के लिए, जाना चाह रहे है। सिचानक के साथियों के समान आप हमारा कथन अनसुना कर रहे हैं। इसका फल सुखदायक न होगा। सिचानक की करतूत के फल का विचार आते ही हमारे रौंगटे खड़े हो जाते है। आप इस भीषण मार्ग में हठ करके प्रयाण न कीजिये। हम सब क्रीत दासी की भांति आपकी सेवा में निरन्तर निमग्न रहेंगी। किसी भी वस्तु का अधिक खींचना श्रेयस्कर नहीं होता। जहां अधिक खिचाव है वहां टूटने का भय रहता है।

विश्वास रखिए, पाणाधार ! कुछ दिनों तक गृहस्थ-अवस्था मे रहकर अधिक अनुभव प्राप्त करने से मोक्ष दूर नहीं भाग जायगा। फिर हम सबका अनुगमन करेंगी। आपके अनुष्ठान में बाधक न बनकर साधक बनेंगी।

रूप श्री का यह कथन सुनकर भी जम्बूकुमार का मन मेरु रंच मात्र भी न डिगा। वह ज्यों का त्यों निश्चल बना रहा। उनकी रग-रग में वैराग्य का अमी-रस लबालब भर गया था अतएव अब किसी दूसरे रस के प्रवेश की गुंजाइश ही नहीं रह गई थी। उनके मन से भौगानुराग एकदम निकल गया था। भोग उन्हें भुंजग के समान भयंकर प्रतीत होते थे। विषय को वह विष के

समान समझ रहे थे। अतएव इन्होंने अपनी सातवीं रूपश्री से कहा—

प्रिये ! खेद है कि तुम वस्तु के ठीक ठीक और मूल स्वरूप को नहीं समझती हो और न समझने का प्रयत्न ही करती हो। मैं पहले कह चुका हूँ कि संसारवर्ती समस्त छोटे-मोटे जीवधारियों की आत्मा मूल में एक रूप है। न आत्मा पशु है, न पक्षी है, न मनुष्य है, न देव है, न नारकी है, न स्त्री है! न पुरुष है, यह सब आत्मा के विकार हैं। यह विकार कर्म रूप बाह्य उपाधि से उत्पन्न होते हैं। जैसे सांप की कांचली सांप से भिन्न है उसी प्रकार समस्त पर्यायें आत्मा से भिन्न हैं। अतएव तुम अपने को स्त्री-अवला आदि कहकर और समझ कर भारी भ्रम में पड़ रही हो। प्रत्येक आत्मा में वस्तुतः परमात्मा है। श्रमण भगवान महावीर ने यह उपदेश दिया है कि आत्मा समस्त विकारों से मुक्त होने पर स्वयं परमात्मापद को प्राप्त होती है।

किन्तु जब तक ससारी जीव को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक वह आत्मा के असली स्वरूप को देख और जान नहीं पाता है। वह जीव और पुद्गल के मिले हुए आकार को ही देखता है और उसी को वास्तविक आत्म-स्वरूप समझ लेता है। यह सब कर्मोदय का प्रताप है। कर्मोदय से ही शरीर प्राप्त होता है और शरीर के संयोग से स्त्री-पुत्र आदि परिवार बन जाता है। कर्मोदय से जीव जिस शरीर मे निवास करता है उसी रूप में अपने को मान लेता है। अतएव वह रात-दिन इन्द्रिय—सुखो में मग्न होकर उन्हीं के लिए प्रयत्नशील रहता है। सुख की ही प्राप्ति के लिए इष्ट पुत्र, कलत्र मित्र और अनूकूल विषयों में

राग करता है और प्रतिकूल पर द्वेष करता है। पर वस्तुतः यह सब आत्मा से जुदे है। सभी चेतनावान् पदार्थ हमसे भिन्न हैं। सब अपने-अपने कर्म बांधकर भिन्न-भिन्न गतियों से यहां आये है और इस जन्म में अपने अपने भावों और कर्त्तव्यों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म बांधकर भिन्न-भिन्न गतियों में जाएंगे। इनमें से किसी का अपना मानव अज्ञात है। पति-पत्नी अथवा पिता-पुत्र आदि का जो सम्बन्ध है वह आत्मा के साथ नहीं किन्तु शरीर के साथ है। जो शरीर को उत्पन्न करता है वह माता-पिता कहलाता है। इसी प्रकार एक माता-पिता से उत्पन्न होने वाले आपस में भाई-बहिन कहे जाते है। इन सब का सयोग सदा रहने वाला नहीं है। यह शरीर, जो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त साथ रहता है, जिसको तरह तरह के स्वादिष्ट और सुरभित भोजन पान खिला-पिला कर पुष्ट करते है, जिसके लिए प्राणों को खतरे मे डाल कर भी अर्थोपार्जन करते है, वह भी अन्त मे हमें छोड़ जाता है। जब शरीर ही हमें छोड़ देता है तब शरीर के साथी पिता-पुत्र, कलत्र आदि कैसे साथ दे सकते है ? वास्तव में साथी देने वाला एक मात्र धर्म है। धर्म से ही समस्त प्रयोजन सधते है। कहा भी है:—

धर्मः शर्म भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमः,
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुल प्रीतिस्तदाशंसिनाम्।
धर्मःस्वर्नगरीनिरन्तर सुखस्वादोदयस्यास्पदम्,
धर्मः किन्न करोति मुक्तिललना सम्भोगयोग्यं जगम्॥

अर्थात् धर्म ही धरणेन्द्रपुरी के सारभूत सुख को प्राप्त करने वाला है, धर्म ही मध्यलोक के चक्रवर्ती आदि के सुखों को देने

वाला है, धर्म ही स्वर्ग में निरन्तर रहने वाले सुखों का आस्वादन कराने में समर्थ है, धर्म क्या नहीं कराता ? धर्म की बदौलत ही प्राणी मुक्ति रूपी ललना के भोगने योग्य बनता है।

अतएव रूपश्री ! तत्त्व का विचार करो। मोह की जो गांठ तुम्हारे दिल में गंठी हुई हैं उसे काट डालने का प्रयत्न करो। वास्तव में मोह बड़ा दुष्ट है। इसी की संगति के कारण प्राणी संसार के माता, पिता, पति, पुत्र आदि को अपना मानता है। तब किसी से राग करता है, किसी से द्वेप करता है। इस राग-द्वेप के कारण तीव्र पाप का बन्ध होता हैं और पाप बन्ध से संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता है। यह ससार अटवी अत्यन्त भयानक है। जरा और मरण—यह दो भयंकर सिंह इसमें बसते है। वे किसी को पकड़ कर सताते हैं, किसी को दुःखी करते हैं और अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक क्लेश पहुँचाते हैं। इस भव-अटवी में चार गतियां हैं। प्राणी जहां जाता है वहीं व्याकुलता और विविध प्रकार की वेदना भोगता है। मोह के वश में होकर आत्मा अनन्तकाल इस अटवी में चक्कर काट रहा है। तीव्रतर पुण्य के उदय से यह मानव-भव प्राप्त हुआ है। अतएव मोह का परित्याग करके ऐसा कोई उद्योग करना चाहिए जिससे समस्त दुःखों से सदा के लिए पिण्ड छूट सके।

दुःखों से त्राण पाने के लिए जो उद्योग किया जाना चाहिए वही उद्योग मैं करना चाहता हूँ। मिथ्यादर्शन के विष का वमन करना, सम्यग्दर्शन रूपी अमृत-रस का पान करना, आत्मा का अनुभव-ज्ञान प्राप्त करना, आत्मिक सुख के सरोवर में विलास करना, यह एक ऐसा उद्यम है जिसके द्वारा मोह

रूपी मोहमल्ल को पछाड़ा जा सकता है। इसी अमोघ अस्त्र से मोह-शत्रु का संहार हो सकता है। मोह का संहार होने से आत्मा के आगे का पर्दा दूर हो जाता है और शुद्ध चेतना की अभिव्यक्ति होती है। उससे आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान होता है। भेद-विज्ञान की वैराग्य की आधार-शिला है! जिस के हृदय में भेद-विज्ञान का प्रकाश उदित हो जाता है वह आत्मा को संसार के समस्त द्रव्यों से, समस्त पर्यायों से भिन्न अनुभव करने लगता है अभ्यास की वृद्धि होने पर उसे आत्मिक आनन्द का स्वाद आने लगता है। इन्द्रिय-जन्य सुख उसे निःस्सार और तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। जो आत्मा-ज्ञान के अभ्यास से चित्त को निश्चल बना लेता है, जो निश्चल वैराग्य के द्वारा संसार के काम भोगों से अपनी रुचि हटा लेता है, जिसे आत्म-सुख को भोगने की तीव्र रुचि पैदा हो जाती है, उसे संसार के राग-रंग फीके, निःस्सार और निःस्वाद जान पड़ने लगते है। अतएव आत्म-ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है।

रूपश्री! तुम कहती हो कि कुछ समय ठहर कर, गृहस्थ-अवस्था का अनुभव प्राप्त करके फिर मै सयम-धारण करूं, किन्तु काल का क्या भरोसा है? मृत्यु चील की भांति सिर पर चक्कर काट रही है। जब वह झपटती है तब कोई किसी की रक्षा नही कर सकता। कहा भी है:—

न वैधा न पुत्रा न विप्रा न शक्रा,
न कान्ता न माता न भृत्या न भूपा!
यमालिंगितं रक्षितं सन्निशक्ताः,
विचिन्त्येति कार्यं निजं कार्य भार्यैः॥

भावार्थ—जब यमराज किसी का आलिंगन करता है तब वैद्य औषध करके नहीं बचा सकते, पुत्र, कलत्र, माता-पिता, नौकर-चाकर, राजा आदि कोई भी रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है। ऐसा विचार कर श्रेष्ठ पुरुषों को अपना कर्त्तव्य करना चाहिए।

ऐसी अवस्था में वर्त्तमान की अनुकूलता का त्याग कर कौन विवेकशील पुरुष अनियत भविष्य पर निर्भर होकर बैठ रह सकता है?

अद्यैव हसितं गीतं, पठितं यः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते, कष्टं कालस्य चेष्टितम् ॥

अर्थात् जो आज ही हंस रहे थे, गा रहे थे, पढ़ रहे थे, वे आज ही दृष्टिगोचर नहीं हो रहे है-न जाने किधर चल दिये हैं। काल की चेष्टा सचमुच कष्टकारी है।

अतएव आयु के यह अनमोल क्षण, जिनमें शरीर समर्थ है, इन्द्रियां अपने-अपने व्यापार में शक्त हैं मन में विकृति नहीं है वृथा खो देने योग्य नहीं हैं। इनका सदुपयोग करो। मेरे पथ में रोड़ा न बनो।

रूपश्री ! तुमने जो दृष्टान्त दिया है वह मेरे विषय में लागु नहीं होता है। सिचानक जिह्वालोलुपता के कारण दुःख का भागी हुआ था। लोलुपता इस जन्म और पर जन्म में दुःखों की परम्परा को उत्पन्न करती है, यह मैंने पहले ही कहा था। मैं उससे अब विरक्त हो चुका हूँ, तुम स्वयं इन्द्रिय-लोलुपता के फेर में पड़ी हो अतएव सिचानक का उदाहरण तुम्हीं पर ठीक घटता है।

इसके अतिरिक्त संयम को तुम सिह के स्थान पर बतलाती हो पर मैं ऐसा कायर और निर्वीर्य नहीं कि उस सिह से भयभीत होकर भोगों की भट्टी में पड़कर अपने मूल्यवान् जीवन को वृथा गंवा दूं। संयम वह सिह है जो—प्रराक्रम का प्रचण्ड प्रतीक है जिसका सहारा लेकर मनुष्य भोगों के भेड़ियों से सुरक्षित हो जाता है। और अपना :इच्छित कार्य सफल कर लेता है प्रिये! विश्वास रक्खो, मैं उस सिह के मुंह में निर्भय, निस्संकोच होकर प्रवेश करूंगा और उसके जवड़ों से स्वर्ग और मोक्ष का अनुपम, अनिर्वच-नीय और अनन्त सुख प्राप्त करूंगा।

रूपश्री! मै तुम्हारी भूलभुलया मे भूल कर अपने निर्णीत पथ से विमुख नही हो सकता। तुम सब स्वाथ के लिए चेष्टा कर रही हो। वह स्वार्थ भी वास्तव मे स्वार्थ नही है। सच्चा स्वार्थ आत्म कल्याण है इन्द्रिय तृप्ति का आयोजन तो जघन्य और निकृष्ट स्वार्थ है और वह दुर्गति में लेजाता है। तुम्हारा कहना मानकर यदि मै भोगों का खिलौना बन जाऊगा तो परलोक की वेदनाएं भोगते समय क्या तुम साथ दे सकोगी? कदापि नहीं। मै कुछ समय संसार में ठहर जाता, मगर—

आयुर्नश्यति पश्यति प्रतिदिन गाति क्षय यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
लक्ष्मीस्तोयतरगभग चपला विद्युच्चल जीवतम्,
तस्मान्मां शरणागत शरण! त्वरक्ष रक्षाद्युना॥

अर्थात् देखते-देखते आयु प्रदिदिन नष्ट होती जा रही है, यौवन अवस्था क्षण-क्षण में जीर्ण होती है, जो दिन चला जाता

है वह सदा के लिए ही चला जाता है—फिर कभी लौट कर वापिस नहीं आता, इधर काल सारे संसार का भक्षण करने में लगा हुआ है, लक्ष्मी पानी की तरंगों के समान अत्यन्त चपल है, और क्या कहा जाय, सारा जीवन ही बिजली की भांति क्षण-विनश्वर है। यहां कल का कोई ठिकाना नहीं है अतएव मैं गुरु महाराज से यही प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवान् ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। शरणादाता ! तुम्हीं मेरी रक्षा करो।

तुल्य जातिवयोरूपान्हतान् पश्यसिमृत्युना।
कथं ते नास्ति निर्वेदो लोहं हि हृदयं तव ॥

रूपश्री ! तू अपनी समान जाति वालों को, उम्र वालों को और समान रूप वालों को मृत्यु के पंजे में पड़ा हुआ देख रही है, फिर भी तुझे वैराग्य नहीं आता ! सचमुच तेरा हृदय लोहे का है, अत्यन्त कठोर है।

एक महानुभाव कवि ने भविष्य पर निर्भर होने वालों को सम्बोधन करके कितनी मार्मिक उक्ति कही है—

यस्य वा मृत्युना संख्यं यो वा स्यादजरामरः।
तस्येदं युज्यते वक्तुमिदं श्वो मे भविष्यति ॥

अर्थात् जिन्होंने मौत के साथ दोस्ती कर ली हो, या जिन्होंने अजर-अमर होने का पट्टा लिखा लिया हो, वही लोग ऐसा कह सकते हैं कि—यह कार्य मैं कल करूंगा !

कवि ने कितने सुन्दर शब्दों में अनुभव पूर्ण बात कह दी है। कल अमुक करूंगा, परसों वहां जाऊंगा, बुढ़ापा आने पर संयम धारण करूंगा, ऐसा मन्सूबा करने वाले

लोग कितने भोले हैं। रूपश्री ! उन्हें यह पता नहीं कि कल तक जीवन बना रहेगा या नहीं बिलकुल यथार्थ ही कहा है:—

इदमद्य करिष्यामि, श्वःकर्त्ताऽस्मीति वादिनम् ।
कालो हरिति सम्प्राप्तः, नदी वेग इव द्रुमम् ॥

अर्थात् इधक आदमी सोचता है कि मैं आज यह काम करूंगा और कल वह काम करूंगा। इसी समय काल लपकता है और वह उसे उठा ले जाता है उसके समस्त मनोरथ ऐसे ही रह जाते है।

रूपश्री ! मै जो कुछ कह रहा हूँ, वह काव्य की कल्पना नहीं है। वह ऐसी बात भी नही है जो परोक्ष हो और जिसे तुम जान न सकती हो। यह ससार की दशा का प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला वर्णन है। सारे संसार में यही हो रहा है। फिर भी तुम मुझे अपने पथ से विचलित करने का प्रयास कर रही हो। तुम कहती हो कि कुछ समय तक ठहर कर ससार के वैभव का भोग करो फिर संयम धारण कर लेना। किन्तु जो मनुष्य मृत्यु को अपने सिर पर सवार हुई देख रहा है, उसे संसार की अन्य विभूतियों की तो बात ही क्या, आहार भी नहीं रुच सकता। कहा भी है—

स्वमस्तक समारूढं मृत्युं पश्येज्जन यदि ।
आहारोऽपि न रोचेत, किमुतान्य विभूतयः ॥

इसका आशय ऊपर आ चुका है। क्या रूपश्री ! इतना होने पर भी तुम संयम लेने में वाधा डालना चाहती हो ? तुम्हें तो शीघ्र ही मेरा अनुसरण करना चाहिए और भयंकर संसार से अपना पल्ला छुड़ा लेना चाहिये । देखो, संसार में कोई किसी

का साथी नहीं है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करता हूँ, जिसे तुम सरलता से समझ सकोगी।

सुग्रीव नामक एक अतिशय सुन्दर शहर था। जितशत्रु राजा का उस शहर पर शासन था। राजा जितशत्रु अत्यन्त नीति निष्ट और धर्म-धुरीण था। राजा का एक पुत्र था और वह युवराज था। उसके तीन मित्र थे। एक मित्र रात-दिन युवराज के साथ रहता था। दूसरा मित्र दिन में उसके साथ रहता था और तीसरा कभी-कभी युवराज से मिलता और जब मिलता तब साधारण शिष्टाचार कर लेता था। युवराज रातदिन पास रहने वाले पहले मित्र पर बहुत प्रेम करता था। उसे बड़े आराम से रखता था। जो वस्तु युवराज स्वयं खाता वही उस मित्र को खिलाता था। जो आप पहनता वही अपने अभिन्न-हृदय मित्र को पहनाता था। दूसरे मित्र को भी वह आराम से रखता था, पर पहले मित्र की अपेक्षा उससे कुछ कम स्नेह करता था।

राजा ने एक दिन विचार किया—युवराज के तीन मित्र हैं। पर वह तीनों सच्चे हृदय से युवराज को चाहते हैं या ऊपरी हृदय से—सिर्फ स्वार्थ के लिए ? अथवा तीनों में से कौन कितना चाहता है ? कौन युवराज के लिए कितना स्वार्थ त्याग कर सकता है ? इन सब बातों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। ऐसा विचार करके राजा ने दूसरे दिन सूर्योदय होते ही, अगले दिन युवराज को फांसी की आज्ञा सुनादी।

एकाएक राजा की यह भीषण आज्ञा सुनकर राज्य भर में आश्चर्य फैल गया। प्रजा आतंक के मारे थर-थर कांपने लगी। कोई-कोई कहने लगे राजा को यह क्या सूझा है कि वह अपने

एक मात्र उत्तराधिकारी के प्राणों का ग्राहक बन गया है ?

दूसरे ने कहा—भाई, राजनीति इसी को कहते है। 'वारांगनेव नृपतीतिर नेकरूपा' अर्थात् राजनीति वेश्या के समान अनेक रूप धारण करती रहती है। उसका बाहरी रूप कुछ और होता है, भीतरी रूप कुछ और होता है ! हम लोग उसके असली नग्नयरूप को नही पहुँच सकते।

तीसरे ने कहा—अपने एकलौते पुत्र को फांसी पर चढ़ा देना भी कोई राजनीति हो सकती है क्या ? यह राजा का निरा पागलपन है। पता नही उसे क्या सूझा है ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि राजा को उन्माद रोग हो गया है !

चौथा नागरिक बोला—उन्माद होने पर तो सभी कामों में उसकी झलक आनी चाहिए। सिर्फ युवराज को प्राण दण्ड देने के लिए ही तो उन्माद होते कभी देखा नही।

पांचवें को दूर की सूझी। बोला—अजी, उन्माद नही है। मुझे तो यह प्रेम के अभिनय का परिणाम जान पड़ता है ! किसी नई-नवेली पर राजा मोहित हो गया होगा। पर सुन्दरी अपनी सौत के लड़के को युवराज पद पर प्रतिष्ठित होते न देख सकी होगी। उसकी फरमाईश को पूरा करने के लिए ही शायद यह क्रूरतापूर्ण कृत्य किया जा रहा है।

छठे महाशय अपनी राज-श्रद्धा को व्यक्त करते हुए बोले—आप लोगों की आलोचना सुनकर मुझे तो आश्चर्य होता है। महाराज जितशत्रु दीर्घकाल से राज्य कर रहे है। उनकी न्याय परायणता के विरुद्ध आज तक किसी को ऊंगली उठाने का भी अवसर नहीं मिला है। आज क्या महाराज एकदम पतित हो

गये होंगे ? कदापि नहीं ! ऐसा होना सम्भव नहीं। अवश्य ही युवराज ने कोई गुरुतर अपराध किया होगा। युवराज के प्राण-दण्ड के समाचार से हम लोगों को जब हार्दिक वेदना हो रही है तब स्वयं महाराज को—जिनकी आशायें उसी पर अवलम्बित हैं, जो उनका जीवनाधार है—कितना कष्ट न होगा ? पर नीति की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने अपनी छाती पर पत्थर रखकर यह आज्ञा दी होगी। हमें भूलकर भी महाराज के विरुद्ध आलोचना नहीं करनी चाहिए। उनके प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करना हमारा धर्म है। उन पर कामुकता का आरोप लगाना तो हद दर्जे की धृष्टता है। महाराज जितशत्रु धर्मात्मा है, स्नेहशील हैं, जितेन्द्रिय है, नीतिनिष्ठ हैं। अभी देखिए, सारा रहस्य खुल जायगा। उतावली न कीजिए।

राजा की आश्चर्यजनक आज्ञा का हाल जहां पहुँचता था वहीं इस प्रकार की अनेक चर्चाएं होने लगती थी। पर असली मर्म का पता सिवाय राजा के, और किसी को न था।

मन्त्री भी राजा का आदेश सुनकर चकित रह गया था। वह तत्काल महाराज के समीप पहुँचा और अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहने लगा—

मन्त्री—अन्नदाता। यह क्या सुन रहा हूँ। मैंने जो कुछ सुना है, क्या यह सही है पृथ्वीनाथ !

राजा—मन्त्री जी ! पागल तो नहीं हो गये हो ? मुझे क्या पता कि आपने क्या सुना है ? और वह सही है या गलत ? कहो तो जान पड़े।

मन्त्री—युवराज को...............?

राजा—हां, अच्छा समझ गया । युवराज को कल प्राण-दण्ड दिया जायगा, यह सर्वथा सत्य है !

मन्त्री—क्यों महाराज ! युवराज ने क्या कोई सतुरु अपराध किया है ?

राजा—मन्त्रीजी, सम्हल कर बात कीजिए। यह मेरा आदेश है ! आपको मुझसे कैफियत तलव करने का आधिकार किसने दिया है ? मैं कोई कारण नही बताना चाहता। मेरी आज्ञा पालनी होगी !

मन्त्री—दीनानाथ। आपकी सर्वत्र कीर्ति फैली हुई है। आप के यश से संसार धवलित हो रहा है। यदि आप इस आदेश को नहीं वदलेंगे तो आपके उज्जवल यश में अमिट कालिमा लग जायगी। पुत्र घातक का कलंकित सम्बोधन सुनकर आप किस प्रकार सहन करेंगे ? मैं भी मुंह दिखाने योग्य न रह जाऊंगा।

राजा—मन्त्री ! मैंने सब सोच-समझ लिया है। मुझ में सव कुछ सहन करने का सामर्थ्य है। तुम जाओ और चुपचाप मेरी आज्ञा का पालन करवाओ।

मन्त्री—पृथ्वीनाथ ! ऐसा न होगा-कदापि न होगा। जब तक मै मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हूॅ तब तक आप स्वयं भी अन्याय न कर पाएंगे। मै आपकी इस अन्यायपूर्ण आज्ञा के विरुद्ध प्राणदण्ड को रोकूंगा। मन्त्री सिर्फ पेट पालने के लिए नही है। वह न्याय का समर्थक है मै इस अन्याय का हरगिज समर्थन नहीं करूंगा।

राजा—मालूम होता है चिउंटी के पंख आये है ! मन्त्री, तेरा इतना वड़ा साहस कि तू मेरी आज्ञा के विरुद्ध वर्त्ताव करेगा ?

जानते हो इसका क्या फल होगा ? तुम्हें अपने पद से हटना पड़ेगा। तुम्हारी सारी जायदाद जप्त कर ली जायगी और जेलखाने में ठूंस दिये जाओगे। भली-भांति अपने भविष्य को सोच लो।

मन्त्री—महाराज ! यह जीवन और जायदाद जाने वाली है—एक न एक दिन चली ही जायेगी। सदा रहने वाली नहीं। ऐसी दशा में यदि अन्याय का प्रतिकार करने में यह जाए तो इसका जाना सफल हो जायगा ! मैंने आपसे ही सीखा है कि न्याय की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान कर देना ही जीवन की सार्थकता है। आज वह समय आ पहुँचा है। आप मुझे जेल में डालिए, फांसी चढ़ाइए, जायदाद जप्त कीजिए, इच्छा हो सो कीजिए, पर मेरे मन्त्री रहते यह अन्याय न हो सकेगा—न हो सकेगा, हर्गिज न हो सकेगा !

राजा—न्याय की दुहाई देने वाले राजद्रोही मन्त्री ! जाओ अभी, इसी क्षण, मैं तुम्हें मन्त्री पद से भ्रष्ट करता हूँ। फिलहाल यही दण्ड तुम्हारे लिए पर्याप्त है।

मन्त्री चुपचाप वहां से चल दिया। यद्यपि वह पदच्युत कर दिया गया था फिर भी संतोष का भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट अंकित था। आज वह पराजित होकर भी जीत गया था।

मन्त्री के साथ राजा ने जो सलूक किया उससे आतंक और ज्यादा फैल गया। अब राजा के पास जाने का कोई साहस न कर सका। जिसने यह सब सुना वही दुःख भरे दिल को लेकर रह गया। किसी को कुछ नहीं सूझता था। अब यह निश्चित था कि कल युवराज को प्राण-दण्ड मिल जायगा।

युवराज का पहला रात-दिन साथ रहने वाला मित्र बड़ी असमंजस में पड़ा था। वह सोचने लगा—जब मन्त्रीजी को भी अपने पद से च्युत होना पड़ा, तब मै किस खेत की मूली हूँ! मेरी शिफारिश कौन सुनेगा? यही नहीं, अब तो युवराज के साथ रहने में अपनी भी कुशल नहीं है। कोई बहाना करके यहां से टरक जाने में ही भला है। ऐसा सोचकर स्वार्थी साथी बोला—राजकुमार! भुजिये और सेव तेल के बहुत ज्यादा खा लिये थे। आज वे पेट में उत्पात मचा रहे है। दस्त आरम्भ हो गये हैं। अतः मुझे घर जाना बहुत जरुरी है। आज्ञा दीजिए, जल्दी चलूं।

युवराज ने कहा—तुम सदा यहां निवृत्त होते हो। आज भी यहीं हो लो। इसके लिए घर जाने की क्या आवश्यकता है? तुझे पता ही है कि महाराज किसी कारण मुझ पर नाराज हो गये हैं कल मुझे प्राण-दण्ड मिलेगा। मै सदा के लिए तुझसे बिछुड़ जाऊगा। जीवन भर हम-तुम साथ रहे है तो अब मृत्युकाल आने पर क्यों अलग होते हो? थोड़ा और ठहरो। फिर तो जाना ही होगा। तुम्ही पर मेरा पूर्ण विश्वास है इस घोर आपत्ति काल मे तुम मुझे छोड़कर कैसे जा सकते हो? प्रिय मित्र! थोड़ी बातें और करलो, फिर तो सब कुछ समाप्त होने जा रहा है।

युवराज के इस प्रेमपूर्ण अनुनय युक्त कथन को सुनकर भी उस स्वार्थी मित्र ने वहां ठहरना स्वीकार न किया। वहां से वह अपनी जान बचाने के लिए भागा और घर आ पहुँचा!

दूसरा मित्र सदा ही दिन में युवराज के पास रहता था और सन्ध्या होते ही घर चला जाता था। उसने सोचा—अपने तो दिन-दिन के मित्र है। दिन भर रहेंगे और रात होते ही

चलते बनेंगे। जब रात-दिन का मित्र ही युवराज का साथ छोड़ गया तो मेरी ही जान फालतू थोड़े ही है। ऐसा सोचकर वह संध्या समय तक युवराज के पास बना रहा। कुछ भी न सूझ पड़ा। आखिर राजा के निर्णय के आगे किसी की क्या चल सकती थी ? अन्त में सूर्य अस्ताचल पर जा पहुँचा और वह भी घर जा पहुँचने के लिए युवराज से आज्ञा मांगने लगा। वह बोला—युवराज अत्यन्त अफसोस है कि मैं बहुत कुछ सोच-विचार कर भी आप को बचाने का कोई उपाय न निकाल सका। क्या करूं, असमर्थ हूँ। संध्या हो गई है। मेरे जाने का समय हो चुका है। आज्ञा दीजिए चलूं।

युवराज बोले—मित्र ! हमेशा रहने वाला मित्र लौटकर नहीं आया है, तुम भी जाना चाहते हो जिंदगी की यह अन्तिम रात्रि है। इसे शान्ति के साथ बिताने की अभिलाषा भी पूर्ण नहीं हो रही है। तुम रहते तो बातचीत में समय निकल जाता। मन लगा रहता। क्या तुम किसी भी प्रकार आज रात यहां नहीं ठहर सकते ?

मित्र-नहीं युवराज, क्षमा चाहता हूँ। मेरा ठहरने का समय पूरा हो गया है। अब मुझे जाना ही पड़ेगा। मेरे बिना घर पहुँचे मेरी मां रोटी नहीं खाती। लाचार हूँ।

इतना कह कर दूसरा मित्र भी युवराज को मौत के मुंह में पड़ा छोड़ कर अपने रास्ते लगा।

युवराज अब अकेला रह गया। प्रातःकाल होते ही उसे भय

राजा का अतिथि बनना होगा, यह विचार उसे भयंकर प्रतीत हो रहा था। उसने सोचा-अभी सारी रात्रि बीच में है। तब तक मित्रों से मिल कर आत्म रक्षा का कोई उपाय कर लेना उचित है। संभव है किसी उपाय से प्राण बच जाएं। ऐसा विचार कर वह रात्रि के अन्धकार में राजमहल से निकल कर चल दिया। पहले युवराज ने पहले मित्र के घर जाना उचित समझा ! वहां पहुँचा और मित्र का दरवाजा खटखटाया !

खटखट का शब्द सुनकर युवराज का मित्र ऊपर से बोला कौन है ?

युवराज—मैं हूँ युवराज। तुम्हारा अभिन्न हृदय मित्र। किवाड़ खोलो तो बातचीत करूं।

मित्र—कहिए आप इस समय कैसे पधारे हैं।

युवराज—मित्र, तुम अनजाने-से बनकर बातें कर रहे हो। तुम्हें मालूम है कि मुझे प्राणदण्ड मिला है। महाराज ने यह भी आज्ञा दी है कि जो मेरी मदद करेगा उसे भी प्राणदण्ड मिलेगा। ऐसी मुसीबत के समय तुम्हें खतरे में डालना यद्यपि उचित न था, मगर तुम्हारे सिवाय मेरा और कोई सहायक नहीं है। मैंने अपने जीवन में तुम्हें ही अपना मित्र बनाया है। अतएव तुम्हारे पास आया हूँ। भाई, कोई उपाय सोचो। किसी प्रकार सहायता करो, जिससे राज्य गया भाड़ में, प्राण तो बच जाएं।

मित्र—युवराज, तुम यदि मेरे सच्चे मित्र होते तो मेरे प्राणों को विपत्ति में डालने के लिए कदापि मेरे पास न आते। जब तुम्हारी सहायता करने वाले को भी फांसी मिलने की महाराज की आज्ञा है तो तुम मुझे अपना साथी बनाने आये हो ! यदि किसी

प्रकार महाराज को तुम्हारे यहां आने का समाचार मिल गया तो मेरी भी जान जायेगी। तुम मेरे मित्र बनते हो और मेरे प्राणों के भी प्यासे हो। ऐसी मित्रता तो दुनिया में अनोखी चीज है। भाई, दया करो मुझ पर! मैं गरीब आदमी ठहरा। तुम जैसे बड़ों के साथ मेरी कैसी मित्रता। उल्टे पांव यहां से, अभी इसी समय विदा हो जाइए। बाज आये ऐसी मित्रता से।

युवराज—आज विपत्ति आते ही एक दम बदल गये? मैं अभी लौट जाऊंगा। द्वार तो खोलो जरा। गाढ़े समय में ही मित्रता काम आती है!

मित्र—युवराज, कह दिया एक बार। जाओ, हटो यहां से। निर्लज्जता की भी सीमा होती है! मरना है तो मरो। अपने पापों का फल आप ही भोगो। मुझे क्यों लपेटने का प्रयत्न करते हो। मैं इस समय तुम्हारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। जल्दी जाओ। भागो। एक क्षण भी यहां ठहरे तो ऊपर से पत्थर मार दूंगा।

युवराज ने अपने मित्र की बात सुनी तो वह स्तंभित रह गया। जो व्यक्ति रात-दिन चरण चूमता रहता था, आज वही पत्थर मारने को तैयार है। जो गुलामी करते-करते अघाता न था आज वह अपने घर में घुसने तक नहीं देता। जो कल तक मेरे वाक्यों को अमृत के समान मधुर कहता था आज वह मेरी प्रार्थना को भी नहीं सुनता। 'दैवी विचित्रा गतिः' भाग्य की गति सचमुच बड़ी विचित्र है।

इसी प्रकार सोचता-विचारता राजकुमार दूसरे मित्र के पास गया। वहां जाकर बोला—बन्धुवर। आज मेरे ऊपर विपदाओं

का पहाड़ टूट पड़ा है। तुम सब बातें जानते हो। ऐसी घोर विपत्ति के समय मित्रों के अतिरिक्त और कौन सहायता कर सकता है? यही सोचकर तुम्हारे पास आया हूँ। हो सके तो कुछ करो और मेरे प्राण बचाओ।

दूसरा मित्र राजकुमार को आया देख नीचे उतरा। किवाड़ खोलकर बोला—राजकुमार! मैं बड़ा नमकहराम हूँ कि इस समय आपकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। खेद है कि मैं सहायता करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता हूँ। आखिर कोई उपाय भी तो नहीं नजर आता। महाराज के सामने बड़ों-बड़ों की नहीं चली तो मैं किस खेत का बथुआ हूँ। मेरी कौन सुनेगा? हां, एक उपाय है। मैं अपना तेज चाल वाला एक घोड़ा आपको दे सकता हूँ। साथ में कुछ मोहरें रख दूंगा। आप घोड़े पर सवार होकर किसी तरफ चल दीजिए। संभव है, आप की जान बच जाय।

युवराज—राजा के बड़े लम्बे हाथ हैं। भाग कर कोई बच नहीं सकता। वह कहीं से पकड़ाकर मंगवा लेंगे और तब अधिक दुर्गति होगी। इस उपाय से प्राण बचने की कोई संभावना नहीं है। आपने घोड़ा देने की उदारता प्रदर्शित की इसके लिए अनेक धन्यवाद। पर अब मेरे जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। प्रातःकाल मैं परलोक को प्रयाण करूंगा।

युवराज की निराशा चरम सीमा को जा पहुँची थी। उसके आगे मृत्यु मुंह फाड़े खड़ी थी। भय के मारे वह कांप रहा था। इसी समय उसे अपने तीसरे मित्र का ध्यान आया। जब दो परिचित मित्रों से कुछ भी न बन पड़ा तो वह भी क्या कर सकेगा? फिर

भी डूबते को तिनके का सहारा भी बहुत प्रतीत होता है। वह निराश हृदय से अपने तीसरे साधारण मित्र के पास गया। उसके दरवाजे पर पहुँच कर किवाड़ खटखटाया।

आवाज आई—कौन है ?

युवराज—मैं हूँ भाई ! क्या नीचे आ सकते हो ?

तीसरा मित्र युवराज की आवाज पहचान कर फौरन नीचे आया। आते ही युवराज को खड़ा देखकर बोला-आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपके चरणों से मेरी झोंपड़ी पवित्र हुई। आपकी दयालुता के लिए अत्यन्त आभारी हूँ। पधारिये, भीतर चलिए।

युवराज—मालूम होता है तुम्हें अभी पता नहीं है। मुझे कल फांसी होने वाली है महाराज ने प्राण-दण्ड दिया है। मेरी सहायता करने वाले को भी प्राणदण्ड देने की आज्ञा है। मेरे दो मित्रों ने मेरी कोई सहायता नहीं की है। तुम चाहो तो मुझे जाने को कह सकते हो।

मित्र—राजकुमार ! मैं सब कुछ सुन चुका हूँ। पर यह तो बताइए कि आपने वास्तव में कुछ अपराध तो नही किया है ?

युवराज—बन्धुवर ! मैंने अपनी जान में तो कोई साधारण भी अपराध नहीं किया है।

मित्र—जब आपने कोई अपराध नहीं किया तो आपकी सहायता करने में मुझे किस बात का भय है ? आप भी क्यों चिन्ता करते है ? चिन्ता तो पापी-अपराधी को करनी चाहिए। चलिए, ऊपर पदार्पण कीजिए। पहले मुझे फांसी होगी तब आपका नम्बर आएगा।

युवराज और उसका मित्र दोनों ऊपर अटारी पर जा पहुँचे यद्यपि रात्रि काफी व्यतीत हो गई थी फिर भी युवराज अभी तक निराहार था। उसके मित्र ने भोजन बनवाया और युवराज को बड़े ही आदर सत्कार और स्नेह के साथ परोसा। युवराज अपनी सन्निकट मृत्यु से अत्यन्त भयभीत हो रहा था तथापि इस मित्र के आश्वासन से उसे कुछ शान्ति मिली। मित्र ने अत्यन्त आग्रह करके राजकुमार को भोजन कराया और विश्राम करने को कहा। कोमल शय्या बिछाई गई और राजकुमार को उस पर लिटा दिया।

सूर्य निकलते ही राजमहलों की ओर जनता उमड़ पड़ रही थी। प्रत्येक नागरिक बड़ी उत्सुकता के साथ राजकुमार विषयक फैसले को जानना चाहता था। इधर राजमहलों में राजकुमार की ढूंढ खोज आरम्भ हुई। प्रत्येक स्थान भलीभांति खोजा गया पर राजकुमार का पता नहीं चला। अन्त में राजा ने रातदिन साथ रहने वाले मित्र को बुलवाया और उससे राजकुमार का पता पूछा। वह बोला—अन्नदाता! जैसे ही मुझे यह पता चला कि आपने राजकुमार को प्राण-दण्ड की आज्ञा सुनाई है, त्यों ही मैं उनके पास से चल दिया था। भला मैं अपराधी का साथ क्यों देता? रात्रि को युवराज मेरे घर पर आये थे। मुझसे बहुत लल्लो-चप्पो करके सहायता मांगते रहे पर मैंने उन्हें साफ टरका दिया। मैंने साफ कह दिया—'चले जाओ यहां से। मैं तुम्हारी तनिक भी सहायता नहीं कर सकता। तुमने चाहे कोई अपराध किया हो या न किया हो, फिर भी महाराज ने तुम्हें अपराधी करार दिया है, अतएव तुम अपराधी हो। मै अपराधी

को आश्रय देकर या सहायता करके महाराज की आज्ञा का व्यति क्रम नहीं कर अकता। यदि तुम शीघ्र ही यहां से न जाओगे त मैं पत्थर मारकर सिर फोड़ दूंगा।' इस प्रकार स्पष्ट बात सुनक वह न जाने कहां चले गये हैं। फिर मैंने उनकी खोज-खब नहीं की।

मूर्ख मित्र ने राजा का प्रेम प्राप्त करने के लिए जो बातें कही थीं, उनसे राजा भीतर ही भीतर जल-भुन गया। फिर भी अवसर देखकर राजा ने कहा--तुमने बहुत अच्छा किया जो राजा के अपराधी को आश्रय न दिया। मन में सोचा—'तू कितना नीच, पामर और कृतघ्न है! तेरी बेईमानी की भी कोई सीमा है? नीच नरक का कीड़ा कहीं का। अब मेरे आगे भला बनना चाहता है?' राजकुमार ने अब तक इसका सबसे अधिक आदर किया। खूब खिलाया, पहनाया और इसने यह जघन्य व्यवहार किया। ऐसे पामर प्राणियों को हजार बार धिक्कार है।

राजा ने मन में इस प्रकार सोच कर, ऊपर से उसकी पीठ ठोंकी, धन्यवाद दिया। मन में कहा—ठीक है बेटा, बहुत माल उड़ाया है। अब तुम्हें ही शूली पर चढ़ाऊंगा।

इसके बाद राजा ने युवराज के दूसरे मित्र को बुलाया। उसके आने पर पूछा-सच-सच बताना, तुम्हें युवराज का पता है? उसे प्राण दण्ड देना है पर वह कहीं भाग गया है। क्या वह तुम्हारे पास आया था?

वह बोला हुजूर! युवराज मेरे घर पर आये थे। पर मैं कंबख्त उनके कुछ भी काम न आ सका। आपका आदेश मेरे द्वारा इस प्रकार टाला जा सकता था? मुझे लाख बार धिक्कार

है कि मैं अपने मित्र की जरा भी सहायता न कर सका। जब रात्रि में वे मेरे घर आये तो मैंने उन्हें एक घोड़ा और मोहरें देने के लिए कहा था और कहीं भाग जाने की सलाह भी दी थी पर उन्होंने इसे स्वीकार न किया और वहां से चले गये। अन्नदाता ! मैंने उन्हें उपाय बताकर यद्यपि आपका अपराध किया है फिर भी वे मेरे मित्र थे। ऐसी घोरतम मुसिबत के समय मैं क्यों न उनकी सहायता करता। फिर भी दुःख है कि मुझ से कुछ न बन सका। इस अपराध के लिए मैं आप के प्रति नम्रतापूर्वक क्षमाप्रार्थी हूँ।

राजा ने उसे ऊपर से डांट-फटकार बताई। कहा—तुमने मेरी आज्ञा के विरुद्ध राजकुमार की सहायता करने का विचार कर लिया था। राजकुमार अगर घोड़ा मांगता तो तुम उसे दे देते और राजकुमार को फरार कर देते। इस अपराध का तुम्हें यथोचित दण्ड दिया जायगा।

मन में कहा—यह पहले वाले से बहुत अच्छा है। फिर भी जैसी सहायता इसे अपने मित्र युवराज की करनी चाहिए थी वैसी सहायता इसने भी नहीं की है। अतएव इसे देश निकालने का दण्ड देना चाहिए !

इसके पश्चात् राजा ने अपने कर्मचारियों से पूछा—क्या युवराज का और भी कोई मित्र है ?

राजकर्मचारी—जी हां, हुजूर युवराज के एक मित्र और है, पर उनके साथ घनिष्टता नहीं है। कभी-कभी साधारण रूप मिल-जुल लेते हैं।

राजा—अच्छा जाओ, उसे भी पकड़ लाओ। २

कर आओ। यदि कदाचित युवराज वहां हो तो उसे भी पकड़ ले आना।

राजकर्मचारी दुःखी दिल से तीसरे मित्र के घर पहुँचे। वहां जाकर पूछा—क्या यहां राजकुमार है?

उत्तर मिला—हां यहां मौजूद हैं। पर तुम लोग उल्टे पांव यहां से अभी लौट जाओ।

राज० क०—उन्हें अन्नदाता ने फांसी की सजा सुनाई है। उन की मदद करने वाले को भी फांसी होगी। यदि तुम अपनी जान की खैरियत चाहते हो तो युवराज को इसी समय हमारे सिपुर्द कर दो।

उत्तर आया—आप लोग यहां से चले जाइये। फांसी से डरने वाले कोई और होंगे हम नहीं डरते! राजकुमार ने कोई अपराध नहीं कया है, फिर क्यों उन्हे फांसी के तख्ते पर लटकाया जा रहा है?

रा० क०—हमारे सामने बहस करने से काम नहीं चलेगा हम महाराज के हुक्म के तावेदार हैं। तुम्हें लाचार होकर युवराज को बाहर निकालना होगा। जल्दी करो, विलम्ब करने से महाराज खफा होंगे।

उत्तर मिला—हों तो होते रहें। कह दिया है—चले जाओ यहां से। यदि अब क्षण भर भी यहां खड़े रहे तो, याद रखो सब के सब यहीं भून दिये जाओगे।

यह उत्तर सुनकर राजकर्मचारी महाराज के पास भागे गये। आदि से अन्त तक का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

महाराज ने राज्यकर्मचारियों के मुख से यह वृत्तान्त सुन

तो उनका रोम-रोम प्रसन्न हो गया। राजकुमार का एक सच्चा मित्र है, यह सोचकर उन्हें बहुत सन्तोष हुआ। फिर भी उसकी परीक्षा करने के उद्देश्य से उन्होंने तोपखाना भेजा। तोपखाने के अधिकारी को एकान्त में बुलाकर कहा—देखो, धमकाने के लिए तोपखाना भेज रहा हूँ। जब तक मेरी दूसरी आज्ञा न मिले तब-तक पोपें न चलाना। अन्यथा प्रजा बीगड़ खड़ी होगी।

इधर राजकुमार के मित्र ने राजा की सेना का मुकाबला करने का प्रबन्ध कर लिया था। हवेली के ऊपर चारों ओर बदूकधारी नेपाली तैनात कर दिये थे। उस समय वह मकान पूरा किला मालूम होता था। युद्ध की पूरी तैयारी दिखाई पड़ती थी।

महाराजा का तोपखाना हवेली के सामने जा पहुँचा। पहुँचते ही अधिकारी ने कहा—तुम्हें थोड़ी देर का समय दिया जाता है। इस बीच में युवराज को हमारे सुपर्द कर दो। अन्यथा तोपों की मार से सारी हवेली धूल में मिला दी जायगी। हवेली में रहने वाला एक भी व्यक्ति जीवित न निकल सकेगा। युवराज की रक्षा करना असम्भव है। उनकी रक्षा करने मे और अनेकों की जान जायेगी। जो लोग अपनी जान की खैरियत चाहते हैं वे सब हाथ ऊपर को करके बाहर निकल आवें।

नियत समय समाप्त हो गया। हवेली के बाहर कोई न निकला, उस समय हजारों नागरिक आसपास खड़े होकर यह दृश्य देख रहे थे। कोई-कोई युवराज के मित्र की शत-मुख से प्रशसा कर रहे थे और उसके मित्र स्नेह एवं साहस की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। इसके विपरीत अनेक क़ायर उसके साहस को अदूरदर्शिता बतलाकर उसे कोस रहे थे।

उतनी बातें थी। पड़ौसियों को यह भय हो रहा था कि कहीं इस हवेली के साथ हमारे मकानों पर भी न आ बने।

समय हो चुका। तोपखाने के अधिकारी ने दो-तीन खाली फायर किये पर उनका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। तब सारा समाचार महाराज के पास भेजा गया। महाराज की प्रसन्नता का इस समय पार न था। युवराज के मित्रों की परीक्षा के साथ-साथ राज-मन्त्री की भी परीक्षा हो चुकी थी। उस परीक्षा में मन्त्री सौ टंच का सोना सिद्ध हो चुका था। राजा के हृदय में उसके प्रति अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी अतएव राजा ने तत्काल मन्त्री को अपने पास बुलवाया।

मन्त्री ने समझा—शायद महाराज को पद च्युत करने से पूरा संतोष नहीं हुआ है। युवराज सहज हाथ नहीं आ रहे हैं और इसी से उनका क्रोध एकदम भड़क उठा है। वह सारा क्रोध अब मुझ पर उतारा जाएगा। अस्तु, जो कुछ भी हो न्याय की रक्षा के लिए सब कुछ सहन करना चाहिए। ऐसा सोचते-सोचते मन्त्री महाराज के पास पहुँचे। महाराज ने मन्त्री का सदा ही अपेक्षा आज अधिक आदर किया और युवराज तथा उनके मित्र को विश्वास दिलाकर प्रेम के साथ ले आने का आदेश दिया।

मन्त्री बोला—महाराज! आप सदैव न्यायनिष्ठ रहे हैं। अतएव कुछ कहने की आवश्यकता तो नहीं है तथापि अवसर ऐसा आ पड़ा है कि एक बात आपसे स्पष्ट करा लेना चाहता हूँ।

राजा—क्या कहना चाहते हो मन्त्री? स्पष्ट कहो।

मन्त्री—मैं राजकुमार को और उनके मित्र को ले आऊंगा मगर उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार तो न होगा?

राजा—मन्त्रीवर ! मैं आज भी वही जितशत्रु हूँ जो पहले था। मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन होता है। वह कभी देव से दानव और दानव से देव भी बन जाता है, प॰ ऐसे परिवर्तन का विशेष कारण होता है। मुझमें जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं पहले जैसा हूँ। तुम्हें जो परिवर्तन मुझमें नजर आ रहा है उसका रहस्य तुम थोड़ी देर बाद समझ जाओगे। अभी, जाओ, विश्वास रक्खो, मेरा दिया वचन मिथ्या न होगा। राजकुमार और उसके मित्र को जरा भी खतरा न होगा।

मन्त्री इस प्रकार आश्वासन प्राप्त करके युवराज के पास गया। उसने युवराज के मित्र को मिलने के लिए कहला भेजा। आखिर मन्त्री भीतर गये। उनका यथोचित आदर-सत्कार किया गया और अचानक, ऐसे कुसमय में आने का कारण पूछा ! मन्त्री ने महाराज का संदेश सुनाया और दोनों को दरबार में चलने के लिए कहा। दोनों चलने को तैयार हो गये।

मन्त्री ने यद्यपि दोनों को अभय-दान मिलने का विश्वास दिया था, फिर भी युवराज को उसकी बात पर भरोसा नहीं आया। वह भय के मारे थर थर कांपने लगा। सोचने लगा—शायद सीधे हाथों काम न बनते देख महाराज छल से हमें बुला रहे हैं और अब प्राण बचाना संभव नहीं है। फिर भी निरुपाय होकर वह मन्त्री के साथ चलने को तैयार हो गया। युवराज के मित्र ने उसके मन की दुविधा और आशंका को ताड़ लिया था अतएव वह आश्वासन देते हुए कहने लगा—युवराज ! मनको मैला न कीजिये। जब आप सर्वथा निरपराध हैं तब भयतीत

होने की क्या आवश्यकता है ? सांच को आंच नहीं आ सकती। सत्य वह सूर्य है जो मिथ्या के मेघों से आच्छादित होने पर भी सदा आच्छादित नहीं रह सकता। वह अन्त में अपने पूर्ण प्रकाश के साथ चमकता है और मिथ्या के मेघ छिन्नभिन्न होकर ही रहते हैं। संसार में सबसे श्रेष्ठ शक्ति सैन्य है। जो सत्य में निष्ठा रखता है वह अन्त में अवश्य विजय प्राप्त करता है। यदि महाराज के पास भौतिक बल है तो हमारे पास सत्य की अमोघ आध्यात्मिक शक्ति है ! उस शक्ति की सहायता से हमारी विजय होना निश्चित है। विजय का पूर्ण विश्वास न होता तो मैं आपको कदापि महाराज के हाथों न सौंपता। फिर मैं भी तो उसी अपराध का अपराधी बन गया हूँ। मैं निर्भय होकर चलने को तैयार हूँ। आप भी निर्भय बनिये। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की नहीं। मेरा विश्वास कीजिये यदि कदाचित प्राण देने भी पड़े तो पहले मैं अपने प्राणां का परित्याग करूंगा। बाद में आपकी बारी आयेगी। मै मृत्यु के समय आपके आगे रहूँगा।

इस प्रकार युवराज को सान्त्वना देकर युवराज का मित्र राज-मन्त्री के साथ चलने को तैयार हो गया। आगे-आगे वह चला और पीछे-पीछे युवराज कदम बढ़ाने लगे। चलते-चलते राज-दरबार में पहुँचे। वहां पहुँचते ही महाराज ने युवराज को छाती से चिपटा लिया। उसे गोदी में बैठाकर पुचकारने लगे। स्नेह की तीव्रता से आंखों में आंसू, बरसात की नदी की तरह उमड़ पड़े। उस समय झर-झर गिरते हुए आंसू युवराज के शरीर को इस प्रकार भिगो रहे थे मानों जल से युवराज का राज्या-

भिषेक हो रहा हो। राजा युवराज को छाती से चिपकाये हुए ऐसा मालूम होता था मानो अपने पुत्र के छिन जाने के डर से ही पूरी ताकत लगाकर युवराज को पकड़े बैठा है !

दर्शक लोग यह अनोखा दृश्य देखकर स्तम्भित होकर, आश्चर्य में डूबकर, स्नेह के अतिरेक को न सम्भाल सकने के कारण अपनी विचित्र अवस्था का अनुभव कर रहे थे। सब की आंखें आंसुओं से तर थीं। पर वे अचानक उत्पन्न होने वाले तीव्र हर्ष के आंसू थे। राजा में अचानक इस प्रकार के परिवर्तन को देख-कर सब लोग चकित रह गये थे। किसी की समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि जो राजा एक घड़ी पहले युवराज के प्राणों का प्यासा था वही अब एकदम इतना किस प्रकार बदल गया। है। आखिर राजा को क्या हो गया है ? इसी अवस्था में थोड़ा समय व्यतीत होने के बाद राजा ने युवराज से कहा - बेटा ! तू मेरा एक मात्र आधार है। मेरे बुढ़ापे की आशा है। मेरे आंखों का तारा है। प्राणों से अधिक प्यारा है। मैंने अपने हृदय की सम्पूर्ण कोमलता, सरसता और स्नेहवृत्ति तुझमें स्थापित की है। तुझे पाकर मैं धन्य हुआ हूँ। तू ही मेरा भविष्य है। फिर मैं क्या इतना क्रूर, अविवेकी और अन्यायी हूँ कि बिना किसी अपराध के ही तेरे प्राणों का ग्राहक बन जाऊंगा।

पुत्र ! ससार में स्वार्थ का साम्राज्य है। यहां स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दुरात्मा होते हुए भी महात्मा बनने का ढोंग करते है। जिनके हृदय में स्नेह का एक

कण भी विद्यमान नहीं होता वे भी स्नेह का समुद्र प्रदर्शित करने की चेष्टा करते हैं। स्वार्थी साधु लोग सम्पत्ति के समय चरणारविन्द के भौंरे बन जाते हैं और विपत्ति के समय आंख उठाकर भी नहीं देखते। ऐसे लोगों के विश्वास पर निर्भर रह कर मनुष्य भयंकर खतरा उठा लेता है और अन्त में उसे निराश होना पड़ता है या प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। अतएव ऐसे लोगों की परीक्षा कर लेना ही बुद्धिमता है। इससे मनुष्य धोखे में नहीं रहता है। सच्चे परोपकारी मनुष्य दुनियां में विरले होते हैं।

तुम्हारे तीन मित्र थे। पर उनमें से अवसर पड़ने पर कौन कितना सहयोग दे सकता है, इस बात की परीक्षा तुमने कभी नहीं की थी। विना परीक्षा किये उनके हाथों में तुम्हारा भविष्य सौंप देना मैंने उचित नहीं समझा। अतएव तुम्हारे मित्रों की परीक्षा करने के उद्देश्य से ही मैंने यह कांड रचा था। मैं जानता हूँ मेरे लाल! तुम्हें बड़ा कष्ट पहुँचा है। पर यदि परीक्षा न की जाती तो धोखे बाज मित्र भविष्य में न जाने कितने बड़े अनर्थ के कारण हो जाते। आज उनकी परीक्षा हो चुकी। रंगे सियार सामने आ गये। देखो, तुम्हारे साथ रात-दिन रहने वाला, तुम्हारे टुकड़े खाकर मोटा बना हुआ यह तुम्हारा मित्र तुम्हें कितना चाहता है। मुसीबत पड़ते ही फौरन कुत्ते की भांति दुम दबा कर भाग गया तुम उसके पास गये तो तुम्हें पत्थर मारकर तुम्हारा भेजा फोड़ने को तैयार हो गया। सच्ची विपत्ति तुम्हारे ऊपर पड़ी होती तो यह क्या काम आता? यह प्रथम श्रेणी का मायाचारी है। अब तक इसने बड़ा धोखा दिया है। अतएव तुम्हारे बदले इसी नीच

को प्राण-दण्ड दिया जायगा।

युवराज! दिन-दिन में तुम्हारे साथ रहने वाला यह तुम्हारा दूसरा मित्र है इसे भी तुमने खूब खिलाया पिलाया है, पर यह भी कुछ काम न आया। इसने भी संकट भोगने के लिए तुम्हें अकेला छोड़ दिया था। फिर भी उसने पहले की तरह दुष्टता नहीं दिखलाई और घोड़ा देने को तैयार हो गया। यह पहले से अच्छा है, फिर भी उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यद्यपि सहायता न कर सकने के कारण उसने पश्चात्ताप किया था पर पश्चात्ताप करने से ही तो सकट से उद्धार नहीं हो सकता। अतएव यह प्राण दण्ड का भागी न होने पर भी देश-निकाले की सजा का पात्र है। इसे मैं यही दण्ड देता हूँ।

प्रिय पुत्र! यह कहते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि कभी-कभी मिल लेने वाला तुम्हारा तीसरा मित्र ही सच्चा खरा निष्कपट मित्र है। यह समय पर काम आने वाला है। इसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है यद्यपि तुमने इसके साथ अधिक घनिष्ठता नहीं बढ़ाई थी फिर भी तुम्हारे लिए वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तयार हो गया! सचमुच यह बारम्बार प्रशसनीय है। मैं इसका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ! कुमार, तुम इसके भरोसे रह सकते हो। यह समय आने पर तुम्हे दगा न देगा। तुम इसे अपना सहचर-सखा बनाओ। इसकी सम्मति लेकर कार्य किया करो। किसी कवि ने कहा है—

काम पडयां जो आवे आडो,
वर्णी सगासूं मिलिये गाढ़ो।
काम पडया जो देवे टालो,
वर्णी सगा को मूंडो कालो॥

इस प्रकार दृष्टान्त देकर जम्बूकुमार कहने लगे—रूप श्री! इस दृष्टान्त पर सावधान होकर गहरा विचार करो। इसमें राजा के स्थान पर यमराज को समझना चाहिए जिसकी धाक तीनों लोकों में जमी हुई है ! यम राज का प्रकोप होने से मृत्यु आती है। मृत्यु आने पर युवराज के समान जगत् के पामर प्राणी थर थर कांपने लगते है। किसी प्रकार मृत्यु के पंजे से छुटकारा पाने के लिए छटपटाते है। मगर आयु कर्म का अन्त आने पर कोई भी उपाय कारगर नहीं हो सकता। बड़े बड़े सम्राट, चक्रवर्ती वैद्य डाक्टर आदि कोई भी क्यों न हो उसे लाचार होकर यमराज की शरण में आना ही पड़ता है। लेकिन मोही जीव यह सब आंखों देखते हुए भी मोह के कारण मृत्यु से बचने का प्रयास करते है। वे हमेशा साथ रहने वाले मित्र के समान शरीर से सहायता की भीख मांगते हैं। क्योंकि जीव ने शरीर को खूब स्वादिष्ट, बल-वर्द्धक और मनोज्ञ आहार कराया है, उसकी सार-संभाल की है, सेवा की है, पहनाया-ओढ़ाया है। कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचने दिया। कभी भूल-चूक से या धर्म गुरु के उपदेश से निराहार भी रक्खा तो उसमें भी फलाहार खूब ठूंस ठूंस कर खिलाया या धारने पारने के दिन उपवास की सारी कसर निकाल ली। इस प्रकार लालन-पालन किया गया यह शरीर यमराज का आक्रमण होने पर तनिक भी काम न आया। यही नहीं, पहले तो यह जीव को आड़ा पटक देखा फिर ऊपर से खांसी, श्वास, शूल, दमा आदि अनेकानेक रोगों के रूप मे जीव पर पत्थर बरसाएगा। इस प्रकार जीव को वह सर्वथा निराश कर देगा।

जीव शरीर से निराश होकर, जब जीव का वहां कोई काम न बन सका तब, दिन दिन में साथ रहने वाले दूसरे नम्बर के दोस्त के समान कुटुम्बियों के समीप आता है। वह कुटुम्बियों से यह चाहता है कि वे मुझे मृत्यु का ग्रास न बनने देवें। वह लोग थोड़ी-सी सान्त्वना प्रदान करते है। सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए रोना-धोना आरम्भ करते हैं। वैद्यों और हकीमों को बुलाते है। पेट को औषधालय बना डालने का प्रयत्न करते दिखाई देते है। पर वास्तव में उनके तमाम प्रयत्न बेकार सिद्ध होते है। तब हार मानकर कहने लगते है—भाई! तुम्हारा कष्ट देखकर कलेजा मुंह को आ रहा है। ऐसी वेदना हो रही है जैसे हजारों बिच्छू एक साथ काट रहे हों। जितना प्रयत्न मनुष्य के किये हो सकता है उसमें हमने तनिक भी ओर-कसर बाकी नहीं रक्खी, पर प्रकृति के प्रकोप का सामना करना असम्भव है। अब हमारी एक भी नहीं चलती। हम तुम्हारे बदले अपने प्राण दे दें तो भी तुम्हारी बीमारी दूर नहीं होगी। ऐसी अवस्था में मजबूरी है। तुम्हारे ऊपर कोई वजन होता तो पूरा का पूरा हम लोग उतार लेते और अपने सिर पर रख लेते मगर बीमारी और बीमारी से उत्पन्न होने वाला कष्ट तो अविभाज्य है—उसका बटवारा करना हमारी शक्ति से परे है।

इस प्रकार अपनी सहानुभूतिपूर्ण असमर्थता प्रकट करके कुटुम्बीजन अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते है। पर, इससे जीव की रही-सही आशा भी काफूर हो जाती है। उसकी चिन्ता इस समय शतगुनी बढ़ जाती है। फिर भी लालच के कारण-जी। रहने की कामना से प्रेरित होकर—वह अपना पयत्न

रखता है।

अन्त में वह कभी-कभी मिले जाने वाले मित्र के समान श्री सद्गुरु महाराज की शरण में जाता है। गुरु महाराज उससे कहते हैं—तूने नरकगति अथवा तिर्यञ्च गति में जाकर दण्ड भोगने के योग्य कोई अपराध तो नहीं किया है? यदि ऐसा कोई आचरण तूने नहीं किया है तब फिर डरना काहे को? जिन लोगों ने अपना जीवन पाप—कार्यों में व्यतीत किया है जिन्होंने धर्म का आराधन नहीं किया है, अतएव जो मृत्यु के पश्चात् दुर्गति में जाकर नाना भांति के कष्ट उठावेंगे, उन्हें मृत्यु से भयभीत होना चाहिए। धर्मात्मा पुरुष मृत्यु से :कदापि नहीं डरते। वे न मरण की कामना करते हैं और न जीवन की ही कामना करते हैं। वे भलीभांति समझते है कि—

चित्रव्याधातवृक्ष विषयसुखतृणास्वादनासक्तचित्तः।
निस्त्रिं शैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः सञ्चाद्भिः।
खाद्यन्ते यत्र सवा भवमरणजरा श्वापद भीमरूपैः,
तत्रावस्था वच कुर्मो भवगहनवने दुःखदा वाग्नि तप्ते।

अर्थात् तरह-तरह के मानसिक आघात रूपी वृक्षों से परिपूर्ण, दुःख रूपी दावानल से जलते हुए, ससार रूपी घोर अटवी में भ्रमण करने वाले, विषय-सुख रूपी तृण (घास) को चरने में आसक्त चित्त वाले, जीव रूपी हिरनों के झुण्ड, जहां चारों ओर से अत्यन्त निर्दय होकर विचरण करने वाले भयंकर जन्म-जरा-मरण आदि रूप हिंसक पशुओं के द्वारा निरन्तर खाये जा रहे हैं, ऐसे ससार रूपी वन में किस जगह ठहरें? तात्पर्य यह है कि इस संसार में कहीं भी ऐसा स्थान नहीं है जहां रहकर यह जीव अपनी रक्षा कर सके।

ऐसी अवस्था में मृत्यु से बचने का व्यर्थ प्रयास करना अथवा मृत्यु आने पर आर्त्तध्यान करके अपना परलोक बिगाड़ लेने से क्या लाभ है ? फिर मृत्यु धर्मात्मा पुरुप के लिए शत्रु रूप नहीं वल्कि मित्र रूप है। धर्मात्मा पुरुष जीवन भर जो पुण्य और धर्म करता है उसका फल प्रायः परलोक में मिलता है। परोलक बिना मृत्यु के प्राप्त नही हो सकता ! अतएव किये गये धर्म-पुरुप रूप कृत्यों का फल मृत्यु के द्वारा ही प्राप्त होता है। तब मृत्यु रूपी मित्र का सयोग होने पर विषाद क्यों किया जाय ? इसके अतिरिक्त—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपिञ्जरे।
भज्यमाने न भेत्तव्य यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥

अर्थात् हे जीव ! तू ज्ञान-स्वरूप है। चेतनमय है। यह शरीर सैंकड़ा कीड़ों से व्याप्त है, यह जीर्ण शीर्ण हो गया है। इसका विनाश होने पर तू भय क्यों करता है ?

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी जन मृत्युकाल उपस्थित होने पर भी समताभाव के प्रशान्त सरोवर में गोते लगाते रहते हैं। ऐसे पुरुप रत्न मृत्यु को भी भावी कल्याण का कारण बना लेते है। इस प्रकार की भावना अन्त समय में बनी रहे, इसके लिए जीवन मे सदा आत्मा-अनात्मा का भेद अनुभव करना चाहिए। यदि कोई शरीर को कष्ट पहुँचाये तो भी साम्यभाव का आश्रय लेकर आत्मा और शरीर के भेद का विचार करें।

वास्तव में वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख है जो कर्म-सयोग से प्राप्त सांसारिक नाना प्रकार के पदार्थों को अपना मान लेता है। जीव के साथ कर्मो का संयोग नाना तरह के दुःखों को उत्पन्न करता है ! कर्मों के हृदय से ही राग होता है, शोक और वियोग

जन्म दुःख भी कर्मोदय से होता है। कर्म के उदय से ही शरीर प्राप्त होता है, शरीर में इन्द्रियां होती है, इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के प्राप्त हो जाने पर रागभाव में वृद्धि होती है और उनका विनाश होने पर शोक होता है। पुण्य के उदय से जब जीव की इच्छानुकूल स्त्री, सुन्दर सुत, साताकारी सुहृद्वर्ग प्राप्त होते हैं तब उनमें अतिशय गृह हो जाता है। जब वे नहीं रहते या उन पर विपत्ति आती है तो जीव को अत्यन्त खेद होता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध जुटाने में और उसकी रक्षा करने में महान् सकटों का सामना करना पड़ता है।

जो अविवेकी जीव कर्मों के उदय से प्राप्त चेतना या अचेतन पदार्थों को अपना समझता है वह मानों कर्ज ली हुई सम्पत्ति को अपनी मानता है। ज्ञानी अपनी आत्मिक ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूपी सम्पत्ति के अतिरिक्त शरीर, धन, धाम, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि किसी भी सांसारिक वस्तु को अपनी नहीं समझते है! तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु को यही भावना सदैव अपने हृदय में रखनी चाहिए। इससे संयोग-वियोग और मृत्यु के प्रसंग उपस्थित होने पर आर्त्तध्यान नहीं होता है।

इतना ही नहीं, वल्कि समताभाव को शनैः—शनैः विस्तृत करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपना शत्रु वन कर प्राण लेना चाहता है या किसी और के प्राण का अनिष्ट करना चाहता है तो वह उस समय क्रोध रूपी पिशाच के वश होकर पागल वन जाता है। अथवा वह तीव्र नशा कर लेने वाले किसी उन्मत्त के समान हो जाता है। पागल की चेष्टा का बुरा मानना एक प्रकार की मूर्खता है। तत्त्वज्ञानी सोचता है कि किसी ने यदि मेरे शरीर का

नाश भी कर दिया तो इसमें मेरी क्या हानि है ? शरीर जड़ है, स्वयं विनाशशील है । शरीर के साथ मेरा क्या संबन्ध है ? मैं उस पर ममता भाव रखकर क्यों अपना अहित करूं ? यह तो मेरे रहने का मात्र घर है। घर के नष्ट हो जाने या भस्म हो जाने से घर में रहने वाला नष्ट नहीं हो जाता। मै चेतनमय आत्मा हूँ। चेतना अमूर्तिक, अविनाशी है। मेरा अपने स्व-स्वरूप से इतना प्रगाढ़ तादात्म्य सम्बन्ध है कि उसे कोई छुड़ा नहीं सकता। मेरी आत्मा का विनाश करने की किसी में शक्ति नहीं है। जब मेरी आत्मा का कोई न बिगाड़ कर सकता है और न सुधार कर सकता है तब मैं किससे राग करुं और किससे द्वेष करूं ? मेरे लिए जगत् के समस्त प्राणी समान है। अतएव राग-द्वेप रूप विकारों का त्याग करके ममताभाव के स्वयंभूरमण सागर मे रमण करना ही मेरे लिए उचित है।

यदि शरीर का दासपना करोगे तो आत्मा का अकल्याण होगा और यदि आत्म-कल्याण में तत्पर हो जाओगे तो शरर का दासभाव स्वतः छूट जायेगा वस्तुतः जो मनुष्य, धन धाम आदि भौसिक सम्पत्ति में मोहित हो जाते हैं अथवा आत्मा के अन्दर कर्मोदय के कारण उत्पन्न होने वाले राग-द्वेप आदि विकारों में मग्न रहते है वे रात-दिन भोगोपभोग की सामग्री संग्रह करने में उसका रक्षण करने में और रक्षण न होने पर पश्चात्ताप करने में व्याकुल रहते हैं । वे शरीर की चाकरी में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते है। जो विवेकशील महापुरुष है वे देह को धर्म-साधन में लगाते है, जप, तप, शील-संयम पालते है, धर्म ध्यान करते हैं, आत्मा के हित करने वाले अनुष्टान करते है तथा आत्मा

को मुक्ति के मार्ग पर ले जाने हैं।

आत्मा को मोक्ष के प्रति सन्निकट लाने में यद्यपि शरीर को काबू में करना पड़ता है और इस कारण शरीर कृप भी हो जाता है। यही नहीं, मोक्ष के साधक जितने भी कार्य है वे एक प्रकार से शरीर का सर्वदा के लिए नाश करने वाले हैं। इन साधनों का जब परिपूर्ण विकास हो जायगा तब आत्मा के साथ शरीर का बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में ज्ञानी जनों का यही कर्त्तव्य है कि वे आत्मा से भिन्न—पर पदार्थ रूप इस शरीर पर ममता न रक्खें और शरीर के खातिर आत्मा का अहित न करें। कहा भी है:—

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥

अर्थात् जिन बातों से जीव का लाभ होता है वह शरीर के लिए हानिकारक हैं और जिनसे शरीर का उपकम् होना है वह जीव का अपकम् करने वाली है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर का विरोध है। अतएव ज्ञानी जनों को शरीर का पोषण करके आत्मा का अहित नहीं करना चाहिए।

किसी तत्त्वाज्ञानी ने कहा है:—

आत्मा ज्ञानी परममगलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी मितरति पुनर्घोरज्ञान मेव॥
सर्वभेयदं जगति विदितं दीयते विद्यमानम्।
कश्चित् त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापिदत्ते॥

अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप है इसलिए उसकी आराधना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है! शरीर जड़—अज्ञानमय—है

अतएव उसकी आराधना से घोरतर अज्ञान ही प्राप्त हो सकता है संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जो चीज जिसके पास होती है वह उसी चीज को दे सकता है। चाहे जैसा दानी भी हो क्योंकि कभी किसी को आकाश-कुसुम देने में समर्थ हो सकता है ?

बड़े ही सरल शब्दों में यहां पर बताया गया है कि जो पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें आत्मा का ही सेवन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्दमयी है। जो शरीर का सेवन करेंगे उनमें जड़ता आयगी, क्योंकि शरीर जड़ रूप हैं। अतएव—

गौरो रूपधरो दृढ़ः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशः,
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकम् : षंढ़ः पुमानङ्गना।
मिथ्या त्व विदधासि कल्पनमिद मूढो विबुध्यात्मनो,
नित्य ज्ञानमयस्नमावभमलं सर्वव्यपायच्युतम्॥

अर्थात् मैं गोरा हूँ, सुन्दर हूँ, सबल हूँ, श्रीमान् हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुंसक हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, इन कल्पनाओं का त्याग करके तू अपनी आत्मा के अविनाशी,, निर्मल और सब प्रकार के दुःखों से रहित—सुख स्वरूप तथा ज्ञानमय स्वरूप का विचार कर। तात्पर्य यह है कि यह सब कर्मजन्य पर्यायें है और आत्मा सब कर्मजन्य पर्यायों से विलक्षण शुद्ध द्रव्य रूप है। शुद्ध द्रव्य रूप आत्मा का विचार करने से ही आत्मा में शुद्धता का आविर्भाव होता है।

श्री गुरु महाराज इस प्रकार भेद-विज्ञान का उपदेश देकर युवराज रूप जीव से कहते है—भाई, यदि तुम मेरे कहे हुए पथ पर चलोगे तो काल रूपी महीपति का हुक्म सदा के लिए रद्द हो

जायगा । तुम एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचोगे जहां काल की पहुँच नहीं है।

गुरु महाराज द्वारा इस प्रकार सान्त्वना मिलने पर जीव को कुछ शान्ति मिली। प्रिये! देखो, जब संसार का कोई भी व्यक्ति काम न आया तो अन्त में गुरु महाराज ही आड़े आये। कुटुम्ब ने भी कोई सहायता न की! रूपश्री! अब तुम ही कहो तुम्हारी बात मानूं या गुरु महाराज का आदेश पालन करूं? तुम्हारा कहा मानता हूँ तो चौरासी का चक्कर तैयार है और गुरु का आदेश मानता हूँ तो अनन्त आनन्दमय, अनन्त ज्ञानमय, अव्याबाध मुक्तिपद प्राप्त होता है!

जम्बूकुमार का यह विस्तृत विवेचन सुन कर रूपश्री भी अन्य प्रतिबोध पाई हुई स्त्रियों में जाकर शामिल हो गई।

अब सिर्फ आठवीं स्त्री जो जेतश्री शेष रही थी सात स्त्रियों के साथ जम्बूकुमार का जो वार्त्तालाप हुआ था उसे जेतश्री ने कान लगा कर, बड़े ध्यान से सुना था। जम्बूकुमार ने सबकी युक्तियों को, सबके आग्रह को और सबके अनुनय-विनय को, जिस कौशल के साथ काट दी थी उसे वह भली-भांति जान चुकी थी। यह सब जानकर उसे अपनी सफलता पर तनिक भी विश्वास न था फिर भी प्रयत्न करने में कुछ भी शेष नहीं रखना चाहिए ऐसा सोच कर वह जम्बूकुमार के सामने आई। अत्यन्त नम्रता के साथ वह कहने लगी—

जेतश्री:—प्राणनाथ! हम ऐरी-गैरी बालिकाएं नहीं हैं। रास्ते चलते आपके पीछे नहीं पड़ गई हैं। हम सब कुलीन हैं और समाज की साक्षी से आप पाणि-ग्रहण करके हमें लाये

हैं। आपने हमारी-रक्षा करने की प्रतिज्ञा की है। वह प्रतिज्ञा इस समय भी मेरे कानों में गूंज रही है। फिर आप हमसे एकदम किनारा क्यों काटना चाहते है। साधारण आदमी जिसे पत्नी बनाकर लाता है उसे छोड़ नहीं देता। फिर आप तो प्रतिष्ठित है, कुलीन है, ज्ञानी हैं, लोक-परलोक की बातें जानते हैं। आप हमारे साथ यह व्यवहार क्यों कर रहे हैं? किसी को आश्रय देकर आसमान में चढ़ाना और फिर धक्का देकर नीचे पटक देना क्या उचित है? इसमें हमारा ही अनिष्ठ नहीं है बल्कि आपकी भी प्रतिष्ठा होगी, उसे हम किस प्रकार सहन करेंगी? लोक में अप्रतिष्ठा फलाकर लोकोत्तर लाभ प्राप्त करने से भी क्या होगा? इससे तो? धर्म की भी अवहेलना होगी। लोग कहेंगे-गृहस्थी के भार को न संभाल सकने के कारण धर्म का ढोंग कर लिया है। आप स्वयं बुद्धिमान् हैं, फिर भी साधु बनने की कु-टेक आपने पकड़ रखी है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। आप अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र है। दो-चार पुत्र होते तो आपके दीक्षा ले लेने पर भी उन्हें तसल्ली रहती है। वह वृद्ध-अवस्था में हैं। उन्हें सहारे की आवश्यकता है। संसार में माता-पिता के लिए पुत्र ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है। वह अवलम्बन यदि न हो तो किसी प्रकार काम चल भी जाता है और इतना अधिक दुःख नहीं होता। मगर पुत्र होते हुए भी यदि वह काम न आवे तब माता-पिता की वेदना का पार नहीं रहता। उन्हे निराशा के घोर अन्धकार मे पड़ना पड़ता है।

यदि आप दीक्षा ले लेंगे तो उनके दुःख की सीमा न रहेगी। हमारा ध्यान आप न भी रक्खें, तो भी उनका ध्यान आपको रखना चाहिए। उन्होंने बड़ी आशा से आपका पालन पोषण संरक्षण किया है। अपने हृदय के समस्त वात्सलय रस से आपका जीवन सींचा है अपने कष्टों की तनिक भी चिन्ता न करके सदा आपके सुख और आपकी सुविधा का ध्यान रखा है। उन्होंने आपसे बड़े-बड़े मंसूबे पूरे होने की इच्छाएं रक्खी हैं। पर आप उनकी तमाम आकांक्षाओं पर, समस्त मसूबों पर एकदम कुठाराघात करने पर उतारू हो रहे हैं। परोपकारी और जन्म देने वाले माता-पिता के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना आप जैसे बुद्धिमान पुरुषों को शोभा नहीं देता आपक कर्त्तव्य है कि आप पहले उन्हें पूर्ण रूप से संतुष्ट करें, उनकी बलवती आशाओं को सफल बनावें, सब प्रकार से सुखी करें। इसके बाद उचित अवसर आने पर दीक्षा धारण करें। परलोक की साधना से पहले इस लोक की साधना करना चाहिए।

जैनधर्म अनेकानेक रूप है। उसकी साधना के लिए वन में जाने की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। गृहस्थी में रहकर भी धर्म की साधना हो सकती है। चक्रवर्ती भरत ने एक भी दिन वनवास नहीं किया था और न घर छोड़कर साधु बने थे। क्या उन्हें मोक्ष नहीं मिला? अथवा उन्हें कुछ हीन श्रेणी का मोक्ष मिला है? ऐसा नहीं है। उन्होंने गृहस्थी में रहते हुए भी अपनी आत्मा को उत्तमोत्तम संस्कारों से संस्कृत बनाया था, अध्यात्म भावना का चिन्तन किया था। इसीसे उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई और वही मोक्ष उन्हें मिला जो वनवास करने वाले यतियों

को मिलता है।

मरुदेवी माता का उदाहरण आपको याद नही है। बताइए तो सही कि उन्होंने कब जंगल की खाक छानी थी ? उन्हे तो हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई थी! वास्तव में बात यह है कि धर्म और आत्मिक निर्मलता का सम्बन्ध भावना से है, किसी स्थान या किसी वेष से नही है। वनवास करने से ही यदि मुक्ति मिलती होती तो भील-कोली-किरात आदि जगली जातियां सब मोक्ष में पहुँच गई होती क्योंकि वे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त वन में ही वास करती है। बाह्य वेष लोक में पहचान कराने का साधन है। उससे आत्मिक निर्मलता का जरा भी सम्बन्ध नही है। वेष से ही मुक्ति होती तो श्रमण भगवान महावीर नाना प्रकार के कष्ट सहने का, तपस्या करने का तथा चारित्र पालने का उपदेश क्यों देते ? अतएव प्रियतम! आप यदि मुक्ति प्राप्त करना चाहते है तो गृहस्थ अवस्था में रहते हुए माता-पिता की सेवा कीजिए। उन्हें प्रसन्न करके उनका आशीर्वाद प्राप्त कीजिए। उनके आशीर्वाद और सेवा से आपको मुक्ति प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त आप और क्या चाहते है।

आप उस ब्राह्मण की तरह बातें बना कर हमें भुलावे में डालने का प्रयत्न कर रहे है।

जम्बूकुमार—किस ब्राह्मण की तरह ?

जेत श्री—सुनिये। श्रीपुर नाम का एक विशाल और सुन्दरता में अमरपुरी को भी लज्जित करने वाला नगर था। उस नगर के राजा का नाम था सार। राजा सार को काव्य का तथा कथाओं का बड़ा शौक था। उसने अपने राज्य भर में यह घोषणा कर दी

थी कि मुझे जो व्यक्ति नई बात सुनायेगा उसे एक लाख मोहरें पारितोषिक रूप में प्रदान की जाएंगी। राजा की इस उत्साहप्रद घोषणा का समाचार सुन कर अनेक लोग नयी-नयी रचनाएं, अत्यन्त श्रम करके तैयार करके लाते और राजा को सुनाते थे। राजा की बुद्धि कुशाग्र थी। वह एक बार काव्य को या अन्य कथा आदि को सुनकर ही अविकल रूप से याद कर लेता था। सुनाने वाला जब अपनी रचना सुना चुकता तो वह अन्त में कह देता था—महाशय, यदि आपकी रचना मौलिक होती तो मैं आपको एक लाख मोहरें पुरस्कार में देता। मगर यह मौलिक नहीं है। यह मुझे पहले से ही याद है। विश्वास न हो तो सुन लीजिए।'

राजा इस प्रकार कह कर अक्षर-अक्षर उस रचना को दोहरा देता था। रचनाकार यह देख कर आश्चर्य चकित रह जाता और राजा अपनी मोहरें बचा लेता था। इस प्रकार की अनेक घटनाएं घटी और सभी साहित्यकार राजा के द्वारा ठगे जाकर अपना-सा मुंह लिए अपने अपने रास्ते लगे। सब लोगों ने मिल कर राजा की चालाकी का बदला लेना चाहा।

श्रीधर नामक एक ब्राह्मण था। था तो निर्धन, पर बुद्धि का बड़ा धनी था। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। उसने राजा की अक्ल ठिकाने लाने की युक्ति सोची। एक नई कल्पना करके वह राजा के पास आया और कहने लगा—पृथ्वीनाथ ! आज मैं भी आपको एक नई बात सुनाना चाहता हूं। सम्भव है आपने वह बात पहले भी सुन रखी हो। तथापि मुझे यह नवीन जान पड़ती है। बात यह है कि आपके आदरणीय पिताजी ने मेरे पिताजी से दस लाख मोहरें ऋण के रूप में ली थीं। यदि यह बात आपने

पहले भी सुनी हो तो कृपा कर वह मोहरें मुझे अब व्याज सहित वापस लौटा दीजिए। कदाचित् यह बात आपने पहले न सुनी हो और नयी हो तो नयी बात सुनाने के पुरस्कार स्वरूप एक लाख मोहरें मुझे प्रदान कीजिये।

श्रीधर ब्राह्मण की यह बात सुनकर राजा बड़े असमंजस में पड़ा। यदि कहता है कि यह बात मुझे पहले ही याद है तो दस लाख मोहरें व्याज सहित देनी पड़ेगी, और यदि यह कहे कि ऐसी बात मैंने पहले कभी नही सुनी तो एक लाख मोहरें देनी होगी। राजा ने सोच-विचारर कर आखिर एक लाख मोहरें ब्राह्मण को देकर विदा किया ;और नौ लाख मोहरें बचा लेना श्रेयस्कर समझा।

प्राणनाथ ! यह दृष्टान्त है। इसमें यह बताया गया है कि ब्राह्मण ने अपने बुद्धिकौशल से, राजा को चक्कर में डाल दिया और अपना मतलब बना लिया। ठीक इसी प्रकार आप बातें बना कर हम भोली अबलाओं को ठग रहे है। हम सीधी साधी बालिकाएं है अतः हमें छल लेना आपके लिए कोई कठिन नहीं है। मगर हमारी दुर्दशा पर जरा विचार कीजिए। दीन-हीन बालिकाओं को निराधार छोड़ भागना क्या सत्पुरुषों के लिए योग्य कर्त्तव्य है ? हमारी आंखों के आंसू क्या आपके वैराग्य रूप ताप को ठंडा नहीं कर सकते ? क्या हमारी लाचारी आपके कोमल दिल में करुणा नहीं उपजाती ? हमारी नम्रतापूर्ण प्रार्थना को आप लातों से ठुकरा देना उचित समझते है ? अनेकों के जीवन को धूल में मिला कर अपने जीवन का सुख प्राप्त करना एक महान् स्वार्थ नहीं है ? इस स्वार्थ के कारण क्या आप निर्दोष धर्म का

आचरण कर सकेंगे ? यह धर्म भी भला किस काम का है जिसके कारण पाणिगृहीत पत्नियों के साथ अन्यायपूर्ण और निर्दय व्यवहार करना पड़ता है ? जिसकी वदौलत माता-पिता की आशाओं पर पोता फेरना पड़ता है और सांसारिक सद्व्यवहारों का लोप करना पड़ता है ? यह सब बुराइयां कराने वाला धर्म भी क्या सत्पुरुषों द्वारा आचरणीय है ? मगर मैं जानती हूँ कि धर्म ऐसी आज्ञा नहीं देता। वह लौकिक व्यवहारों का सर्वथा विरोधी नहीं है और न किसी के साथ निर्दयता पूर्ण आचरण करने को वाध्य करता है।

जीवनाधार ! आपने धर्म के मर्म के समझने का प्रयास नहीं किया। यदि आप एकाग्र होकर, पकड़े हुए हठ को छोड़ कर, मन को तटस्थ बना कर सोचें तो आपको स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि आप धर्म के नाम पर अनुचित व्यवहार कर रहे हैं। हम रो रहीं हैं। विसूर रही हैं। फिर भी आपके दिल में दया का उद्रेक नहीं होता ! सारा परिवार वियोग की सम्भावना मात्र से रो रहा है। धन्य है स्वामिन ! आपकी दया को, जिसका पालन करने के लिए आप इस प्रकार उतावले हो रहे हैं ! आपकी दया का यदि यही असली स्वरूप है तो उसे लाख लाख मुवारिकवाद !!

जीवन-धन ! आप कृपाकर यह भी तो वताइए कि आप हमें किस कारण त्याग रहें हैं ? हम में ऐसा कौन-सा असह्य अवगुण है जिस कारण आप हमारा परित्याग करना चाहते हैं ? क्या हमने आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन किया है ? पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वह पति को सब प्रकार से सुख पहुँचाने का प्रयत्न करे। पति के साथ अत्यन्त विनम्र व्यवहार करें मुख से कोई

वचन ऐसा न कहे जिससे पति के हृदय को चोट पहुँचे। वह पति के जागने से पहले जागे, पति के सोने के बाद सोवे, पति के भोजन करने के पश्चात् भोजन करे। प्रसन्न चित्त होकर पति से वार्तालाप करे। पति हारा-थका जब बाहर से घर में प्रवेश करे तब मधुर व्यवहार से उसकी थकावट को मिटावे। पति की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखकर गृह खर्च करे और अपने लिए उसी परिणाम में वस्त्रा भूषण की मांग करे। जो बात पति को पसंद हो उसी के अनुसार अपनी रुचि में परिवर्तन करले। पति के मित्रों के साथ अच्छा व्यवहार करे और पति के शत्रुओं को अपना शत्रु समझे तात्पर्य यह है कि वह पति के किसी कार्य में बाधक न बने। सब प्रकार से पति की अनुगामिनी हो। अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में सिम्मिश्रित कर दे। मन-वचन-काय से पति-परायणा हो कर रहे। अन्य पुरुषों को पिता भाई पुत्र तुल्य समझे। पति को कष्ट में पड़ा देखकर उसे सान्त्वना प्रदान करे और उचित सलाह देवे।

जीवनाधार ! यह सब स्त्रियों के कर्त्तव्य है। हमें अभी तो इनके पालन करने का अवसर ही नहीं मिल पाया है। मगर विश्वास कीजिए प्रियतम हम लोग इनका पालन करके सब प्रकार से आपको सुखी बनाने का प्रयत्न करेंगी। आपकी रुचि एवं अभिलाषा के प्रतिकूल व्यवहार जीवन में हम से न होगा। फिर भी यदि कोई अपराध हम सबसे या किसी से बन पड़ा हो। तो कृपा कर उसे प्रगट कीजिए। हम उसका यथोचित प्रायश्चित करके आपको संतोष प्रदान करेंगी।

यदि ऐसा नहीं हुआ है और आप हम सब को निराश

आचरण कर सकेंगे ? यह धर्म भी भला किस काम का है जिसके कारण पाणिगृहीत पत्नियों के साथ अन्यायपूर्ण और निर्दय व्यवहार करना पड़ता है ? जिसकी बदौलत माता-पिता की आशाओं पर पोता फेरना पड़ता है और सांसारिक सद्व्यवहारों का लोप करना पड़ता है ? यह सब बुराइयां कराने वाला धर्म भी क्या सत्पुरुषों द्वारा आचरणीय है ? मगर मैं जानती हूँ कि धर्म ऐसी आज्ञा नहीं देता। वह लौकिक व्यवहारों का सर्वथा विरोधी नहीं है और न किसी के साथ निर्दयता पूर्ण आचरण करने को वाध्य करता है।

जीवनाधार ! आपने धर्म के मर्म के समझने का प्रयास नहीं किया। यदि आप एकाग्र होकर, पकड़े हुए हठ को छोड़ कर, मन को तटस्थ बना कर सोचें तो आपको स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि आप धर्म के नाम पर अनुचित व्यवहार कर रहे हैं। हम रो रहीं हैं। विसूर रही हैं। फिर भी आपके दिल में दया का उद्रेक नहीं होता ! सारा परिवार वियोग की सम्भावना मात्र से रो रहा है। धन्य है स्वामिन ! आपकी दया को, जिसका पालन करने के लिए आप इस प्रकार उतावले हो रहे हैं ! आपकी दया का यदि यही असली स्वरूप है तो उसे लाख लाख मुबारिकवाद !!

जीवन-धन ! आप कृपाकर यह भी तो बताइए कि आप हमें किस कारण त्याग रहे हैं ? हम में ऐसा कौन-सा असह्य अवगुण है जिस कारण आप हमारा परित्याग करना चाहते हैं ? क्या हमने आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन किया है ? पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वह पति को सब प्रकार से सुख पहुँचाने का प्रयत्न करे। पति के साथ अत्यन्त विनम्र व्यवहार करे मुख से कोई

वचन ऐसा न कहे जिससे पति के हृदय को चोट पहुँचे। वह पति के जागने से पहले जागे, पति के सोने के बाद सोवे, पति के भोजन करने के पश्चात् भोजन करे। प्रसन्न चित्त होकर पति से वार्तालाप करे। पति हारा-थका जब बाहर से घर में प्रवेश करे तब मधुर व्यवहार से उसकी थकावट को मिटावे। पति की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखकर गृह खर्च करे और अपने लिए उसी परिणाम में वस्त्रा भूषण की मांग करे। जो बात पति को पसंद हो उसी के अनुसार अपनी रूचि में परिवर्तन करले। पति के मित्रों के साथ अच्छा व्यवहार करे और पति के शत्रुओं को अपना शत्रु समझे तात्पर्य यह है कि वह पति के किसी कार्य में बाधक न बने। सब प्रकार से पति की अनुगामिनी हो। अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में मिश्रित कर दे। मन-वचन-काय से पति-परायणा हो कर रहे। अन्य पुरुषों को पिता भाई पुत्र तुल्य समझे। पति को कष्ट में पड़ा देखकर उसे सान्त्वना प्रदान करे और उचित सलाह देवे।

जीवनाधार ! यह सब स्त्रियों के कर्त्तव्य है। हमें अभी तो इनके पालन करने का अवसर ही नहीं मिल पाया है। मगर विश्वास कीजिए प्रियतम हम लोग इनका पालन करके सब प्रकार से आपको सुखी बनाने का प्रयत्न करेंगी। आपकी रुचि एवं अभिलाषा के प्रतिकूल व्यवहार जीवन मे हम से न होगा। फिर भी यदि कोई अपराध हम सबसे या किसी से बन पड़ा हो। तो कृपा कर उसे प्रगट कीजिए। हम उसका यथोचित प्रायश्चित करके आपको संतोष प्रदान करेंगी।

यदि ऐसा नहीं हुआ है और आप हम सब को निरपराध

एवं निर्दोष समझा हैं तो फिर हमारा त्याग क्यों करते हैं ? इस तरह हम हर्गिज आपको न जाने देंगी। देखें आप, कैसे चले जाते है ? हम आपके चरणों पर लोट जाएंगी। आपके पथ में अपने शरीर को बिछा देंगी। आपको शपथ दिलायेंगी क्या आप हमारे ऊपर होकर-हमें कुचल कर जा सकेंगे ? स्मरण रखिए, हम आपकी अर्द्धांगिनी है। आपके ऊपर हमारा पूर्ण अधिकार है। आप हमारी स्वीकृति लिए बिना कदापि दीक्षा धारण न कर सकेंगे।

इतना ही नहीं, यदि आप फिर भी हमारी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो बात यहीं समाप्त न होगी। हम भी श्री सुधर्मास्वामी के पास जाएंगी और उनसे प्रार्थना करेंगी कि—आचार्य महाराज आप वीर संघ के स्वामी है। आपके व्यवहार पर धर्म की प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा निर्भर है यदि आप हमारे पतिदेव को दीक्षा देंगे तो हमारा सौभाग्य—हमारा सर्वस्व हम से छिन जाएगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि करुणा के सागर श्री सुधर्मास्वामी कदापि हमारे ऊपर डाका न डालेंगे और आपको हर्गिज दीक्षा न देंगे ! पर ऐसा करने में न आपकी प्रतिष्ठा रहेगी और न हमारी प्रतिष्ठा रहेगी। पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों में तीसरे व्यक्ति को खींच लेना उचित नहीं है मगर जब आप किसी भी प्रकार न मानेंगे तो हमारे पास और उपाय ही क्या है ? अतएव आप खूब गहरा सोच-विचार लीजिए। उसके बाद ही अपने कर्त्तव्य का निर्धारण कीजिए।

एक बात और मैं स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। मैंने भी धर्म का थोड़ासा स्वरूप गुरु महाराज के अनुग्रह से सीखा है।

मैं धर्म की विरोधिनी नहीं हूँ आपको सदा के लिये दीक्षा लेने को भी मना नहीं करती । मेरी प्रार्थना तो कुछ दिनों तक ही गृहस्थ-अवस्था में रहने के लिए है । मैं समझती हूँ कि आपको हमारी प्रार्थना स्वीकार करने में किसी प्रकार की आनाकानी नहीं होगी ।

प्रभो ! बस, अब मुस्करा कर कह तो दीजिये एक वार कि-अच्छा, तुम्हारी बात मुझे मंजूर है ! आपके यह शब्द सुनकर हम निहाल हो जाएंगी । अपने जीवन को, अपने यौवन को और अपने प्रयत्न को हम सार्थक समझेंगी !

स्वामिन ! प्राणों के प्राण यदि मुझ से कोई बात उत्तेजना के कारण अनुचित निकल गई हो तो कृपा करके क्षमा प्रदान कीजिए और हमारी अभ्यर्थना को अंगीकार करके मुरझाये हुए हमारे चेहरों को प्रफुलित कीजिये ।

जम्बूकुमार की नवविवाहिता पत्नियों ने उन्हें अपने स्नेह के प्रबल पाश में बांधने के लिए कोई प्रयत्न उठा न रक्खा । मगर जम्बूकुमार के ऊपर वैराग्य का जो पक्का रंग चढ़ गया था वह दूर न हो सका और वे उस पास मे अबद्ध होने के लिये किसी भी प्रकार तैयार न हुए । सात स्त्रियों को वे पहले ही प्रतिबोध दे चुके थे । अब सिर्फ एक पत्नी अवशिष्ट रही थी । उसने भरसक प्रयत्न किया कि जम्बूकुमार किसी प्रकार अपने संकल्प से च्युत हो जाएं पर उसका प्रयत्न निष्फल हुआ । उसका विनीत निवेदन, धमकी फुसलाहट कुछ भी काम नहीं आ सके । जम्बूकुमार ने अत्यन्त शान्ति के साथ उसकी सब बातें सुनी । जब वह अपने समस्त हार्दिक उद्‌गारों को वाचनिक रूप दे चुकी और मौन हो रही तब जम्बूकुमार ने कहा—

जम्बूकुमार-भद्रे ! तुम कहती हो कि हम ऐरी- गेरी कन्याएं नहीं हैं, हम कुलीन हैं, इत्यादि। सो निस्सन्देह तुम उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, हो। पर उत्तम कुल उत्तम व्यवहार पर निर्भर है। उत्तम व्यवहार उसी को कहते हैं जिससे स्व पर का उत्तम कल्याण हो। अतएव तुम्हें अपनी कुलीनता का विचार है तो ऐसे कार्य करो जिससे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो और साथ ही अन्य प्राणियों की भलाई हो। ऐसा व्यवहार धर्म की आराधना ही हो सकता है। इसलिए तुम्हें भी धर्म की आराधना में दत्तचित्त होना चाहिए।

संसार का प्रत्येक प्राणी भोगोपभोगों की अभिलाषा करता है और भोगोपभोगों में रचा-पचा रहकर अपने बहुमूल्य जीवन के महत्वपूर्ण क्षण वृथा गंवा देता है। उच्च कुल के लोग भी यदि इसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर दें तो उनमें नीच कुल वाला से क्या भेद रहेगा ?

तुम कहती हो कि मैंने तुम्हारी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की थी और अब तुम्हें त्याग कर जा रहा हूँ अतअए यह प्रतिज्ञा का विरोध है। पर कल्याणी ! मै पहले वता चुका हूँ कि ससार में जन्म-मरण-जरा आदि-व्याद्धि आदि के संकट आने पर कोई भी किसी की रक्षा नहीं कर सकता। यदि इन सब संकटों से छूटना है तो ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे जन्म मरण आदि उत्पन्न ही न होने पावें। जन्म-मरण आदि कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली पर्यायें है और जब कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है तब जन्म पर्यायों का भी अभाव हो जाता है। तातपर्य यह है कि समस्त कर्मों का सम्पूर्ण अभाव हुए विना आत्मा की रक्षा नहीं हो

सकती। मैंने तुम्हारी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की है अततव मेरा यह भी कर्त्तव्य है कि तुम्हें रक्षा का सर्वोत्तम उपाय वताऊं। बस उपाय बताना और उसके अनुसार चलने की प्रेरणा करना ही मेरे अधीन है। उस पर चलना न चलना तुम्हारे वश की बात है। इसी कारण मैं तुम्हें रक्षा का उपाय बता रहा हूँ। और इस प्रकार की हुई प्रतिज्ञा का पालन कर रहा हूँ। मेरे द्वारा प्रदर्शित उपायों के सिवाय स्थायी सुरक्षा का और कोई उपाय नही है। अतएव प्रतिज्ञा-विरोध का दोप मुझे नही आता।

प्रिये ! अप्रतिष्ठा का भय करना उचित है, पर उस भय की भी एक सीमा होती है। ससार में सब प्रकार के मनुष्य है। एक आदमी चाहे जितना अच्छा कार्य करे फिर भी दुर्जन लोग अपने हृदय में रही हुई ईर्षा और द्वेप की भावना से प्रेरित होकर उसमें भी कोई न कोई दोप निकालने का प्रयत्न करते है। यदि थोड़ा—बहुत दोष का अश उनके हाथ लग गया तब तो कहना ही क्या है ? दरिद्र को खजाना मिलने पर जैसी प्रसन्नता का अनुभव उसे होता है उसी प्रकार दुर्जन को दूसरे का दोप पाकर असीम आहलाद होता है। कदाचित उन्हें दोष न मिले तो उन्हें बड़ी निराशा होती है और वे किसी प्रकार दोप का उद्भावन कर ही लेते हैं। ऐसे दुर्जनों को किसी का सद्गुण नजर नही आता। वे दोप दृष्टि होते है अतएव उनके भय से किसी कार्य को आरम्भ न करना वुद्धिमता नहीं है। जो कार्य वस्तुत नैतिक: या धार्मिक दृष्टि से हेय है, जिससे आत्मा का अकल्याण होता हैं या संसार को हानि पहुँचती है ऐसा कार्य करने से सत्पुरुपों की दृष्टि में भी मनुष्य बुरा समझा जाता है। इससे सत्पुरुपों में प्रतिष्ठा का

भंग होता है। प्रतिष्ठा भंग का यही रूप भंयकर है। इसीसे मनुष्य को डरना चाहिए। अपनी आत्मा जिस कार्य को पूर्ण निर्दोष समझती है और शिष्ट एवं धार्मिक पुरुष जिसे हेय न समझ कर उपादेय समझते हैं उस कार्य के करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

दीक्षा ग्रहण करना धार्मिक कृत्य है। अनादि काल से वड़े-बड़े पूज्य पुरुष दीक्षा ग्रहण करते आ रहे हैं। तब मैं भी यदि दीक्षा ग्रहण करूं तो इसमें बदनामी का क्या कारण है? फिर भी यदि कोई बदनामी करना चाहे तो उसकी इच्छा। इससे हमारा क्या बिगाड़ होगा? बिगाड़ तो उसी निन्दक का होगा। अतएव ऐसी बदनामी से डरने वाला कायर पुरुप मैं नहीं हूँ।

प्रिये! तुम्हारा यह कथन ठीक है कि माता-पिता की सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है। उन्हें सन्तोप पहुँचाना भी पुत्र का धर्म है। पर तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि मैंने अनिच्छा-पूर्वक विवाह-संस्कार उन्हीं के सन्तोप के लिए कराया है। इससे वे सन्तुष्ट हो गये हैं, अतएव उनके सन्तोप की चिन्ता तुम्हें नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त तत्व की एक बात और है। सच पूछो तो संसार में कोई किसी का त्राता नहीं है। कर्मोदय से मनुष्य को जब प्रतिकूल सम्वेदन होता तब पुत्र कुछ भी हाथ नहीं लगा सकता। मैं अमुक का आश्रयदाता हूँ, रक्षक हूँ प्रतिपालक हूँ, इस प्रकार का विचार विवेकहीन अहंकार से पूरित होता है। अनाथी मुनि के उदाहरण से यह बात एक दम स्पष्ट हो जाती है। यदि किसी के शुभ कर्म का उदय है तो उसे कष्ट न होगा और यदि अशुभ कर्म का उदय है तो

कष्ट दूसरे के मिटाये नहीं मिटेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक प्राणी को आत्म-निर्भर होना चाहिए। परालम्बन से मनुष्य सुखी नहीं बन सकता।

तुम कहती हो, आत्मकल्याण के लिए बन-वास की आवश्यकता नहीं है और बनवास करने से आत्मकल्याण होता तो सब जंगली जातियां कभी की मोक्ष में पहुँच गई होती। तुम्हारा यह कथन भी युक्तियुक्त नही है। इसके स्थान पर यदि मै ऐसा कहूँ कि—बीमारी होने पर औषध खाने की आवश्यकता नही है, यदि औषध खाना उपयोगी होता तो सब औषध खाने वाले रोग से मुक्त हो गये होते! यह कथन क्या युक्तिसंगत है? नही। बात यह है कि निरोग होने में अन्याय निमित्तों के साथ औषधि खाना भी एक निमित्त कारण है और वह रोगी के लिए आवश्यक है। यदि अन्य कारण अनुकूल हुए तो औदध खाने से रोग हट जाता है इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने में वन-वास अथवा जिनदीक्षा लेना भी एक निमित्त कारण है। अन्य मुक्ति के कारणों के सद्भाव होने प उसकी भी आवश्यकता होती है। कोई-कोई बीमार औषधि सेवन किये बिना भी निरोग हो सकता है, इसी कारण ओषधि सेवन निरर्थक नही माना जाता, इसी प्रकार कोई-कोई महापुरुष बिना वन-वास स्वीकार किये ही मुक्ति प्राप्त कर लेते है अथवा गृहस्थ लिग से सिद्ध हो जाते है इसलिए दीक्षा अनुपयोगी नहीं हो सकती।

प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए निमित और उपादान कारणों की आवश्यका है। मुक्ति रूप कार्य के लिए भी दोनों

कारणों की विद्यमानता अनिवार्य है ! मुक्ति का उपादान कारण स्वयं आत्मा है। क्योंकि समस्त कर्मो से रहित आत्मा की निष्कलंक अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं। निमित्त कारण अनेक हैं। जिन दीक्षा आदि उसी में गर्भित हैं। अतएव तुम जैनधर्म को अनेकान्त रूप कहकर निमित्त कारण का लोप करना चाहती हो सो उचित नहीं है।

प्रिये ! तुमने मोह रूपी मदिरा पी रखी है, अतएव तुम्हें वस्तु का स्वरूप विपरीत भास हो रहा है ! मोह ने तुम्हारी बुद्धि को इतना मलीन बना दिया है कि वह यर्थाथ वस्तु स्वरूप को नहीं देख पाती। इसी कारण तुम कु हेतु दे रही हो। जिसे तुम सुख समझ रही हो वह मंदिर के ऊपर फहराती हुई ध्वजा के समान सर्वथा अस्थिर है सार हीन है। वह विष मिले हुए पक वान के समान परिणाम में अत्यन्त वेदनाकारी है। वह खाते समय भले ही भला जान पड़े किन्तु खाने के वाद उसका फल अत्यन्त भयंकर होता है। संसारी जीव इस पथ्य को नहीं समझते अज्ञान के वश होकर वे सुख की प्राप्ति के लिए सतत् चेष्टा करते हैं पर अन्त में दुःख पाकर फिर भी विलविलाने लगते हैं। जैसे मछली जिह्वा इन्द्री के वशीभूत होकर आटे के लिए कांटे पर जाती है पर अन्त में अपने प्राणोंसे भी हाथ धो वैठती है, यही दशा भोगाभिलापी जीवों की है। तलवार की तीखी धार पर लगे हुए मधु को चाटने में क्षण भर के लिए मिठास का आभास होता है पर जीभ कटजाने की वेदना कितनी उग्र होती है ?

संसार के मिथ्याज्ञानी प्राणी अनादि काल से विषय जन्य कष्ट भोगते आ रहे हैं। लेकिन आश्चर्य है कि अव

तक न तो उन्हें जरा सी तृप्ति हो पाई है और न वे विषयों की आकांक्षा का ही त्याग करते है। अपने जीवन का समस्त भाग विषय-सुख की प्राप्ति में लगाकर भी अणुमात्र सुख उनके पल्ले नहीं पड़ता। विषयों की गुलामी करने में धर्म-साधना की ओर उनकी रुचि नहीं होती। किसी ने यथार्थ ही कहा है—

जनमृत्यु जरानल दीपितं,
जगदिद सकलोऽपि विलोकते।
तदपि धर्ममति विदधाति नो,
रतमना विषयाकुलितो जनः॥

अर्थात् सभी लोग यह देख रहे हैं कि यह संसार जन्म, मरण और जरा रूपी अग्नि से जल रहा है, फिर भी विषयों में आसक्त, उन्हीं में अपना मन लगाने वाला मनुष्य धर्म में बुद्धि नही लगाता है।

सचमुच इस जीव ने विषय-सुख के लिए जितने प्रयत्न अनादि काल से लेकर अब तक किये हैं उनसे हजार गुने कम प्रयत्न यदि आत्मिक सुख के लिए किये होते तो इसे अनन्त सुखः अनन्त काल के लिए प्राप्त हो गया होता और सभी प्रकार के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा मिल गया होता। मगर आत्महित के लिए जीव प्रयत्न नही करता, यह सब महामोह की विकट विडम्बना है।

मरणमेति विनश्यति जीवितंयु तिरपैति जरापरिवर्धते।
प्रचुर मोहपिशाच वशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः॥

अर्थात् मरण नजदीक-नजदीक आ रहा है जीवन का

नाश हो रहा है, प्रतिक्षण आयु क्षीण होती जा रहा है, जवानी नदी के वेग के समान चली जा रही है, बुढ़ापा बढ़ता जाता है, तो भी भयंकर मोह रूपी पिशाच के वश में पड़ा हुआ यह मनुष्य आत्मकल्याण में रुचि नहीं रखता। यह कितने परिताप का विषय है ?

संसारी जीव अपने जीवन का अन्त समीप आता देखकर भी नहीं चेतता है। अमुक कार्य करना है, अमुक से लेना है, महल बनवाना है, हाथी-घोड़ा खरीदना है, पुत्र का विवाह करना है, पौत्र का मुंह देखना है, इत्यादि उपाधियों में पड़ा रहता है वह सब कुछ जानता हुआ भी यह नहीं सोचना—

सकल लोकमनोहरणक्षमा:
करण यौवनजीवित सम्पद: ।
कमलयत्रपयोलव चञ्चला:
किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥

तात्पर्य यह है कि चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं की सभी अवस्थाएं नाशवान हैं। जिनकी इन्द्रियां सारे ससार का मन हरण करने में समर्थ हैं जिनका यौवन असाधारण सौन्दर्य से मंडित होता है, जिनकी सम्पत्ति और जीवन को देखकर जगत् चकित रह जाता है, जिनकी सम्पदा चक्रवर्ती के समान होती है, वे सब पुरुप भी क्षण भर में इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूंद नीचे गिरजाती है। सच संसार में तीन लोक में एक भी ऐसी अवस्था नहीं है जो स्थिर बनी रहती हो।

प्रिये ! यह सब तत्त्वज्ञान के विचार, जो प्रत्यक्ष से सिद्ध है, जिन्हे हम लोग प्रतिदिन अनुभव करते है, क्या विषय—राग को घटाने में समर्थ नही है ? इनमे ससार का हूबहू चित्र अकित किया गया है। फिर भी तुम विषयों का मोह नही त्यागती।

जीव को जब-जब दुःख होता है, किसी इष्ट जन का वियोग हो जाता है, रोग आदि अनिष्ट का सयोग होता है, सम्पत्ति का सहसा विनाश हो जाता है, या किसी कारण से गहरी ठेस लगती है तब यह जीव ससार के मार्ग से विमुख होने का सकल्प करता है, मगर थोड़े समय के पश्चात् मोह का प्रबल उदय उस वैराग्य का नाश कर देता है और जीव फिर उसी मार्ग पर चलने को तैयार हो जाता है। प्रसव के समय स्त्री काम-भोग से अत्यन्त घृणा करती है, उसे हृदय से हेय मानती है भविष्य में ऐसी अवस्था उत्पन्न न होने देने का निश्चय कर लेती है, पर थोड़े ही दिनों में उस निश्चय का विस्मरण कर देती है और फिर उसी मार्ग पर चलने लगती है। अनादिकाल से इसी प्रकार का चक्र चलता आया है। अतएव अब तुम सावधान हो जाओ। ससार की अनित्यता का विचार करो। सोचो—

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः,
सदानार्या आर्या स्वजन तनया कार्य विनयाः
असारे संसारे विगतशरणे दत्तमरणे,
दुराराधेऽगाधे किमपि सुखदं नायरपदम् ॥

अर्थात् जिस शरीर पर हम लोग इतराते है यह नष्ट होगा, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नही है। संसार की समस्त सम्पत्ति वियोग का दुःख देकर एक दिन चलती बनेगी। स्त्री सदा

हितकारी नहीं है, स्वजन और तनय (पुत्र) अपने मतलब के लिए विनय करते हैं। मरण का दुःख देने वाले, शरण रहित, अत्यन्त गम्भीर इस संसार में मोक्ष पद के अतिरिक्त और कोई भी पद सुखदायक नहीं है।

प्रिये! ऐसे दुःखदायी विषयों का आस्वादन करने के लिए और क्षण भर के आनन्द के लिए तपस्या जैसी श्रेष्ट सुखदायी वस्तु का त्याग करना उचित नहीं है। कहा है:—

चक्री चक्रमयाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्,
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः सम्पदम्।
तच्चित्रं परम यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो—
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखभवरे भीमे भवाम्भौनिधौ ॥

जो तप तपस्वियों को सदा अविनाशी और अनुपम सम्पत्ति प्रदान करता है, उस तप के लिए चक्रवर्ती भी यदि अपना चक्र त्याग देता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर आश्चर्य-जनक बात तो यह है कि जो विषय इस भयकर और निकृष्ट संसार में अनेक दुःख देते हैं, उन्हीं विषयों का भोग करने के लिए संसारी जीव तप का त्याग कर देते हैं।

प्रिये! यह कथन कितना सत्य है। तप के लिए चक्रवर्ती भी अपनी सम्पदा को ठुकरा देते हैं। उनका यह कृत्य सर्वथा उचित है, क्योंकि तपस्या के द्वारा उससे भी अधिक और श्रेष्ट आत्मिक सम्पत्ति की प्राप्ति होती हैं। पर जो पामर प्राणी विषय भोगों के लिए तप जैसी श्रेष्ट वस्तु का भी परित्याग कर देते हैं वे कितने अवोध हैं! कितने अज्ञानी हैं! उनकी दीन दशा का क्या पार है! बताओ, तुम इन दो प्रकार के प्राणियों में से किसमें

सम्मिलित होना चाहती हो ?

मोहनीय कर्म जिनका उपशान्त हो गया है, जिन्हें स्व-पर का भेद-विज्ञान प्राप्त हो गया है, जिन्हे सम्यग्दृष्टि मिल गई है अतएव जो सार-असार का विवेक करने में कुशल है वे कभी विषयों के विष का भक्षण नही करते। वे भली भांति समझते है कि विषय भोगते समय तो सुन्दर लगते है पर वास्तव में वे अतृप्ति को ही बढ़ाते हैं, क्योंकि विषय भोगने से भोगों की कामना पूरी नही होती वरन् वह अधिकाधिक बढ़ती जाती है। विषय इन्द्रायण के फल के समान परिणाम में दुखदायक हैं। अल्पकाल तक ही स्थिर रहते हैं और बहुत काल तक इनका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करके विषयों की इच्छा का ही त्याग कर देते हैं।

विषयों की इच्छा का परित्याग करने से आत्मा मे अलौकिक निराकुलता का उदय होता है। आज तक जिस शान्ति के स्वप्न में भी दर्शन नही हुए थे ऐसी अपूर्व शान्ति और साता का अनुभव होने लगता है। आत्मा के ऊपर लदा हुआ बहुत-सा भार उस समय हल्का हो जाता है। सचमुच वे महापुरुष अभिनन्दनीय है, बारम्बार वन्दनीय है, अनुकरणीय है, अनुसरणीय हैं, जिन्होंने विषयों की अभिलाषा का परित्याग करके अपूर्व आनन्द के सरोवर में तन्मय होकर आत्मिक शान्ति प्राप्त की है।

एक महात्मा पुरुष कहते हैं—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुतं पुण्यतो,
वैराग्यं च करोति यः शुचि तपो लोके स एव कृती।
तेनै वोज्झितगौरवेण यदि वा ध्याना मृतं पीयते,
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः॥

भावार्थ—पुण्य के उदय से पवित्र कुल में जन्म पाकर तथा उत्तम शरीर का लाभ पाकर :जो महाभाग शास्त्र को भली भांति समझकर वैराग्य युक्त होकर तप करता है वही लोक में कृतार्थ है- उसी का जीवन लोक में सफल है। यदि वह तपस्वी होकर मर्द का त्याग कर ध्यान रूपी अमृत का पान करता है तव तो उसने सुवर्ण-मय महल के ऊपर मणिमय कलश ही चढ़ा दिया है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा का ध्यान करते हैं वही तपस्या का विशेष लाभ उठाते हैं।

ललितांग नामक एक सेठ का पुत्र रानी के चक्कर में पड़ फर कितने अधिक दुःखों का पात्र वना, यह शायद तुम्हें ज्ञात नहीं है। तुम मुझे भी इसी प्रकार कष्ट में डालना चाहती हो। मगर मैंने विषय भोगों की दुःखदायक भली-भांति समझ ली है। मैं इस चक्कर में अव पड़ना नहीं चाहता। ललितांग की कहानी इस प्रकार है:—

इसी जम्बूद्वीप में वसन्तपुर नामक एक नगर था। वहां का राजा सत्यप्रभ था। उसकी पटरानी का नाम रूपवती था। पटरानी सतीत्व धर्म से भ्रष्ठ थी। वह अपने अन्तःकरण में सदैव मलीन विचारों को आश्रय देती थी। एक वार वह अपने महल के झरोखे में वैठी थी। उसी समय, उस नगर में रहने वाले श्रीधर नामक श्रेष्ठी का लड़का घोड़े पर सवार होकर भ्रमण करने के लिए निकला। श्रेष्ठी-पुत्र राज-महल की वगल में होकर जा रहा था उसका नाम ललितांग और उसका रूप असाधारण था। ऐसा जान पड़ता था मानों समस्त सौन्दर्य का सार ललितांग के शरीर में ही आकर एकत्र

हो गया है। वह कामदेव के समान अतिशय रूप-लावण्य से युक्त था। उसकी तेजस्वी मुख-मुद्रा देखते ही वनती थी। गौर वर्ण, मांसल और पुष्ट था। वक्षस्थल विशाल था।

ललितांग पर रानि की दृष्टि पड़ी। उसके सौन्दर्य ने रानी का मन आकर्षित कर लिया रानी का मन मलीन तो रहता ही था, तिसपर सुन्दर पुरुष के अवलोकन रूप निमित्त कारण ने अपना प्रभाव डाला। वह ललितांग के सौन्दर्य की तुलना राजा से करने लगी, पर राजा उसके सामने किसी गिनती में ही न था। रानी की राजा उसके मुकाविले एकदम उस वायु के वेग में रानी की नैतिक और धार्मिक भावनाएं, जो थोड़ी सी थीं, वे सहसा उड़कर विलीन हो गई! उसका अन्तः करण अव श्मशान के तुल्य घृणित और अपवित्र एव वीभत्स हो गया।

जिस शरीर में सभी अपवित्र एवं घिनौने पदार्थ भरे हुए हैं, जिसमें मल-मूत्र का ढेर लगा रहता है, सदा जिससे घृणास्पद पदार्थों के झरने वहते हैं, उस शरीर पर भी कामी जन मोहित हो जाते है, यह अज्ञान की पराकाष्टा हैं, मोह का विलास है।

शरीर वास्तव में महा अपवित्र है। हाड़, मांस, रुधिर आदि गंदे पदार्थों से इसका निर्माण हुआ है। करोड़ों रोम इस शरीर में है और उन सव से तथा नौ द्वारों से सदा मैल निकलता रहता है। पवित्र चन्दन आदि पदार्थ भी इस शरीर का सयोग पाकर अस्पृश्य एव अपावन हो जाते है। यह मिट्टी के घड़े के समान कच्चा है। रोग शोक आदि की थोड़ी सी ठोकर लगने पर ही नष्ट-भ्रष्ट हो

जाता है। जब शरीर स्वस्थ रहता है तब भी वह अनेक प्रकार की झंझटें उत्पन्न करता है। उदर शरीर का ही एक अंग है और उसकी पूर्ति के लिए लोगों को कितने कष्ट नहीं उठाने पड़ते। संसार में अगणित प्राणी केवल उदरपूर्ति करने के लिए ही अपने जीवन की इति कर देते हैं। शीत से, और उष्णता से बचने के लिए सदैव चिन्ताशील रहना पड़ता है। फिर भी अन्त में यह धोखा दे जाता है। ज्ञानार्णव में कहा है—

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्,
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढ़म्।
यमवदननिपण्णं रोगभोगीन्द्रगेहम्?
कथमिह मनुजानां प्रीयते स्याच्छरीरम्?

अर्थात् हे मूर्ख मनुष्य! यह शरीर—जिस पर मोहित होकर तू धर्म से विमुख हो रहा है और परलोक को भूला बैठा है—चमड़े के चादर से ढका हुआ हाड़ों का पींजरा है। यह बिगड़ी हुई बदबूदार पीप से भरा हुआ है। रोग रूपी सांपों का घर है, और यमराज के मुंह में बैठा हुआ है। ऐसी अवस्था में क्या यह शरीर प्रेम करने के योग्य है? कदापि नहीं।

मगर कुत्सित वासनाओं से वासित कामी जन शरीर के इस वास्तविक रूप को नहीं देखते। वे अशुचि पदार्थ में आनन्द मनाने वाले कीड़े की तरह इस अशुचि के पिंड में रमण करते हैं। उनमें शरीर के प्रति घृणा का भाव भी नहीं उत्पन्न होता अस्तु।

रानी ने ललितांग को देखा तो उसका मन चंचल हो गया। वह उसकी ओर एक दम आकृष्ट हो गई। तत्काल उसने अपनी निजी दासी के द्वारा ललितांग को महल में बुलावा लिया। ललि-

तांग के उपस्थित होने पर उसके समक्ष उसने अनेक हाव-भाव-विलास--चेष्टाएं करके अपनी कामना को पूर्ण करने का प्रस्ताव किया। संसार में स्त्रियों का आकर्षण पुरुष के लिये सबसे अधिक प्रवल है। वड़े-बड़े यति-मुनि भी इस आकर्षण को सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं। ललितांग भी रानी की कुचेष्टाएं देखकर अपने धर्म की रक्षा न कर सका। काम-वासना का शिकार हो गया और इस प्रकार दोनों अपने धर्म से पतित हो गये। दोनों जब एक से मिल गये तब धर्म रक्षा हो ही कैसे सकती थी। गधे ने कुत्ते का मुंह चाट लिया तव गंगाजी किसे भेजा जाय ?

ललितांग और रानी दोनों में वार्तालाप हो ही रहा था कि उसी समय डयोढ़ी से महाराज के आगमन की सूचना मिली। यह सूचना पाते ललितांग और रानी-दोनों की घवराहट का पार न रहा। सच है-पापो के हृदय में एक प्रकार की निर्वलता आजाती है। पाप-वासना शक्ति और हिम्मत का नाश कर देती है पापी का हृदय पारे की तरह कांपता रहता है। उसे अत्यन्त व्याकुलता सताती रहती है। निरन्तर शंका शील रहने के कारण उसकी शांति का स्वाहा हो जाता है। वह डरपोक वन जाता है और नैतिक शक्ति से तो हाथ धो बैठता है। तदनुसार राजा के आगमन की सूचना मिलने ही दोनों पीपल के पत्ते की तरह थर-थर कांपने लगे। उन्हें अपने प्रवल पाप का शीघ्र ही उदय आता दिखाई देने लगा। रक्षा का कोई उपाय जव नही दिखाई दिया तो ललितांग अपने पाप के लिए घोर पश्चात्ताप करने लगा। पर पाप तो इतना गुरुतर था कि मात्र पश्चात्ताप से पर्याप्त प्रायश्चित होना असम्भव था। अन्त में अत्यन्त विकल हो कर ललितांग ने कहा—

ललितांग—रानीजी, मैं अपने रास्ते घूमता जा रहा था। आपने यहां बुलाकर मेरी यह दुर्दशा कराई है।

रानी—वाह! क्या कहना है! आप बड़े धर्मात्मा और सदाचारी बन रहे हैं और सारा दोष मेरे मत्थे मढ़ रहे है!

ललि०—तो क्या मैं अपने आप आपके पास आया था।

रानी—न सही अपने आप, पर आये तो तुम्हीं मेरे यहां हो। मैं तो तुम्हारे पास नहीं गई।

ललितांग—रानी, तुम्हींने मुझे विपत्ति में फंसाया है। इसका तमाम उत्तर ायित्व तुम्हारे सिर है।

रानी—बको मत ललितांग, तुम बिना कहे-सुने ही चोरी से मेरे महल में घुस आये हो। तुम मेरे सतीत्व को कलंकित करना चाहते थे।

ललितांग—स्त्रियों सचमुच ही क्या इतनी अधिक मायाविनी होती है! तुम स्वयं निर्दोष बनने के लिए मेरे प्राण लेना चाहती हो क्या? पर याद रक्खो, इससे तुम्हारा कलंक धुल नहीं सकेगा। मैं दरबार में सारी घटना साफ-साफ कह दूंगा और उस दासी को, जो मुझे बुलाने गई थी, साक्षी के रूप में पेश करूंगा।

रानी—ललितांग, नराधम! तू मुझ पर बलात्कार करना चाहता है। आने दे महाराज को। मेरे सतीत्व का अपहरण करने यहां आ गया हैं।

ललितांग—ऐसी बातों से काम नहीं चलेगा रानी! विषयी जीव स्वार्थी होते हैं। उनके अनुराग का कुछ भी मूल्य नहीं

होता। फिर भी इससे तुम्हारी और मेरी-दोनों की अप्रतिष्ठा होगी और दोनों को अपने प्राण गंवाने पड़ेंगे। इसलिए मायाचार की बातें छोड़ो। महाराज पहुँचने ही वाले है। शीघ्र कोई उपाय करो जिससे दोनों की इज्जत-आबरू बनी रहें।

रानी--अब ठिकाने पर आये! देखो, प्राण बचाने का अब एक ही उपाय है। तुम पाखाने में घुस जाओ। राजा देख नहीं सकेगा।

ललितांग के लिए यह अच्छा सबक था। पाखाने में उतरने का उसका जी न होता था। दुर्गन्ध और घृणा के मारे मरा जा रहा था। पर दूसरी ओर प्राणों की रक्षा का प्रश्न था। प्राण-रक्षा का दूसरा कोई उपाय न देख उसने वही स्वीकार किया। वह नीचा सिर और ऊपर पैर करके पाखाने में उतर गया। पर बीच में बुरी तरह फंस गया। निकलना उसके लिए सम्भव न था। पाखाने में राजा वगैरह मल मूत्र का त्याग करते तो वह सब उस के शरीर पर ही होकर नीचे जाता था। वह न इधर आ सकता था न उधर जा सकता था। दासी किसी प्रकार रोटी देती तो उसे खाकर वह नौ महीने तक जीवित रहा।

ललितांग के किसी पूर्वजन्म के पुण्योदय से वर्षा ऋतु आगई। जोरों से वर्षा हुई। इधर पाखाने में लटका लटका वह दूबला हो गया था। अतएव पानी के प्रबल बहाव के कारण वह संडास से बाहर निकल गया। दुर्बलता बेहद बढ़ गई थी अतएव वह पानी के बहाव का भी मुकाबिला न कर सका और बहता गया। किसी जगह किसी ने उसे बहता देखकर पानी में से निकाला।

दूसरी ओर श्रीधर श्रेष्ठी अपने पुत्र की अचानक गायब हुआ

देखकर अत्यन्त चिन्तित हो गये थे। उन्होंने उसे खोज निकालने के सभी संभव उपाय किये पर कहीं किसी प्रकार भी पता न चला। फिर भी उन्होंने अपना प्रयत्न चालू रखा और रात दिन उसी की खोज में लगे रहे। आज अपने प्राणप्रिय पुत्र को अचानक इस अवस्था में देखकर उसे हर्ष और विषाद दोनों भावों का एक साथ अनुभव होने लगा। पुत्र-प्राप्ति का हर्ष था और उसकी शारीरिक दुरवस्था को देखने पर उसे विषाद हो रहा था। फिर भी उसने पुत्र-प्राप्ति को अपने पुण्य का उदय समझा और वह उसे अपने घर ले गया। अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन उसे कराया गया तब कहीं ललितांग स्वस्थ हुआ। इस प्रकार धीरे-धीरे वह अपनी खोई हुई शारीरिक सम्पत्ति को प्राप्त कर पाया।

कुछ समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् ललितांग फिर एक बार राजमहल के समीप होकर निकला और संयोगवस फिर रानी ने उसे देख लिया। रानी की मलीन भावना फिर जागृत हो गई और उसने फिर ललितांग को दासी भेजकर बुलवाया!

जम्बूकुमार पूछने लगे—अब भद्रे तुम्हीं कहो ललितांग रानी के पास जायगा या नहीं ?

जेतश्री—अब वह कदापि नहीं जायगा, कम से कम यदि उसमें रंच मात्र भी विवेक विद्यमान हो तो उसे हर्गिज नहीं जाना चाहिए।

जम्बूकुमार—यदि ललितांग में थोड़ा भी विवेक है तो उसे नहीं जाना चाहिए, यह कथन बिलकुल उचित है! पर जेतश्री! क्या मुझमें ललितांग के बराबर विवेक नहीं है, जो मैं तुम्हारे आग्रह को स्वीकार कर फिर विषयभोग के कीचड़ में फंसूं ? इस

उदाहरण को समझो। देखो—

ललितांग के समान संसारी जीव है। राजा के स्थान पर तीनों लोकों की प्रजा पर अखण्ड और निष्कटक शासन करने वाला यम-राज है। विषय वासना को रानी के स्थान पर समझना चाहिए। कुमती रूपी दासी है। महल के समान मनुष्यगति में जीव बुलाया गया है। यमराज रूप राजा के आगमन की सूचना मिलते ही जीव की काया कांपने लगती है। उसके वाद संडास के समान अतीव घृणास्पद और मलिन जननी के जठर में जीव प्रवेश करता है। वहां जूठे टुकड़ों के समान माता-पिता के रजवीर्य से शरीर का पोषण होता है। माता के शरीर का मल मूत्र उसके पास से होकर निक-लता रहता है। इसी प्रकार कष्टमय जीवन बिताते-विताते जब नौ महीने और कुछ दिन पूरे हुए तव पुण्य रूप जल की वर्षा होने पर मैंने जन्म धारण किया है।

जन्म धारण करने के पश्चात् माता-पिता आदि ने स्नेह के साथ मेरा पालन-पोषण किया है। ऐसी अवस्था में क्या मै फिर विषय-वासना का शिकार वन सकता हूँ ? भले ही हजार प्रेरणा विषय-वासना की ओर से हो पर मुझ मे यदि विवेक है तो उस से मुझे बचना ही उचित है। प्रिये ! यह निर्णय तुम्हारे मुख द्वारा हुआ है और इससे वदलने का अव तुम्हे अधिकार नहीं है।

मै अज्ञानी था ! आत्मा और अनात्मा के भेद को भूला हुआ था। आत्मिक सुख की प्राप्ति के उपायों से विमुख होकर दुःखों के मार्ग पर चला जा रहा था। श्री सुधर्मा स्वामी ने मुझे सावधान किया है। उन्होंने मुझे सुख के पथ पर अग्रसर किया है। मुझ पर उनका अनन्त उपकार है। जिन्होंने अक्षम कल्याण का पथ प्रदर्शित करके मेरे जीवन में लोकोत्तर आलोक भर दिया

है, जिन्होंने मेरी आंखों में दिव्य ज्योति लगा दी है, जिनके प्रताप से मेरे हृदय का अन्धकार विलीन हो गया है, जिन्होंने मेरी भुजाओं में संसार-सागर को सकुशल पार करने का असीम सामर्थ्य दिया है, उन गुरु महाराज के उपकारों से मैं कैसे उऋण हो सकता हूं। उनके चरणों में मेरी प्रार्थना है:—

मेरे हृदय सागर में जब जब,
उठे कामना का तूफान।
विषयाशक्ति भंवर में डूबे,
जब मेरा छोटा सा यान॥
केवट मोह-सुरा का प्याला,
पीकर खो बैठा हूं ज्ञान।
तब तब मुझे बचाना मेरे-
गुरु! जलयान महान्॥
माया मत्सरता कायरता,
मुझे बनावें अपना दास।
ममता मेरे ऊपर फैंके,
अपना मृदुल भयंकर पाश॥
मेरे लिए खोल देना तब,
आत्म शक्ति का वर भण्डार।
हंसते हंसते झेल सकूंगा,
कोमल और कठोर प्रहार॥

जैतश्री! गुरु महाराज के प्रसाद से जब मैंने विषयभोगों के भीतरी रूप को भलीभांति समझ लिया है तब उनमें फंसाने का तुम्हारा आग्रह व्यर्थ है। अब वह काम नहीं आ सकता।

जैतश्री! मैंने तो जो अटल निश्चय किया है उसे संसार की

कोई भी विरोधी शक्ति नहीं टाल सकती। पर मैं तो यह कहता हूँ कि तुम्हें भी मेरे ही पथ पर चलना चाहिए, क्यों कि इसके विना कल्याण का सच्चा सन्मार्ग दूसरा नहीं है। जो सच्चे सुख की अभिलाषा करते है उन्हें चाहिए कि वे तदनुकूल उपायों का अवलम्बन करें। उस से विरुद्ध उपाय करने से और उलटे मार्ग पर चलने से सिद्धि नहीं हो सकती। सच्चा आत्मिक सुख वही है जो पराश्रित न हो। जो सुख विषयों के द्वारा उत्पन्न होता है, इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाता है, वह पराश्रित है। उसका शीघ्र ही विनाश हो जाता है सयोग-अवस्था में जितना सुख मिलता है उससे अनेक गुना दुःख वियोग की अवस्था में मिलता है। ऐसे सुख से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। सच्चा सुख आत्मज्ञान एव आत्मध्यान के द्वारा प्रादुर्भुत होता है। आत्मध्यान तभी भली-भांति हो सकता है जब सब प्रकार के परिग्रह का-सांसारिक पदार्थों के प्रति रहे हुए ममत्व का-सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। सच्चे सुख को अभिलाषा होने पर जो दुःख-प्रद पाप कार्य करते है, आरम्भ-परिग्रह मे आसक्त रहते है उन्हें सच्चा सुख कदापि नहीं मिल सकता। जो बबूल बोयेगा उसे आम कैसे मिलेंगे ? वह तो कांटे ही पा सकेगा। इसी प्रकार जो पापों का उपार्जन करेगा, आरम्भ-समारम्भ में लगेगा वह दुःख का ही भागी होगा। चतुर पुरुष वही है जो अपने मनोरथ को पूर्ण करने वाले उपायों का अनुसरण करता है। अतएव प्रत्येक सुखाभिलाषी को आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर के आत्मध्यान करना चाहिए।

आत्मध्यान के साथ पहले बन्धे हुए कर्मों का नाश करना अत्यावश्यक है। कर्मों की राशि को भस्म करने की जैसी शक्ति तपस्या में है। वैसी शक्ति और किसी में नहीं। तप से संवर और

निर्जरा दोनों की साधना होती है। जो विवेक शील महापुरुष आत्म शुद्धि के महान् उद्देश्य से शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए तपस्या करते हैं, उन्हें शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है और वही मुक्ति के भागी होते हैं। शुभ उपयोग पुण्य बंध का कारण है और शुद्ध उपयोग कर्मों के विनाश का कारण होता है। अतएव मुमुक्षु पुरुष को सांसारिक भोगोपभोग आदि के उद्देश्य से नहीं वरन् आत्मा के अधीन उत्पन्न होने वाले सहज सुख की प्राप्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए।

तप दो प्रकार के शास्त्रों में बताये गये हैं—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप। अनशन, ऊनोदर, भिक्षाचारी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलेहना, यह बाह्य तप हैं। बाह्य तपश्चरण करने से निर्जरा होती है और तपस्वी अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। किन्तु इन तपों का सम्बन्ध मुख्यरूप से शरीर के साथ है! इस प्रकार के तप अनेक बाल-तपस्वी भी करते है जिन्हें आत्मज्ञान नहीं होता और जो आत्मा-अनात्मा के भेद-ज्ञान से हीन होते हैं। अतएव इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, यह छह आभ्यन्तर तप है। इन तपों का प्रधान रूप से आत्मा के साथ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक विकास के लिए इन तपों का अनुष्ठान करना अत्यन्त आवश्यक है। जो तपस्वी बाह्य तपस्या का अति आदर करता है और आभ्यन्तर तपों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, वह आत्मा के अभ्युदय में अधिक शक्ति शाली नहीं होता। अतएव बाह्य तप के साथ

आन्तरिक तप का आचरण अवश्य करना चाहिए। बाह्य तप अंतरग तप के सहायक, बन जाएं, यह तपस्वी को ध्यान रखना चाहिए। तभी-आत्मा कर्मों से मुक्त हो सकता है तपस्या वह अग्नि है जिसमें कर्मो का कचरा भस्म हो जाता है। जैसे सोने को आग में तपाने से वह एकदम निर्मल, स्वच्छ चमकदार बन जाता है उसी प्रकार तप की अग्नि से तप्त होकर आत्मा कर्ममल से युक्त और आत्मिक गुणों से प्रकाशमान हो उठता है। अतएव मोक्षाभिलापियों को आत्मज्ञान के साथ-साथ तप का अनुष्ठान करना चाहिए कहा भी है—

कोटि जन्म तप तपें ज्ञान विना कर्म करें जे।
ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्ति तें सहज टरें तें

अर्थात् अज्ञानी—मिथ्या ज्ञानी-जीव करोड़ जन्मों तक तपस्या करके जितने कर्मों की निर्जरा कर पाता है, उतने कर्म ज्ञानी तीन गुप्तियों की आराधना करके एक क्षण में नष्ट कर डालते है।

यह ज्ञान की महिमा है यों तो ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है और वह प्रत्येक आत्मा में, प्रत्येक अवस्था में न्यूनाधिक रूप में सदा वना रहता है। यहां तक कि एकेन्द्रिय निगोदिया जीवों में भी मतिज्ञान और श्रुत का अंश विद्यमान रहता है। किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय जब होता है तब ज्ञान, अज्ञान या मिथ्या ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे दूध स्वभाव से मीठा होने पर भी कड़वी तुंबी के ससर्ग से कटुक हो जाता है इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ

ज्ञान मिथ्यात्व का संसर्ग पाकर मिथ्या हो जाता है। मिथ्या ज्ञान ही सब अनर्थों का मूल है। उससे वस्तु का स्वरूप विपरीत भासने लगता है। संसार रूपी वृक्ष मिथ्या ज्ञान से ही उत्पन्न होकर हरा-भरा रहता है। वह सुखाभास में सुख का बोध कराता है, अधर्म में धर्म की, कुगुरु में सद्‌गुरु की, कुदेव में देव की और कुमार्ग में सत्मार्ग की प्रतीति कराता है। सत् को असत् और असत् को सत् रूप में प्रदर्शित करके आत्मा को भ्रम में डाले रहता है। मिथ्या-ज्ञान पूर्वक की हुई समस्त क्रियाएं संसार का कारण होती हैं। अज्ञानी जीव जो तपस्या करता है उसका फल अधिक से अधिक देवगति की प्राप्ति होना है। देवगति संसार रूप है अतः उसकी तपस्या भी संसार का कारण है। जब तक आत्मा में शुद्ध सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक जीव मोक्ष-मार्ग के अनुकूल नहीं होता है। अतएव मोक्ष रूपी महल की प्रथम पंक्ति सम्यग्दृष्टि अर्थात् शुद्ध समकित है। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यकचारित्र हो जाता है। सम्यक्तव के विना समस्त प्रयत्न वृथा जाते हैं। कहा है—

नरत्वेऽपिशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्त चेताः
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्त चेतनः।

अर्थात् जिनकी आत्मा मिथ्यात्व से जकड़ी हुई है मनुष्य होने पर भी पशु के समान हैं और सम्यक्त्व के द्वारा जिनके ज्ञान—दर्शन गुण व्यक्त हो गये हैं वे पशु भी मनुष्यों के समान हैं।

जैसे विना अंक के शून्यों की लम्बी राशि का कुछ भी अर्थ नहीं होता उसी प्रकार विना सम्यक्त्व के चारित्र का मोक्ष के

लिए कुछ भी मूल्य नहीं होता । सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर आत्मा में एक प्रकार की अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव होने लगता है उसे पदार्थों का स्वरूप निराला पर वास्तविक मालूम होने लगता है। राग भाव में न्यूनता आ जाती है और वैराग्य का रस बढ़ने लगता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष यह समझने लगता है कि पर पदार्थ से न तो बन्ध होता है और न मुक्ति होती है। वास्तव में आत्मा की रागवृत्ति अथवा ममता की भावना ही कर्म बन्ध का कारण है और वीत राग भाव ही कर्मों के नाश का कारण है।

वास्तव में जिसके पास धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह नहीं है उसके भी यदि राग की प्रचुरता हुई तो वह कर्मों का अधिक बन्ध करेगा। इसके विपरीत जिस सम्यग्यदृष्टि जीव के आधीस धन धान्य का परिणाम अधिक है, वह अपने सम्यग्ज्ञान और वैराग्य के कारण उसमें प्रगाढ़ ममता भाव नहीं रखता, उसे निज की वस्तु नहीं समझता और जल में कमल की तरह परिग्रह में अलिप्त होकर रहता है, तो उसके कर्म का बन्ध नहीं होता है। चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने के कारण अल्प राग द्वेष होता है उस से तो कर्म का बन्ध होता है। फिर भी वह बन्ध दीर्घ संसार भ्रमण का कारण नहीं होता है। अज्ञानी का बन्ध संसार भ्रमण का कारण है और ज्ञानी का बंध मोक्ष में बाधक नहीं होता अर्थात् इस बन्ध के होते हुए भी मोक्ष मार्ग की निर्बाध आराधना होती रहती है।

सम्यग्यदृष्टि श्रावक धन वैभव का संचय करते हैं फिर भी उनके पिछले कर्मों की निर्जरा अधिक होती है, क्योंकि वह भीतर से उस पर मोह नहीं रखते हुए मध्यस्थ भाव रखते हैं। जितने अंशों में राग भाव की कमी होती जाती है उतने ही अंश में कर्म-

वन्ध में कमी होती जाती है। अतएव हमें चाहिए कि हम आत्मा में अनादि काल से रहे हुए राग द्वेष रूप विभाव परिणाम को कम करने का प्रयत्न करें। रागभाव की कमी आत्मा अनात्मा के भेद विज्ञान से होती है। कहा भी है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिः,
तत प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।
ढतो न पूर्वार्जित कर्मनाशः,
ततो न सौख्य लभतेऽप्यमीष्टम्॥

भावार्थ—ज्ञान के विना जीव अहित से विमुख नहीं होता है और अहित से विमुक्त हुए विना हित में प्रवृत्ति नहीं होती है। हित में प्रवृत्ति हुए विना पूर्व उपार्जित कर्म का नाश नही होता और पूर्व कर्मों का नाश हुए विना अभीष्ट सुख की प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि सुख को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जब सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब यह जीव यह अनुभव करने लगता है कि मैं सुख को प्राप्त करने के उद्देश्य से अब तक दुःख के मार्ग में चलता रहा हूँ संसार में मोही जीव जिसे सुख कहते हैं वह तो असीम दुःख का भण्डार है। वास्तव में सुख वाह्य पदार्थों में नहीं है। सुख आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है और वह आत्मा में ही सदा विद्यमान रहता है। जीव जब अपनी आत्मा का अनुभव करता है तब आत्मा के सुख का भी उसे अनुभव होने लगता है। यह सुख इतना परिपूर्ण है कि इसके सामने इन्द्रिय जन्य सुख नगण्य, निस्सार और सर्वथा हेय जान पड़ता है। जैसे कोई क्षीर सागर के मधुर

जल का आस्वादन कर चुकने पर साधारण समुद्र के खारे जल को पीने की इच्छा भी नहीं करता इसी प्रकार आत्मिक सुख का आस्वादन कर चुकने के बाद—आत्म-सुख का स्वाद चख लेने पर, इन्द्रियजन्य सुखों की इच्छा भी नही होती। इन्द्रियजन्न सुख उस समय विप के समान सर्वथा त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं।

आत्मिक सुख का भोग करने से वीतराग भाव बढ़ता है और वीतराग भाव की वृद्धि होने पर निर्जरा की मात्रा में भी वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार इन्द्रिय-सुख कर्म बन्ध का प्रबल कारण है और आत्म-सुख कर्म-निर्जरा का सबल सहायक है। इन्द्रिय-सुख तृष्णा की वृद्धि करता है और आत्मिक सुख तृष्णा को नाश करके परम आत्मसन्तोप, साता और शान्ति प्रदान करता है। आत्मिक-सुख पराश्रित नहो है, इन्द्रियसुख वाह्य सांसारिक पदार्थों पर आश्रित है। आत्मिक सुख स्थायी है, इन्द्रियजन्य सुख बिजली की चमक की तरह क्षणिक है। ऐसी अवस्था में असली सुख को त्याग कर कौन विवेकी सुखाभास में प्रयत्न शील होगा ? कहा है—

> बाह्यं सौख्यविपयजनित मुञ्चते यो दुरन्त,
> स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नाति पूतम्

अर्थात् जो परिणाम में दुःख देने वाले, बाहरी, विपयजन्य सुख को त्याग देता है वह अपनी आत्मा मे स्थित, अविनश्वर तथा उपमा रहित तथा पवित्र सुख को प्राप्त करता है।

जेतश्री ! यदि तुम सच्चा सुख चाहती हो, यदि दुःखों से मुक्त होना चाहती हो, यदि तुम दुर्लभ मानवभव को सफल बनाना

चाहती हो और जन्म-मरण आदि के विविध कष्टों से पीड़ित संसार सागर से पार उतरना चाहती हो तो सोचो, विचार करो अपनी दृष्टि को अन्तमु ख वनाओ। वाहरी दृष्टि को बन्द करो। धर्म ही तुम्हारा आधार होना चाहिए, धर्म ही तुम्हारा प्राण होना चाहिए, धर्म ही तुम्हारा ध्येय होना चाहिए, धर्म ही तुम्हारे स्नेह का केन्द्र होना चाहिए। स्मरण रक्खो, ससार का कोई भी नाते-दार किसी की रक्षा नहीं कर सकता। कोई किसी को दुःख से नहीं बचा सकता। सभी अपने-अपने दुःख से दुःखी है। जो अपना दुःख दूर नहीं कर सकता वह दूसरे का दुःख कैसे दूर करेगा? अतएव अपने पैरों पर खड़ी होओ। परसुख-पेक्षी न बनो। आत्मा में अनन्त शक्ति है। कर्मों ने उसे छिपा रखा है। अपनी दृष्टि अपने में ही जमाओ। भीतर की ओर देखो—अनन्त शक्तियों का असीम सागर तुम्हारे भीतर लहरा रहा है। उन शक्तियों का सदुपयोग करो। उन्हें प्रकाश में लाओ! उन पर जो मलीनता चढ़ गई है उसे तप की अग्नि के द्वारा, आत्मज्ञान के मजन द्वारा साफ कर दो। फिर देखना, तुम्हारा आत्मा एकदम चमक उठेगा। उसमें अनन्त प्रकाश की अभिव्यक्ति हो जायेगी। वह प्रकाश आत्मा का प्रकाश है।

जम्बूकुमार ने अपनी आठवीं पत्नि जेतश्री के सामने वैरा-ग्य रस का झरना वहा दिया। उसकी शीतलता का जेतश्री के हृदय पर वड़ा तीव्र प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त जम्बूकुमार की प्रवल युक्तियों ने उसके कथन के खण्ड-खण्ड कर दिये। अव जेतश्री के पास कुछ भी कहने योग्य वात नहीं रह गई थी। वह सर्वथा निरुत्तर हो गई। चुपचाप अपनी सहेलियों में जा मिली।

इस प्रकार आठों स्त्रियों ने अपना-अपना वल पूरी तरह आजमा लिया फिर भी जम्बूकुमार को अपने पथ से विचलित करने में वह असमर्थ रहीं ! यद्यपि पहले जैसा प्रगाढ़ मोह उनके हृदय में भी नहीं रह गया था फिर भी मोह का सर्वथा उपशम भी नहीं हुआ था। अतएव आठों स्त्रियों मिलकर आपस में विचार-विनिमय करने लगीं।

एक ने कहा—बहिनों ! हम लोगों ने जो आशा बांधी थी वह स्वामी के दृढ़ निश्चय रूप चट्टान से टकराकर छिन्न भिन्न हो गई है। अव आशा की एक भी किरण किसी ओर से फूटती नजर नहीं आती। हम सव निराशा के घोर अन्धकार में पड़ गई है। भला हमने किस वात में कमी रक्खी है ? हाथ जोड़े पैर छुए, चरणों पर गिरीं, सब कुछ किया। हा-हा खाई, निहोरे किये, आंखों में से आंसुओं के झरने वहाए। मानवीय शक्ति की वदौलत जो कुछ किया जा सकता था, सव करके हम हार गई है पर प्राणनाथ सुमेरु की भांति अचल है। जैसे तीव्र से तीव्र आंधी या तूफान पर्वत पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालते। उसी प्रकार हमारे हाव-भाव भी स्वामी पर प्रभाव नहीं डालते। यही नहीं, इतना सव कुछ करने पर भी स्वामी ने हमारी ओर स्नेह की दृष्टि से एक वार देखा तक नहीं। हमारा सौन्दर्य संसार की किसी भी सुन्दरी से टक्कर ले सकता है पर स्वामी के लिए मानों वह तुच्छ है। काल्पनिक के स्वर्ग मे उन्होने वास्तविकता को न्योछावर कर दिया है।

दूसरी ने कहा—तुम ठीक कह रही हो बहिन, प्राणनाथ का मन पाषण की भांति हो रहा है। जो वैषयिक वातों की घनघोर वर्षा होने पर भी नहीं भीगता है मेरी समझ में तो हमारे प्रयत्नों की सीमा हो चुकी है। अव उन्हें आकृष्ट करने का मुझे तो कोई उपाय नहीं दीखता।

तीसरी ने कहा—वात तुम्हारी ठीक है, पर हम सव मिलकर यदि एक बार और प्रयत्न करके देखलें तो क्या हानि है? लोक में कहावत है—'जब तक श्वास तव तक आश'। हमें अन्तिम समय तक प्रयत्न करना चाहिए। फिर जो होगा देखा जायगा।

चौथी पत्नी बोली—देखा क्या जायगा? कदाचित् स्वामी अपने पथ पर अड़े रहे तो हमें क्या करना होगा, यह अभी से निश्चय कर लेना चाहिए। मेरी समझ में तो हमारे सामने एक ही मार्ग रह जायगा। और वह यही कि हमें भी सच्ची आर्य ललनाओं की भांति अपने पति का अनुसरण करना चाहिए। स्वामी दीक्षा ग्रहण करके तपस्या करेंगे, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास का कष्ट उठाएंगे पैदल भ्रमण करेंगे, रुखा-सूखा आहार करेंगे, तव हम लोग क्या हवेली में वैठकर सुख से रह सकेंगी! कदापि नहीं। हमें भी साध्वी वनकर आत्म-कल्याण करने में कटिवद्ध हो जाना चाहिए। प्राणनाथ के विना यह विशाल प्रसाद कठोर काल कोठरी के समान हैं भोगोपभोग की सामग्री काले सांप के समान है, संसार का समस्त ऐश्वर्य तुच्छ है। वह सुख के बदले दुःख ही दे सकता है। जव हमारा सर्वस्व, हमारा सौभाग्य, हमारा हृदय ही हमारे पास नहीं तव हम यहां किस प्रकार रह सकेंगी?

चौथी पत्नी की यह बात सभी को पसन्द आई। सचमुच आर्य जाति की स्त्रियां पति के बिना सुखी नहीं रह सकतीं। उनका मक्खन के समान मृदुल हृदय यह नहीं देख सकता कि उनका पति कष्टमय जीवन व्यतीत करे और वे घर में बैठकर चैन की गुड्डी उड़ावें। वे अर्द्धाङ्गिनी कहलाती है और इस महिमामय पदवी के योग्य उनका व्यवहार होता है। वे पति के सुख को अपना सुख समझती हैं और पति के दुःख को अपना ही दुःख मानती है। दाम्पत्य जीवन के प्रेम का यही सच्चा स्वरूप है।

इस प्रकार स्त्रियों ने मिलकर एक निर्णय कर लिया। इसके पश्चात् सब मिलकर फिर जम्बूकुमार के पास आई और उन्हे अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करने लगी।

किसी ने कहा—प्राणनाथ! हम सबने आपके सामने कितनी प्रार्थनाएं की है? कितना अनुनय-विनय किया है? परन्तु आपने उस पर तनिक भी ध्यान नही दिया। आपने हमारे ऊपर जरा-सी भी दया दिखाने की दया न की! क्या आप स्त्रियों के हृदय की कोमलता को नहीं समझते? आप पुरुष है, आपके पास पुरुष का वज्र-हृदय है, फिर आप हम स्त्रियों के हृदय की कल्पना ही कैसे कर सकते हैं? कदाचित आप स्त्री होते तो आप देखते कि इस समय हमारी क्या दुर्दशा हो रही है। हमारे हृदय में घोर वेदना हो रही है। सन्ताप की अग्नि हमको भस्म किये डालती है। निराशा के कीचड़ में फस कर हमारे प्राण पखेरू अनन्त आकाश में उड़ जाने को तैयार हो रहे हैं। नाथ! आप हमारे जीवन है। जीवन न रहने पर यह शरीर किस काम का है? हमारा यह

सौन्दर्य, हमारा यह सिंगार आपके बिना ठीक ऐसा ही है जैसे मुर्दे का सिंगार ! अतएव कृपानिधान, हमारे ऊपर थोड़ी-सी कृपा कीजिए। संसार भर की कठोरता बटोर कर हमारे लिए ही क्या उसका संचय किया है ?

प्राणाधार ! हम जानती हैं कि आपको मुक्ति ललना ने भरमा लिया है और इसीलिए आप हमें तुच्छ समझ कर परित्याग कर रहे हैं, फिर भी यदि एक बार ही आप हमारी ओर अनुराग भरी नजर से देख लें तो आपका क्या बिगड़ जायगा ? क्या मुक्ति वधू इतना करने से ही रूठ जायगी ? फिर वह आपका वरण न करेगी ? वह तो ईर्षालु नहीं है। तब क्यों नहीं :आप एक बार हमारी ओर देख कर मुस्करा देते ? सच समझिए, आपकी एक मुस्कराहट से ही हम निहाल हो जाएंगी। एक ही मुस्कराहट से हम अपने को धन्य और भाग्यशालिनी समझ लेंगी।

आपके मन में हार जीत का प्रश्न तो नहीं उठ खड़ा है ? आप यह तो नही सोचते कि यदि मैं इनका कहा मान लूंगा तो मैं हार जाऊंगा और यह जीत जाएंगी ? यदि ऐसा हो तो इस भाव को अपने हृदय से निकाल दीजिए हम जब आपके पैरों में गिर रही हैं तब हार-जीत का प्रश्न ही कहां है ? इसके अतिरिक्त, आपको हरा कर हमें जीत मिले भी तो उस जीत का हमारे आगे क्या मूल्य है।

जम्बूकुमार अपनी पूर्ववत स्थिरता की रक्षा करते हुए बोले—भद्र महिलाओं ! बड़े खेद की बात है कि तुमने मेरे कथन को ध्यान से नहीं सुना। यदि सुना भी हो तो उस पर गम्भीर विचार नहीं किया। यदि गम्भीर विचार किया होता तो तुम इस

प्रकार की प्रार्थना कदापि न करती। मैं कह चुका हूँ कि भोग भुजंग के समान हैं। क्या कोई एक बार भी भुजग से कटवाने की अभिलाषा करता है ? देखो, सोचो, भोगोपभोगों के स्वरूप को पहचानो। अनादि काल से भोग भोगने पर भी जब तुम्हारी आत्मा अब तक अतृप्त है और फिर भी एक बार भोग भोगने की प्रेरणा कर रही है, तब क्या वह भोग भोगने से कभी संतुष्ट हो सकेगी ? आग कभी ईंधन डालने से नहीं बुझती। ईंधन डालने से वह और अधिक भड़कती है। इसी प्रकार भोगों को भोगने से भोग-अभिलाषा अधिक उग्र होती जाती है। जब यह सत्य है तो तुम तृप्ति के लिए विपरीत आचरण करने पर क्यों उतारू हो रही हो ? आग को बुझा देने का ;सीधा-सादा उपाय यही है कि उसमें ईंधन मत डालो। ऐसा करने से आग बुझ जायगी। इसी प्रकार भोगों की अभिलाषा को शान्त करने के लिए उचित उपाय यही है कि भोग भोगने का त्याग कर दो, भोगों से सर्वथा विमुख हो जाओ। तृप्ति के इस उचित उपाय को छोड़ कर तुम क्यों उल्टे मार्ग पर चलना चाहती हो ? अनादि काल से अब तक तुमने कितने भोग भोगे हैं ? असंख्य बार स्वर्ग प्राप्त कर दिव्य भोग भोगे, असंख्य बार मनुष्यगति में राजा-महाराजा और सम्राट बनकर उत्तमोत्तम समझे जाने वाले विषयों का आस्वादन किया, फिर भी आज ज्यों की त्यों भूख बनी हुई है! निश्चय समझो कि कामनाएं कभी अनुसरण करने से तृप्त नहीं होती। अपनी परछाई को पकड़ने के लिए तुम चाहे जितनी तेजी से दौड़ो, चाहे जितनी देर तक, चाहे जितनी दूर तक भागो, फिर भी यह पकड़ में नहीं आती। ज्यों-ज्यों तुम पीछे दौड़ोगी वह त्यों-त्यों आगे बढ़ती

जायेगी। अन्त में तुम्हें हार माननी पड़ेगी। तुम्हें थककर वापस लौटना पड़ेगा। जब तुम वापस लौटोगी तो उससे विमुख हो जाओगी, उसकी ओर से पीठ फेर लोगी, तभी वह तुम्हारे पीछे पीछे लौटने लगेगी। यही दशा कामनाओं की है। जब तक तुम कामनाओं के पीछे भागती जाओगी, तब तक कामनाएं और-और आगे बढ़ती जाएंगी। तुम उन्हें कभी पकड़ न सकोगी। उन्हें तृप्त करने का उपाय एक ही है तुम उनकी ओर से विमुख हो जाओ। उनकी तरफ से पीठ फेर लो। बस, उसी समय कामनाएं पुम्हारे बस में हो जाएंगी। अतएव यदि तुम तृप्ति चाहती हो तो अतृप्ति बढ़ाने का काम न करो। यदि जीवन चाहती हो तो विप का पान न करो। अमृत पीना हो तो सांप से बचो।

कल्याण का यही-एक मात्र उपाय है, सुख का बस यही एक कारण है, हित का एक ही यह साधन है, और वही मैं तुमसे कह रहा हूँ। जरा अन्तरग को स्वच्छ करके सोचो। मोह रूपी पिशाची से छुटकारा पाओ। दुनिया की ओर से अपनी दृष्टि हटाओ नेत्रों को आत्मा की ओर ले जाओ। स्वानुभव करो अपने को निहारो। आत्मा में स्वाभाव से रहे हुए आनन्द को पहचानो। वह आनन्द अनिर्वचनीय है। शब्दों में उसे पूर्ण रूप से व्यक्त करने की शक्ति नहीं है। वह आनन्द असीम है—उसका कहीं अन्त नहीं है उसमें दुःख लेश मात्र भी मिश्रित नहीं है! वह स्वाधीन है। इन्द्रियों या भोगोपभोग की सामग्री की उसे आवश्यकता नहीं है जिससे कि भोगोपभोग की सामग्री की उपस्थिति में वह प्रकट हो जाय और उस सामग्री का विनाश होने पर सुख का भी विनाश हो जाय। इसी कारण आत्मिक आनन्द अनन्त

हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता। अतएव ऐसे परिपूर्ण और परमोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति के लिए क्यों प्रयत्न नहीं करना चाहिए ? मैं उसी सुख की खोज में जा रहा हूँ। तुम्हारा कोई भी प्रयत्न अब सफल न हो सकेगा।

स्त्रियां कहने लगीं—प्राणनाथ ! आपका शरीर अत्यन्त सुकुमार है और संयम की साधना बड़ी कठोर है। आपके दांत मोम के समान है और सयम लोहे के चने के समान है। आपके लिए यह चने चबाना सम्भव नहीं है। मक्खन के समान आपका कोमल शरीर है। इस शरीर से आप परीषहों और उपसर्गों को किस प्रकार सह सकेंगे ? यहां आपके लिए फूलों की सेज प्रस्तुत रहती है, वहां आपको कंकरीली जमीन पर सोना पड़ेगा। ग्रीष्म ऋतु में यहां आप खसखस की टट्टियों में भी बेचैन रहते है तब वहां कड़ी धूप और आग की लपट के समान उष्ण लू में किस प्रकार विहार करेंगे ? वह विहार भी किसी सवारी पर बैठ कर नहीं वरन् पैदल चल कर करना होगा। पैदल चलना भी बिना जूतों का, बिना छतरी का और धीरे-धीरे ! क्या आप यह सब बर्दास्त कर लेंगे ? सर्दी के दिनों में यहां रुईदार रजाई और उत्तम शाल-दुशाले का उपयोग करते है, वहां मैले-कुचैले चादर ही काम में लाने होंगे। और वह भी अधिक से अधिक तीन चादर रख पाएगे। यहां सुन्दर महलों मे आप निवास करते हैं, वहां टूटी फूटी झौपड़ी मिलेगी और कभी वह भी नहीं मिलेगी तो पेड़ के नीचे ही रात बितानी पड़ेगी। यहां शरीर में लगाने के लिए सुगन्धयुक्त चन्दन का आप उपयोग करते है वहां कभी स्नान भी नहीं कर पाएंगे। शरीर मैल और पसीने से दुर्गन्ध मारने

लगेगा। यहां सुवर्णमय पात्रों में भोजन करते हैं, वहां तूम्बी, लकड़ी या मिट्टी के पात्र काम में लाने पड़ेंगे। यहां आपके इशारों पर नाचने वाले सैंकड़ों दास हैं वहां आपको बड़े साधुओं की सेवा करनी पड़ेगी।

इन सब कष्टों के सिवाय और भी सैंकड़ों कष्ट साधु अवस्था में भुगतने पड़ेंगे। यहां आप स्वतन्त्र होकर रह सकते हैं वहां गुरु महाराज की आज्ञा के आधीन होकर रहना पड़ेगा। यहां मनसाने भोजन मिलते हैं वहां बचा-खुचा, रूखा-सूखा भोजन मिलेगा और वह भी भीख मांग कर लाना पड़ेगा। अनेक घरों भोजन के लिए भटकना पड़ेगा। सब प्रकार का भोजन स्वाद की अपेक्षा किये बिना ही खाना होगा।

प्राणनाथ! यह न समझिये कि दो-चार दिन या पांच सात वर्ष में ही इन सब कष्टों से आप मुक्त हो जाएंगे। यह कष्ट तो जीवन भर भुगतने पड़ेंगे। फिर इच्छा न होते हुए, मन में पश्चात्ताप करते हुए भी इन विपत्तियों को सहना होगा। एक बार दीक्षा ग्रहण करने पर फिर बाजी हाथ से चली जाती है। बाद में अपनी इच्छा कुछ भी काम नहीं आ सकती। अतएव अगली—पिछली खूब सोच लीजिए। अभी सोचा हुआ काम आ सकता है। बिना सोच-विचार किये, भावुकता के वश होकर उतावल में कोई कदम बढ़ा देना उचित नहीं है। जो लोग आवेश में आकर सहसा कोई काम कर बैठते हैं, वे लोक-हंसाई के पात्र होते हैं।

नाथ! आपके ऊपर हमारा हार्दिक स्नेह है। इस स्नेह से प्रेरित होकर ही, आपकी भलाई की बात कहने की धृष्टता

की है। आशा है आप हमारी धृष्टता को क्षमा करेंगे और इस नीति का अनुसरण करेंगे कि—

बालादपि हितं ग्राह्यम्।

अर्थात् यदि नादान बालक भी-कोई हित की बात कहे तो बालक समझकर उसकी बात पर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसकी बात को उचित और हितकारी समझ कर ग्रहण कर लेना चाहिए। कृपा कर आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें, दीक्षा लेनी हो तो भले ही लें, पर थोड़े दिनों तक इन सब बातों पर भली-भांति विचार कर लें। क्योंकि—

अविचारः परमापदां पदम्।

अर्थात् अविचार अनेक आपत्तियों का स्थान है। विना विचारे किया हुआ काम सफल नहीं होता और पीछे पछताना पड़ता है। तीर को हाथ से छोड़ देने के बाद उस पर कुछ भी वश नहीं रहता। अतएव पहले ही पूरा विचार करके तीर छोड़ना चाहिए। एक कवि ने कहा है:—

विना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय।
काम विगारे आपनो, जग में होत हंसाय॥

एक बात और कहनी है। जिस नदी में जल्दी पूर आ जाता है वह जल्दी सूख भी जाती है। आप श्रीसुधर्मा स्वामी का एक व्याख्यान सुनकर ही इतने अधिक और इतने जल्दी प्रभावित हो गये है कि सहसा संसार त्यागने पर उतारू हो गये है। कहीं किसी दूसरे का व्याख्यान सुनकर फिर आपकी मनोवृत्ति बदल गई तो क्या होगा? क्षणिक विचारों के सहारे जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। जो व्यक्ति

हृदय की तरंगों में वह जाता है वह स्थिरता के अभाव में अपना अहित करता है।

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—तुम मेरे प्रति जो सद्भावना प्रकट कर रही हो उसके लिए मैं आभारी हूँ। परन्तु तुम्हारा भय-प्रदर्शन व्यक्त है। सांसारिक शुख और दुःख अपने मन की कल्पना पर वहुत कुछ आश्रित हैं। भोजन न मिलने पर एक मनुष्य अत्यन्त असाता का वेदन करता है, हाय हाय करता है, क्रन्दन करता है और भोजन की अप्राप्ति को परम दुःख रूप मान-कर वर्त्तमान में दुःख अनुभव करने के साथ-साथ आगे के लिए भी अशुभ कर्म का वन्ध करके दुःख के बीज बो लेता है। दूसरा व्यक्ति भोजन का अलाभ होने पर भी संतुष्ट रहता है। वह इस प्रकार सोचता है—मैंने पहले अन्तराय कर्म का वध किया था। वह कर्म अब तक सत्ता रूप में विद्यमान था। अब उसका आबाधा काल समाप्त हो गया है। अतएव उसका उदय आया है। अब तक मुझपर इस कर्म का जो भार था आज उसका फल भोगने से वह भार उतर गया है। किसी का ऋण चुका देने पर ऋणी को प्रसन्नता होती है उसी प्रकार कर्मों का ऋण चुकाने पर मुझे भी प्रसन्न होना चाहिए। इसमें शोक करने का क्या प्रयोजन है? भोजन न मिलने से एक लाभ और मुझे हुआ है। मेरे अनायास ही तपस्या हो गई है और इसके कर्मों की निर्जरा होगी। ऐसी अवस्था में आर्त्तध्यान करना विवेकशील पुरुष के लिए उचित नहीं है। मुझे तो इस अवस्था में जरा भी दुःखी नहीं होना चाहिए।'

एक ही घटना में, एक ही परिस्थिति में विवेकी और अवि-

वेकी पुरुष की भावना में कितना अन्तर होता है यह समझने के लिए ऊपर भोजन का उदाहरण दिया यगा है इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के संयोग और वियोग के समय भी अज्ञानीजन हर्ष-विषाद करके पाप कर्मों का उपार्जन करते हैं। पाप कर्म का उपार्जन करने के साथ ही वे उस घटना से सुखी होते है और दुःखी होते है अतएव अधिकांश में सुख और दुःख मनोभूमि में उत्पन्न होते रहते हैं। मुनि ऐसी घटनाओं में समता भाव धारण करते है अतएव भोजन के अलाभ में तुम जिस दुःख की कल्पना कर रही हो वह दुःख उनके पास भी नही फटकता। वह तो अपने साम्यभाव में ही मग्न रहते है। अतएव भूख-प्यास के कष्टों को वताकर मुझे पदच्युत करने का प्रयास निरर्थक है।

रही सर्दी गर्मी को सहन करने की वात सो उसमें भी यही तत्व है जिसका मैंने अभी उल्लेख किया है। सर्दी-गर्मी के कष्ट भी कर्म-निर्जरा के कारण है अतएव उनके उपस्थित होने पर मित्र की भांति उनका स्वागत करना चाहिए, उन्हें शत्रु की तरह दुरदुराना नही चाहिए। कष्ट और प्रतिकूलता मानव जीवन के विकास में अत्यन्त सहायक होते है। कष्ट सहन करने से आत्मा की शक्ति खिल उठती है। आत्मा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में अधिक सुदृढ़ हो जाता है। यदि कष्ट हमारे मार्ग में आड़े न आवे तो हमारी सारी शक्तियां दवी रहती है। राख में छिपी हुई अग्नि हवा से एकदम चमक उठती है इसी प्रकार आत्मा की छिपी हुई शक्ति विघ्नों के वात से आविर्भूत हो जाती है। इसलिए विघ्नों को, कष्टों को, प्रतिकूलताओं को मै अपने

ध्येय की पूर्ति करने का प्रबल सहायक समझता हूँ। उनके आने पर मैं प्रसन्न होऊगा। तब फिर कौन सा कष्ट मुझे पीड़ा पहुँचा सकेगा ?

साधु-अवस्था में मलीन वस्त्रों का उपयोग करना होगा और शरीर भी मलीन रहेगा, ऐसा तुम कहती हो। पर वस्त्र तो केवल शरीर की रक्षा के लिए ही होते हैं। मलिन वस्त्रों से भी यदि शरीर की रक्षा हो सकती है तब उनकी मलिनता से हमारी क्या हानि है ? और शरीर तो मलीन है ही। उसे समुद्र के सारे जल से धोया जाय। तो भी वह कभी पवित्र न होगा। अत्यन्त अशुचि पदार्थों से जिस शरीर का निर्माण हुआ है वह शुचि कैसे हो सकता है बाह्य पदार्थ शरीर के संयोग से अशुचि हो जाते हैं पर उनके संयोग से शरीर शुचि नहीं होता। हम लोग अत्यन्त स्वादु, सुगन्ध युक्त मनोज्ञ आहार बड़े चाव से, अत्यन्त लालसा से खाते हैं किन्तु शरीर के साथ संयोग होने पर उन सुगन्धित पदार्थों का स्वरूप कैसा हो जाता है ? फिर उनकी ओर कोई दृष्टि भी नहीं करना चाहता। कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो अत्यन्त ग्लानि होती है। उत्तमोत्तम भोजन इस शरीर के संयोग से मल-मूत्र बन जाता है, हाड़-मांस-रुधिर के रूप में परिणित हो जाता है।

शरीर जब स्वभाव से ही इतना अपवित्र है तब ऊपर से साफ करने पर भी क्या वह साफ हो सकेगा ? कोयला धोने पर भी जैसे कभी भी सफेद नहीं निकल सकता उसी प्रकार बाह्य शुचि से शरीर कदापि शुचि नहीं हो सकता कहा भी है—

यच्छुक्रशोणितसमुत्थमनिष्ट गन्धम्,
नानाविधक्रमिकुलाकुलितं समन्तात्।
व्याध्यादिदोष—मलसद्म विनिन्दनीयम,
तद्वारितःकथमिहच्छेति शुद्धिमङ्गम्।

अर्थात् जो शरीर रज और वीर्य से उत्पन्न है जिसमें दुर्गन्ध भरी हुई है, जो अनेक प्रकार के कीड़ों के समूह से व्याप्त है, रोगों का तथा मल का घर है, सब प्रकार से निन्दनीय है, वह शरीर क्या कभी पानी से शुद्ध हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता।

अतएव शरीर की शुद्धि की चिन्ता करना वृथा है। वह किसी भी प्रकार शुद्ध नही होगा। जो लोग शारीरिक शुद्धि को आत्मिक शुद्धि का प्रबल कारण समझते है वे अज्ञानी हैं। उन्होंने शरीर के वास्तविक रूप को समझने का प्रयत्न नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, जिसका उन्हें विचार करना चाहिए। आत्मा एक नित्य द्रव्य है वह सदा से है और सदैव रहेगा। न उसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी उसका विनाश हो सकता है। केवल विभिन्न पर्यायें उसमें निरन्तर होती रहती हैं। आत्मा कभी नरक में जाकर नारकी कहलाता है, तिर्यञ्च गति में जाकर पशु-पक्षी आदि नाम धराता है, कभी मनुष्य नाम पाता है और कभी देव गति पाता है। इस प्रकार यह जीव अनन्त-अनन्त वार प्रत्येक गति में जा चुका है। इसने अनन्त वार जहां स्वर्ग के अनुपम सुख भोगे है वहां अनन्तों बार नरक की घोर से घोर यातनाएं

भी, सहन की हैं। नरक की यातनाएं इतनी भयंकर हैं कि उनका वर्णन सुनने से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वहां यह जीव भूखा-प्यासा रहा है। नरक में नारकी जीवों को इतनी भूख लगती है कि वे सोचने लगते हैं कि यदि तीनों लोकों का सारा धान्य मिल जाय तो सारा सफा कर डालें, पर बेचारों को अन्न का एक भी कण नसीब नहीं होता। वहां की सर्दी गर्मी का फल क्या पूछना है ? एक कवि ने कहा है।

मेरु समान लोह गल जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।

अर्थात् नरक में इतनी सर्दी-गर्मी होती है कि सुमेरु की बराबर लोहे का पिंड भी गल सकता है।

इसके अतिरिक्त नारकी जीव आपस में घोर वेदनाएं एक दूसरे को उपजाते रहते हैं। शरीर के तिल के बराबर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, मगर उनका शरीर पारे की तरह फिर जुड़ जाता है। परमाधामी असुरकुमार नारकी जीवों पर असीम दुःखों की वर्षा करते हैं। नारकी जीव जब पानी मांगता है तब शीशा उकाल कर उसे पिलाते हैं। जब नारकी जीव उससे जलकर कहता है—बस करो, बस करो, मेरी प्यास बुझ गई है, तब भी असुर नहीं मानते और जबर्दस्ती उसका मुंह फाड़ कर उसमें उकलता हुआ शीशा उड़ेल देते हैं। ऐसी वेदनाएं नारकी जीवों को कभी-कभी नहीं निरन्तर भुगतनी पड़ती है।

महिलाओं, यह मत समझो कि नारकी जीव हम से सर्वथा भिन्न कोई और ही हैं। हम सभी लोग अनन्त बार नारकी बन चुके हैं, अनन्त बार ऐसी वेदनाएं अनुभव कर चुके हैं। इन

वेदनाओं के सामने संयम-जीवन के उपसर्ग और परीषह किस गणना में हैं ? जब इस आत्मा ने अनन्त बार नरक की यातनाएं सहन करली तब एकबार भी क्या संयम-जीवन के साधारण कष्टों को न सह सकेगी ? और वे कष्ट भी हितकारी है, सुखकारी हैं, परिणाम में अक्षय कल्याण करने वाले हैं।

इसी प्रकार निगोद अवस्था के कष्टों को भी आत्मा ने सहन किया है। निगोद अवस्था भी अत्यन्त दुःखदायक अवस्था है। उस अवस्था में जीव एक समय में साढ़े सत्तरह बार जन्म-मरण करता है। जन्म-मरण के कष्ट कितने प्रबल है यह तो भुक्त भोगी ही जानते है। तथापि उसकी साधारण कल्पना आ जाए, इस हेतु से एक उदाहरण द्वारा उस महान् वेदना का वर्णन किया जाता है:—

सात दिन के जन्मे हुए बालक के रोम-रोम में साल की सुइयां चुभा दी जाएं ओर उस बालक को इसी अवस्था में एक ऐसे मार्ग में पटक दिया जाय जहां से निरन्तर घोड़े गाड़ी-तांगे आदि वाहन निकलते रहते हों। उन वाहनों की टक्करें खा-खा कर वह बालक इधर से उधर और उधर से इधर लुड़कता फिरे। जरा सोचो कि उस अवस्था में उस बालक को कितना कष्ट होता होगा ? बालक के इस भयंकर कष्ट से भी आठ गुना अधिक कष्ट इस जीव को गर्भ—अवस्था में सहन करना पड़ता है। पर गर्भ—अवस्था के दुःख से जन्मते समय का दुःख अत्याधिक है और वह उस से करोड़ गुणा है। मृत्यु के समय होने वाले कष्ट की बात ही न पूछिए। वह तो जन्म-कालीन दुःख से भी करोड़

गुणा अधिक होता है। इतने भयंकर दुःख वाले जन्म मरण निगोदिया जीव को साढ़े सत्तर बार एक नाड़ी का ठपका होने जितने ही समय में करने पड़ते हैं। और ऐसी व्यथा इस जीव ने न जाने कितनी वार भुगतती हैं ? अब तुम्हीं वताओ, इन दुःखों के आगे संयम के कष्ट किस गिनती में हैं। जो आत्मा नरकनिगोद की इन पीड़ाओं को सहन कर सकता है उससे संयमजीवन के उपसर्ग क्यों नहीं सहे जा सकते ?

संयम-जीवन में एकान्त दुःख ही नहीं है। उस उच्च जीवन में ऐसे सुख भी हैं जो संसार-अवस्था में प्राप्त नहीं हो सकते। विषय-भोगों की कामना का त्याग कर देने से एक प्रकार का अनिर्वचनीय आत्मिक आनन्द उद्भूत है। उस आनन्द-रस का आस्वादन करने पर फिर उसका परित्याग करना हो जाता है। उस जीवन में अपूर्व निराकुलता है, अपूर्व शान्ति है, अपूर्व रस है, अपूर्व आत्मानन्द है अनिर्वचनीय संतोष है ! भला ऐसी सुखमय अवस्था से कौन मुमुक्षु भयभीत होगा ? सच्चे आत्मकल्याण की अभिलाषा करने वाले के लिए तुम्हारी खड़ी हुई विभिषिका क्रीड़ा मात्र है। कायरों को वह दुःखदायक भले ही मालूम हो पर नरवीर पुरुष उसे सुख रूप मानते हैं।

प्रिये ! इन तुच्छ विषय भोगों के लिए यह दुर्लभ मानव भव वृथा न खोओ। यह अवसर वहुत समय के अनन्तर, तीव्रतर पुण्य के उदय से हाथ आया है। इसे खो देने से फिर चिरकाल तक पश्चात्ताप की अग्नि में जलना पड़ेगा।

ठीक ही कहा है:—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्त्वम्,
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखता देहिनां स्यात् ।
इति हत विषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं,
यदि भवमृति मुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वाञ्छा ॥

अर्थात् यदि किसी भी प्रकार तुच्छ कामभोगों में फंस कर मनुष्य जन्म को समाप्त कर दिया तो फिर मानव-भव की प्राप्ति होना अत्यन्त ही कठिन है। अतएव इस अचूक अवसर को पाकर विषयों की कामना का त्याग करो और धर्म कृत्य करने में प्रयत्नशील बनो। यदि तुम जन्म-मरण से रहित मुक्ति का सुख पाना चाहते हो।

प्रिये! अतएव मेरा कहना मानो। तुम स्वयं कहती थी कि आर्य ललनाएं अपने पति का अनुसरण करती हैं। तब तुम्हें मेरा अनुसरण करना चाहिए। पर यह समझ करके नहीं कि मैं दीक्षा लेता हूँ इसीलिए तुम्हें दीक्षा लेनी चाहिए। दीक्षा को ही वास्तविक सुख का साधन समझ करके, भोगों को भयंकर भुजंग समझ करके, अनन्त आत्मिक आनन्द को प्राप्त करने के हेतु, जन्म-जरा-मरण के दुःखों से मुक्त होने के उद्देश्य से, तुम्हें दीक्षित होकर धर्म-साधन में तत्पर होना चाहिए। धर्म के सिवाय संसार में और कोई समर्थ नहीं है। धर्म ही आराध्य है। धर्म ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए। हमारा जीवन केवल धर्म की ही आराधना के लिए होना चाहिए। हमारे प्रत्येक व्यवहार में धर्म का ही लक्ष्य होना चाहिए। यदि हम सम्पूर्ण दृढ़ता के साथ धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म भी संसार के भीषण

दुःखों से हमारी रक्षा करेगा। अतः ऐसा प्रयत्न करो कि फिर से जन्म-मरण का प्रसंग उपस्थित न हो और यह जन्म ही हमारा अन्तिम जन्म हो।

जम्बूकुमार के उद्बोधन में इतना प्रभाव था कि उनकी पत्नियां उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थीं। अतएव जैसा होना स्वाभाविक था वही हुआ। जम्बूकुमार के वैराग्यमय उपदेश का उनके हृदय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनके उपदेश रूपी सूर्य से उनकी पत्नियों के हृदय में घुसा हुआ मोह रूपी अन्धकार विनष्ट हो गया। जम्बूकुमार के हृदय-निर्झर से जो धर्मामृत से परिपूर्ण धारा प्रवाहित हुई उसमें स्नान करके उनकी पत्नियों का पाप-पंक धुल गया। अब आठों पत्नियां उच्च भावनाओं के स्वर्ग में बिहार करने लगी। उनके आन्तरिक नेत्रों पर अब तक मोह का जो पर्दा पड़ा हुआ था, वह दूर हो गया। उनके सामने एक नूतन प्रकाश चमकने लगा। हृदय में प्रकार का अभूतपूर्व आह्लाद उदित हो गया। वे विरक्ति की गोदी में क्रीड़ा करने लगीं।

उन आठों में जो उम्र में सबसे बड़ी थी वह इस प्रकार कहने लगी—प्राणनाथ! आप धन्य हैं। आपका निश्चय धन्य है। आपका जीवन धन्य है। आपके विचार धन्य है। आप संसार—सागर से स्वयं तिरने वाले है और दूसरों के तारने वाले हैं। स्वामिन! आपके सत्संग से हम पापिनियों का भी उद्धार हो गया है। हम मोह के जाल में जकड़ी हुई थीं। मोह-पिशाच ने हमें उन्मत्त बना दिया था। हमारा हेयोपादेय का विवेक मलीन हो रहा था। विपयों की वासना ने हमारे हृदयों में घोर अज्ञान—

अन्धकार का साम्राज्य फैल रखा था। हम अपने कर्त्तव्य को, अपने कल्याणपथ को और मानव-जीवन के असली मूल्य को समझने में असमर्थ थीं। अमृत को छोड़कर विष ग्रहण करना चाहती थीं। सुख की अभिलाषा से दुःखों के दुर्गम मार्ग पर आगे बढ़ी चली जा रही थीं। नाथ ! आपने हमें बचा लिया है। आपने हमें आज नया आलोक दिखाया है। नरक के बदले स्वर्ग प्रदान करने वाले आप ही हैं। संसार-सागर में हमारी नया डूब रही थी। आपने उसे आज सकुशल तट पर पहुँचा दिया है।

पाणिग्रहण करते समय आपने हमारी रक्षा का वचन दिया था। अब हमारी समझ में आ रहा है कि आपने उस वचन का भलिभांति पालन किया है। यदि आप हमारी प्रेरणा को स्वीकार कर लेते तो उससे हमारी सच्ची रक्षा नहीं हो सकती थी सच्ची रक्षा का मार्ग एकमात्र धर्म का आराधन है और आपने वही मार्ग बताकर हमारी रक्षा की है।

जीवनाधार ! हमने जोश में आकर, तुच्छ और जघन्य स्वार्थ से प्रेरित होकर बहुत-सी अकथनीय बातें आपसे कह दीं हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप क्षमा के सागर है, अतएव उस उद्दण्डता के लिए अवश्य क्षमा करेंगे। प्रभो ! आप जैसे स्वामी को पाकर हम कृतार्थ हुई है हमारा जीवन भी आज धन्य हो गया है। हम सब आपका अनुसरण करने में ही अब अपना सच्चा कल्याण समझती हैं। सुख का एक मात्र यही उपाय है। अतएव अब विलम्ब न कीजिए। संयम धारण करने की तैयारी कीजिए। आपकी यह दासियां भी इस मंगलमय कृत्य के लिए सर्वथा प्रस्तुत है।

जम्बूकुमार के परिवार के लिए आज का प्रभात अत्यन्त महत्व का था। अतएव प्रभात होते ही उनके माता-पिता, अन्य दिनों की अपेक्षा जल्दी उठे। वास्तव में आज रात भर उन्हें सुख की नींद नहीं आई थी। उनका एक मात्र पुत्र जम्बूकुमार आज सुर्योदय होते ही गृहस्थ त्याग कर संयम धारण करेगा, इसी विचार में उन्होंने रात्रि व्यतीत की थी। उन्हें एक प्रकार की निराश सता रही थी। निराशा में कुछ आशा थी तो यही कि शायद नवागत वधुएं जम्बूकुमार के चित्त को ससार की ओर आकृष्ट कर लें। अतएव वे आज जल्दी बिछौने से उठे और उठते ही जम्बूकुमार के शयनागार की ओर बढ़े। पर वहां जाकर उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनका दिल बैठ-सा गया। जम्मूकुमार की सुख-मुद्रा पर वही वैराग्य खेल रहा है। वही शान्त और गम्भीर चेहरा है। उसमें सांसारिक अनुराग के लिए कहीं कोई अवकाश नहीं नजर आता। उन्हें यह निश्चय करने में जरा भी विलम्ब न लगा कि जम्बूकुमार अपने निश्चय पर दृढ़ हैं। वधुओं की करामात ने उनके हृदय पर जरा भी प्रभाव नहीं डाला है। उनके सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुए।

इसके पश्चात् जम्बूकुमार के पिता बोले—बेटा! उठो हाथ-मुंह धोओ। नित्य कृत्य कृत्यों से निवटों। नौकर-चाकर सोने की झारी लेकर खड़े हैं। स्नान आदि करो। वस्त्र पहनों। उसके बाद बाजार चलकर वाणिज्य-कर्म में मेरा हाथ वंटना।

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—पिताजी, मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है। इसी कारण संयम धारण करने में मुझे इतना विलम्ब लगा है। मैं व्यापार करने के लिए उद्यत हूँ परन्तु इस

वार ऐसा व्यापार करना चाहता हूँ जिससे अन्त में टोटा न पड़े। सांसरिक व्यापार में अनादि काल से लगा रहा फिर भी अभी तक परम-अर्थ की प्राप्ति नही हुई। सांसारिक व्यापार से जड़ अर्थ की प्रप्ति हो सकती है पर उससे आत्मा का किंचित् भी लाभ नहीं होता। इस जीवन में ऐसा व्यापार करूंगा कि उससे परम—अर्थ की अर्थात् आत्मिक धन की प्राप्ति होगी। सांसारिक व्यापार से उपार्जन किया हुआ अर्थ अन्त में नष्ट हो जाता है और नाश के समय तीव्र संताप दे जाता है। इतना ही नहीं उस अर्थ की वदोलत भविष्य में अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। आप ही सोचिए ऐसे अनर्थ के मूल अर्थ का उपार्जन करने में इस श्रेष्ठ मानव-जीवन की पूंजी क्यों लगाई जाय ? तुच्छ व्यापार और विनाशशील अर्थ के लिए इस उत्तम पूंजी को लगाना विवेकशीलता नहीं है। इससे तो ऐसे अर्थ का उपार्जन करना चाहिये जो सदा अपने पास रहे, जो नाश का पात्र न हो और जिसके कारण भविष्य में अनर्थ—परम्परा न भुगतनी पड़े। मै ऐसे ही अर्थ —परमार्थ—के उपार्जन करने को उद्यत हो चुका हूँ। आपकी आज्ञा भी मुझे प्राप्त को चुकी है।

पिताजी, अनादि काल से सांसारिक व्यापार करते—करते इस जीवन ने नाना गतियों में अपनी दुर्दशा कराई है। चौरासी लाख योनियों के चक्कर न मालूम कितनी वार काटे है। इस व्यापार से अभी तक कार्य की सिद्धि नहीं हुई। अतएव फिर व्यापर करने की आवश्यकता पड़ रही है। यह तो 'अधे पीसें कुत्ते खाएं' वाली कहावत को चरितार्थ करता है। अतएव अब इससे छुटकारा पाना चाहिए।

तात ! जगत् में धर्म ही सार है। धर्म ही परमार्थ है। धर्म से समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग और मोक्ष के सुख धर्म के बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। कहा भी है:—

यदि नरकनियास्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट
स्त्रि दशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं,
किमपरमभिद्ये यं नाम धर्म विद्यताम् ॥

भावार्थ—यदि तुम नकर में गिरने से वचाना चाहते हो और यदि इन्द्र की महान् ऋद्धि को प्राप्त करने की इच्छा है, इसके अतिरिक्त यदि अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा रखते हो तो धर्म की साधना करो। धर्म के सिवाय अन्य वस्तु मोक्ष प्रदान करने में समर्थ नहीं है।

पिताजी ! श्रीसुधर्मा स्वामी ने कहा है और यह अनुभव से भी सिद्ध हो सकता है कि संसार के सब संबंध क्षणिक है और स्वार्थ से प्रेरित हैं। हरे-भरे वृक्ष पर पक्षी आकर बसेरा लेते हैं, उस पर चह-चहाते हैं और उसे मुखरित कर देते है पर जब वृक्ष सूख जाता है। तब पक्षी उसे बिलकुल त्याग देते हैं। ठीक यही अवस्था संसार के सब प्राणियों की है। यहां सर्वत्र नेह का पसारा है। सर्वत्र कल्पनाओं का स्वच्छद राज्य है। वास्तविकता का कहीं नाम-निशान नहीं है। अतएव सारा संसार सार शून्य प्रतीत होता है। इसमें मुझे अणुमात्र भी अनुराग नहीं रह गया है। संसार के वास्तविक स्वरूप को मैंने अच्छी तरह समझ लिया है, खूब देख लिया है, फिर मैं इसमें किस प्रकार रह सकता हूँ ? जो सच्चा जौहरी है, रत्नों का कुशल परीक्षक है, वह जान-बूझकर सच्चे रत्नों को छोड़कर झूठे रत्न क्यों लेगा ?

पिताजी ! यदि मानव जीवन रूप यह अवसर वारम्वार मिलता होता तो लापरवाही भी की जा सकती थी पर यह तो वड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। जब तीव्र पुण्य के उदय से वह प्राप्त हो गया है तब इसे वृथा खो देना कहां तक उचित है ? जैसे कौवा उड़ाने के लिए वहूमूल्य रत्न को फैंक देना अविवेक है उसी प्रकार सांसारिक विषयों के लिए मानव भव गंवा देना भी भयंकर अविवेक है। यह अविवेक जान-वूजकर किस प्रकार किया जा सकता है।

पिताजी ! मैं आप से भी विनय-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप अव मेरे पथ में रुकावट न डालिए और यदि आप को कोई खास अड़चन न हो तो आप भी इसी पथ का अनुसरण कीजिए।

जम्बूकुमार का यह कथन सुनकर उनके पिता और, माता के नेत्र खुल गये। जम्बूकुमारजी के सवल और निश्चयपूर्ण कथन के आगे उन्हें कुछ कहना न सूजा। अन्त में उन्होंने जम्बूकुमार की पत्नियों के माता पिता के पास यह संवाद भेजा। वे सव अत्यन्त व्याकुलता के साथ आये। उन्होंने भी अपनी सारी शक्ति जम्बूकुमार को समझाने में खर्च करदी पर जम्बूकुमार टस से मस न हुए। जम्बूकुमार के सास—ससुर कहने लगे:—

जम्बूकुमारजी ! तथा पुत्रियों ! यह जानकर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही कि आप सव आज ही दीक्षा ग्रहण करने का हठ कर रहे हैं ! भला यह उम्र भी क्या संयम—साधन के लिए है ? कल विवाह हुआ और आज दीक्षा लेने को तैयार हो गये, यह क्या शोभनीय वात है ? जीवन का

बहुत अंश अभी शेष है। उसमें आनन्द के साथ दीक्षा लेना उस समय हम लोग रोकने नहीं आवेंगे। भला, हमारे इन धोले केशों की तो लाज रक्खो ! हम सब वृद्ध हैं, मृत्यु की तरह देखते हुए, जीवन के अन्तिम किनारे पर खड़े हैं। इस दशा में हमें छोड़कर तुम्हारा चला जाना क्या उचित है ? वृद्ध—अवस्था में हमारी सेवा करोगे, यह सोचकर बड़ी आशा के साथ तुम्हारा पालन—पोषण किया है। आज तुम अचानक हमें निराश करके तमाम आशाओं पर पोता फेर कर चल देने को उद्यत हो गये हो ? क्या यही तुम्हारा कर्त्तव्य है ? जन्म से लेकर बड़े होने तक हमने तुम्हारा जो पालन—पोषण किया है सो क्या इस रूप में किया है ? उसका फल तुम्हारी ओर से क्या इस रूप में मिलना चाहिए ? नही ऐसा न होगा। आपको घर में रहना होगा। इस समय भूलकर भी साधु बनने की वात अपने मुंह पर न लाइए।

जामाताजी ! आप तो समझदार हैं। पुत्रियां अभी नादान हैं। वे समझती ही क्या है ? उन्हें अभी आप कुछ भी समझा सकते हैं, वे समझ जाएंगी। थोड़ी देर के पश्चात् उससे विरुद्ध बात समझाने और स्वीकार कराने में भी कोई कठिनाई न होगी विचारों की प्रौढ़ता प्रायः अवस्था की प्रौढ़ता पर अवलम्वित रहती है। उनकी उम्र अभी बिल्कुल कच्ची है। उनके विचारों पर अभी कोई भरोसा नही रखना चाहिए और न किसी ऐसे कार्य के लिए उन्हें उद्यत कर देना चाहिए जिसका सम्पूर्ण जीवन पर प्रभाव पड़ता हो। ऐसा करना अत्यन्त अनर्थकारी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त आपको भी उतावल से काम नहीं लेना चाहिए। आप के माता पिता को और हमें आपका ही पूरा सहारा है। एक क्षण के लिए भी आपका वियोग सहन नहीं हो सकता, फिर यह स्थायी वियोग कैसे सह्य होगा ? हम लोग आप के वियोग में जीवित ही न रह सकेंगे।

एक बात और है। आप हमारे अनुनय को स्वीकार नहीं करते हैं मगर जरा यह भी सोचिए कि हम लोगों की आज्ञा प्राप्त किये बिना आप दीक्षा ले कैसे सकते है ? और सुधर्मा स्वामी भी ऐसी दीक्षा कैसे देंगे ? हम सब आपके मार्ग में आड़े पड़े रहेंगे। यदि आप इतनी कठोरता को बटोर कर ला सकें तो ले आइए और हमारी छाती के ऊपर पैर रखकर—हमें पांव तले कुचल कर चले जाइए।

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—माता—पिताओं ! तथा कुटुम्बी-जनों ! मुझे अत्यन्त आश्चर्य है कि आप तत्त्व की ओर दृष्टि नहीं डालते ? आप कहते हैं कि आपसे क्षण भर का भी वियोग नही सहा जा सकता, परन्तु यदि इसी समय यमराज का पर-वाना आ जाय और मुझे अभी-अभी यमलोक चला जाना पड़े तो आप क्या करेंगे ? उस वियोग को आप सहन करेंगे या नहीं ? क्या किसी भी एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके समस्त कुटुम्बियों ने अपने प्राण दिये है ? ऐसा आपने कहीं देखा सुना है ? उस समय आप यमराज से क्या कहेंगे ? क्या आप में वह शक्ति है कि आप मुझे यम के पास से बचा लें ? संसार तो सराय है। इसमें अनेक दिशाओं से तथा कनेक देशों से आकर प्राणी इकट्ठे होते है और कुछ समय ठहर कर फिर

अपनी-अपनी राह चल देते हैं। संयोग-वियोग संसार में अनिवार्य्य अवस्थाएं हैं। जो संयुक्त हुआ है वह अवश्यमेव वियुक्त होगा, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। कुटुम्बीजन भले ही रोएं, चिल्लाएं या जमीन आसमान एक करें, पर उनकी एक भी नहीं चलती। एक कवि ने कहा है:—

तेरे अनुगामी स्वजन, गये कौन सी वाट ?
तू रोता ही रह गया, पकड़े-पकड़े खाट !

केसरी सिंह वन में जब किसी मृग पर झपटता है तो दूसरे मृग अपने प्राण बचाकर भागते हैं। यदि अनुराग के वश होकर वे न भागें तो भी क्या उसकी रक्षा कर सकते हैं ? यमराज रूप सिंह के सामने मनुष्य रूपी मृग की ऐसी ही असहाय स्थिति है।

आप कहते हैं कि उतावल न करो। पर भगवान् महावीर स्वामी ने यह कहा है:—

कुसग्गे जह ओस विंदुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं माणु आण जीविय समयं गोयम ! मा पामायए॥

दूब के ऊपर लटकता हुआ ओस का बिन्दु जैसे थोड़ा ही ठहरता है, ठीक वैसा ही मनुष्यों का जीवन है। अतएव हे गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद कर।

इह इत्तरियम्मि आउए, जीवियए वहुपच्चवायए।
विहुणा हि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए॥

अर्थात्—आयु थोड़े ही दिनों की है। उसमें भी यह जीवन अनेक प्रकार की विघ्न बाधाओं से परिपूर्ण है। तात्पर्य यह कि जीवन कायम रहने पर भी कोई पागल हो जाता है, कोई अन्धा हो जाता है, कोई वहिरा हो जाता है, कोई अत्यन्त रुग्ण अवस्था

अर्थात् जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो अथवा जो मृत्यु के आक्रमण से भाग कर बच सकता हो, जिसे यह निश्चय हो कि मैं मरूंगा नहीं, वही कल पर अवलम्बित रहे। तात्पर्य यह है कि धर्मकृत्य कल के लिए भी न छोड़ कर आज ही कर डालना चाहिए, क्योंकि मृत्यु का ठिकाना नहीं है। वह न जाने कब आ धमके ?

आदरणीय सज्जनों ! संसार में कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता। आज हम किसी के रक्षक होने का दम्भ भले ही करें परन्तु समय आने पर वह दम्भ मिथ्या ही सिद्ध होता है। आप कहते हैं कि आपको मेरा सहारा है पर जब आप अपने कर्मों का फल भोगेंगे तब मैं आपको कैसे बचाऊंगा ? बीमारी होने पर क्या मैं आपका दुःख बांट सकूंगा ? आज तक किसी ने किसी की वेदना का बंटवारा किया है ? वस्तुतः ऐसा होना असम्भव है भगवान् कहते हैं:—

न तस्स दुःख विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुना न बंधवा।
एक्को सय पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

भावार्थः—किसी व्यक्ति के दुःख का बंटवारा न जाति कर सकती है न मित्रगण कर सकते हैं, न पुत्र कर सकते हैं और न भाई-बन्ध ही कर सकते हैं। अकेले जीव को स्वयं ही दुःख भोगना पड़ता है, क्योंकि कर्म, कर्त्ता का ही पीछा करता है।

अतएव आप मेरा जो सहारा खोज रहे हैं सो संसार का स्वरूप देखते हुए वह उचित नहीं है। सच्चा सहारा धर्म है। वही आश्रयदाता है, वही त्राण है, वही दुःखों से बचाने वाला है। मैं उसी सहारे को प्राप्त करने की तैयारी कर रहा हूँ। आप भी

उसी सच्चे सहारे को प्राप्त करें। मोह के माया जाल में न पड़िए। मेरे साथ ही आप भी संयम धारण कीजिए और धर्म रूपी कल्प वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम कीजिए, जिससे सांसारिक संताप आपके पास भी न फटक सकेगा और उसके अमृत फल का आस्वादन करके सदा के लिए भूख प्यास, तृष्णा और जन्म-मरण के भय से मुक्त हो सकेंगे।

जम्बूकुमार के इन वैराग्य-युक्त वचनों को श्रवण कर उनके माता-पिता सास-ससुर आदि सभी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। संसार का असार स्वरूप उनकी आंखों के आगे नाचने लगा संसार रूपी विप वृक्ष का मूल मोह एकदम शिथिल पड़ गया। उसकी जड़ हिल उठी। उन्हें अब सारा संसार एक नये ही रूप में दिखलाई देने लगा। उन्हें जान पड़ने लगा कि हम अब तक जिन नेत्रों से दुनियां को देख रहे थे। वे नेत्र वास्तव में हमें धोखा दे रहे थे। जम्बूकुमार ने आज ज्ञान रूपी अजन आंजकर नेत्रों का विकार दूर कर दिया है। नेत्रों में अब एक अलौकिक निर्मलता आ गई है। सारे ससार की कायापलट सी हो गई है। वे सब अपने सौभाग्य को सराहने लगे। कहने लगे—धन्य है जम्बूकुमार को जिन्होंने हमारे अज्ञान-अन्धकार का नाश कर दिया है। सचमुच हम अत्यन्त भाग्यशाली है जिन्हें ऐसा सुयोग्य, धर्मनिष्ट और पथ प्रदर्शक पुत्र एवं दामाद मिला है। जम्बूकुमार। तुम्हें पाकर हम कृतकृत्य हो गये है। संसार समुद्र में हम डूब रहे थे, तुमने जहाज बन कर हमें उबार लिया है। हम हृदय से तुम्हारे आभारी है। तुम अब प्रसन्नता के साथ संयम धारण करो। हम सब लोग भी अत्यन्त संतोष और शान्ति के साथ तुम्हारा अनुसरण करेंगे।

संसार के दुःखों से मुक्त होने का उपाय प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए। वह उपाय सिवाय संयम धारण करने के और दूसरा नहीं है। अतएव हम सभी संयम धारण करेंगे और अपनी आत्मा को सर्वोत्कृष्ट कल्याण मार्ग में अग्रसर करेंगे। अज्ञान के वश होकर आपके मार्ग में हमने जो विघ्न उपस्थित करना चाहा था। उसका सबसे अच्छा प्रायश्चित यही है। फिर भी आशा है आप हमें क्षमा करेंगे।

पाठक जिस प्रभव चोर का वृतान्त पहले पढ़ चुके हैं वह सबसे पहले जम्बूकुमार के साथ संयम धारण करने के लिए उद्यत हो गया था। जम्बूकुमार का सदुपदेश पाकर वह महाराज कौणिक के पास पहुँचा। उसने अतीव विनीत स्वर में कहा—

प्रभव—महाराज ! मैं आपका बड़ा अपराधी हूँ। जिसे पकड़ने के लिए आपने अपनी सम्पूर्ण शक्ति खर्च कर दी है, फिर भी जो हाथ न आया वही भयंकर व्यक्ति आज श्रीमान् के सामने उपस्थित है।

कौणिक—कौन हो तुम, प्रभव तो नहीं ?

प्रभव—जी हां पृथ्वीनाथ, दास का यही नाम है।

कौणिक—तो तुम आज यहां कैसे ? क्या तुम्हारी हिम्मत अब इतनी बढ़ गई है कि तुम निस्संकोच होकर राज-सभा में प्रवेश कर सकते हो ?

प्रभव—महाराज ! आपके समक्ष उपस्थित होने में हिम्मत की भला क्या आवश्यकता है ? आप तो प्रजा-पालक हैं। प्रजा के पिता हैं। मैंने यद्यपि कानून भंग किया है, फिर भी हूँ तो आप की ही प्रजा। और इस नाते आप मेरे भी पिता हैं, पालक हैं।

पिता के पास पुत्र का आना प्रशंसनीय हिम्मत का काम नहीं है।
कौणिक—तो इतने दिनों तक क्यों उपस्थित नहीं हुए ?

प्रभव—अन्नदाता ! इतने दिनों तक मैं पापी था। पापी मनुष्य के परिणामों में अत्यन्त सम्क्लेश रहता है। उसका हृदय भीतर से अत्यन्त भयभीत रहता है। वह दूसरों की बात ही क्या अपने आपसे ही डरता रहता है। जहां भय का कारण नहीं वहां भी पापी कांपता रहता है। इसी कारण अब तक आपके दर्शन से में वंचित रहा हूँ।

कौणिक—अभी तक तुम पापी थे, इससे क्या तात्पर्य ? क्या तुम अब निष्पाप हो गये।

प्रभव—जी हां, मै अब निष्पाप हूँ। पुराने पापों को मैंने पश्चात्ताप की धूनी में भस्म करने का प्रयास किया है।

कौणिक—अच्छा, तो यहां आने का क्या प्रयोजन है ?

प्रभव—जी, यहां आने का एक विशेष उद्देश्य है। मैंने अनीतिपूर्वक, जनता को दुःख देकर जो धन डकैती द्वारा संचित किया है वह सब आपके चरणों में रख देने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

कौणिक ने चकित होकर पूछा—अरे प्रभव। तुझे यह तत्त्व ज्ञान किसने सिखाया है ?

प्रवभ—मेरे चौर्य-कर्म ने ! न मैंने चोरी करने को अपना पेशा बनाया होता, न मै जम्बूकुमार के घर चोरी करने जाता। वहां चोरी करने गया और उन्होंने मुझ पर अपना जादू चला दिया। मै उन्हें लूटने गया था, उन्होंने मेरे पापों को लूट लिया। उनकी बातों ने मेरी आंखें खोल दी। उनका आध्यात्मिक उद्बोधन

सुन कर मैं पापों से मुक्त हो गया। अतएव मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका पहला श्रेय मेरे चौर्य कर्म को है और दूसरा श्रेय श्रीजम्बूकुमारजी को है।

इतना कहकर प्रभव ने आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त महाराज कौणिक सुना दिया।

तब कोणिक ने कहा—प्रभव! मैं आज बहुत प्रसन्न हूँ। तुम सत्पथ पर आ गये हो इससे प्रजा में शान्ति रहेगी। तुमने अपने अपराधों को इस प्रकार स्वीकार किया है कि अब तुम्हें दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रही। यही नहीं, बल्कि तुम्हें मैं कुछ पुरस्कार देना चाहता हूँ। अच्छा अब शान्त होकर। राज्य-कोष से तुम्हारे खर्च का प्रबन्ध कर दिया जायगा। अब तुम बिलकुल निर्भय रहना।

प्रभव—स्वामिन्! आपकी ओर से तो मुझे निर्भयता पहले भी थी और अब भी है। पहले मैं आप से तनिक भी नहीं डरता था। राज्य भर पर मेरी गहरी धाक थी। राज्याधिकारी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे। पर अब मैं निर्भय नहीं हूँ। मुझे अपने पापों का भय सता रहा है और मृत्यु की भयंकरता भी बेचैन बनाये हुए है। आपकी कृपा के लिए मैं अत्यन्त अभारी हूँ। आप मेरे खर्च की व्यवस्था करना चाहते हैं, पर मैंने जम्बूकुमार के साथ संयम धारण करने का पक्का इरादा कर लिया है, मैं जम्बूकुमार के साथ रहकर भगवद्-भक्ति में शेष जीवन यापन करूंगा और पुराने पापों का प्रायश्चित करूंगा संयम की साधना में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दूंगा। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' अर्थात् जो कर्म-उपार्जन करने में समर्थ होते है वे धर्म उपार्जन करने में

भी शक्तिशाली हो सकते हैं, भगवान् के इस वाक्य का मैं उदाहरण बनूंगा। आप आर्शीवाद दीजिए!

महाराज कौणिक को प्रभव के विचार जान कर परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—प्रभव! तुम धन्य हो। सुवह का भूला शाम को ठिकाने लग जाय तो वह भूला नही कहलाता। तुमने सारे संसार के सामने एक बड़ी भारी मिसाल पेश कर दी है। इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में तुम्हारा नाम अकित रहेगा। तुम्हारे विमल चरित्र से सैंकड़ों मनुष्य नवीन स्फूर्ति नयी प्रेरणा प्राप्त करेंगे। तुम्हारे उदाहरण से न जाने कितनों को आश्वासन मिलेगा। इतने नीचे से सहसा इतने ऊंचे चढ़ जाना सचमुच अत्यन्त जवां मर्दी है। मुझे तुमसे आज ईर्षा होने लगी है। तुमने हम जैसों को मात कर दिया है। मैं हृदय से तुम्हारी प्रशसा करता हूँ। तुम्हारा जीवन अतिशय धन्य है।

प्रातः काल होने के साथ ही जम्बूकुमार और प्रभव का वृत्तान्त सम्पूर्ण नगरी में फैल गया। जो जहां था, वह वहीं जम्बू और प्रभव के सम्बन्ध में वात-चीत कर रहा था। पहले जो सुनता, वही निराधार अफवाह समझ कर टाल देता। फिर विश्वस्त प्रमाण मिलने पर आश्चर्य सागर में डूब जाता। सोचता-भला, वड़े आश्चर्य की वात है कि चम्पा मे त्राहि-त्राहि मचा देने वाला, दया और धर्म के पास भी न फटकने वाला, दुर्दमीनीय डाकू, प्रभव सच्चे रास्ते पर आ गया और वह भी आनन-फानन में! सच है यदि उपदेशक में सच्ची धर्म-भावना हो, उपदेशक के वचन उसके जीवन के अन्तरतम् से ओत प्रोत होकर निकलें तो श्रोता पर विना प्रभाव डाले नहीं रहते।

नगर-निवासीजन प्रभव के परिवर्तन पर एक ओर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे और दूसरी ओर जम्बूकुमार की प्रशंसा कर रहे थे। कहते थे—धन्य है जम्बूकुमार! आंधी के समान उच्छृंखल यौवन को पाकर लोग मतवाले बन जाते हैं। हिताहित और उचित अनुचित की ओर उपेक्षा का भाव रख कर भोग-विलास में मस्त हो जाते हैं। यहां तक की अपने कुल की प्रतिष्ठा और अपनी मर्यादा को भी भूल जाते है। पर जम्बूकुमार को देखो! कल उन की असीम सौन्दर्य की राशि आठ कन्याओं के साथ विवाह हुआ था और आज संयम धारण करने के लिए तैयार हो गये हैं! उनके त्याग और वैराग्य की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। ऐसे महान् पुरुष हमारे देश के, हमारे नगर के भूषण हैं। वे अपने उच्च चरित्र से जगत् के समक्ष शिक्षाप्रद पाठ उपस्थित करते हैं। उनके अनुकरण से पतितों का उत्थान होता है। प्रभव जैसे प्रकृष्ट पापी को क्षण भर में दानव से देव बना देना क्या आसान काम था? राज्य की सम्पूर्ण शक्ति से जो न हो पाया वह जम्बूकुमार के उदार चरित्र से सहज ही हो गया।

इसी प्रकार जम्बूकुमार की नवविवाहित पत्नियों को भी लाख-लाख अभिनन्दन है जिनहोंने यौवन-मन्दिर की प्रथम पंक्ति पर पदार्पण करते ही परम मगलमय धर्म का आश्रय लिया है। उन्होंने भोग-लालसा को लात मार कर, प्राप्त काम भोगों का परित्याग करके, सच्ची पति परायणा अर्द्धांगना की भांति अपने पति के प्रशस्त पथ का अनुसरण किया है। ऐसी माननीय महिलाएं इस मही-मण्डल की मण्डन रूप हैं। इनका पावन आदर्श चिरकाल तक पृथ्वी पर अमर रहेगा और विषय-वासनाओं के कीचड़

में पड़े हुए नर-नारियों का उद्धार करता रहेगा।

माता-पिता की अपने पुत्र पर यों ही अगाध ममता होती है पर पुत्र आदि अकेला हो और वैभव की प्रचुरता हो तो पुत्र स्नेह की सीमा ही नहीं रहती है। ऐसी अवस्था में जम्बूकुमार के माता-पिता और सास-ससुर को भी धन्य है जिन्होंने जम्बूकुमार के पथ का रोड़ा न बन कर संयम धारण करने में उनका साथ दिया है। उनके यहां किस वस्तु की कमी है ? करोड़ों की सम्पत्ति है। स्वर्ग के से भोगोपभोग भोगने के प्रभूत साधन प्रस्तुत हैं। फिर भी उन्हे ठुकरा दिया है ! धन्य है इस आदर्श त्याग को।

नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों के पास जब यह सम्वाद पहुँचा तो उन सभी के हृदय जम्बू परिवार की भूरि-भूरि सराहना करने लगे। भक्ति और अनुराग से उनका हृदय गद्गद् हो उठा। मन ही मन उनकी प्रशसा करते हुए सब लोग मिल कर जम्बूकुमार के घर आये और कहने लगे—प्रिय जम्बूकुमार ! आपकी दीक्षा के समाचार से हम लोग अश्चर्यान्वित हो गये है। इस यौवन में, इस परिस्थिति में भी आप जल में कमल की तरह विषय भोगों से सर्वथा अलिप्त हैं, यह जान कर श्रद्धा से हमारा मस्तक आपके सामने झुक जाता है। हम लोगों में कई बूढ़े हो गये है, कई मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार बैठे है फिर भी हमसे ससार त्यागते नहीं बनता। हम लोग विषयों के कीड़े बने हुए है। और आप इस नवयोवन अवस्था में ही विषयों की दासता को तिलांजलि देकर सयम साधना करने के लिए तैयार हो गये है। आप की हम लोग जितनी प्रशसा करें, थोड़ी ही होगी।

मगर एक बात हमें कहनी है। आप जैसे अपने परिवा-

के एक अनमोल मोती हैं उसी प्रकार चम्पा नगरी के भी चमकते हुए हीरे हैं हम लोगों का भी आपके माता-पिता की तरह ही, आपके ऊपर अधिकार है। वही अधिकार और वही अनुराग हमें यह कहने के लिए बाध्य करता है कि आप अभी साधु-धर्म को अङ्गीकार न करें। पहले संसार का थोड़ा और अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद आप प्रसन्नता-पूर्वक दीक्षा धारण करें। ऐसा करने से आपका मन संयम में अधिक एकनिष्ठ होगा। दूसरे, हमारे नगर की शोभा, जो आपकी दीक्षा से सहसा फीकी पड़ जाने वाली है, कुछ अधिक दिनों तक बनी रहेगी। आशा है आप हमारे इस प्रस्ताव को स्वीकार करेंगे।

जम्बूकुमार—गुरुजनों! आपका सदा से मुझ तुच्छ बालक पर असीम स्नेह रहा है। वही स्नेह आज आपको इस आग्रह के लिए प्रेरित कर रहा है। मैंने कभी आपकी आज्ञा नहीं टाली। अब भी मैं आपके आदेश का उल्लंघन करना नहीं चाहता। मगर एक शर्त आपको भी माननी पड़ेगी।

नगर-निवासियों ने समझा—जम्बूकुमार हमारे आग्रह को स्वीकार करते हैं। इससे उनके हृदय में आशा का संचार हुआ। वह कहने लगे—आपकी शर्त पूरी कर देने में हमें कोई आपत्ति न होगी। आप खुशी से अपनी शर्त रखिए। हम उसे पूर्ण करने को प्रस्तुत हैं।

जम्बूकुमार—मेरी शर्त यही है कि जब तक मैं संसार में रहूँ तब तक आप लोग मुझे मृत्यु से और आधि-व्याधि से बचाये रहें।

जम्बूकुमार ने जो कहा उसकी कल्पना भी किसी ने नहीं की

थी। संक्षिप्त और सारगर्भित एक वात ही से सब सन्नाटे में आ गये। सब एक दूसरे के मुंह की ओर ताकने लगे। किसी को कुछ भी उत्तर देते न सूझ पड़ा। जो वात मानवीय शक्ति से परे है, उसे पूर्ण करने की हां कौन भरेगा? मगर वात यथार्थ है। यदि हम मरण और आधि-व्याधि का जिम्मा अपने ऊपर नहीं ले सकते तो हमें दीक्षा लेने से रोकने का भी क्या अधिकार है?

अन्त में एक मुखिया बोले—जम्बूकुमार! आपने बड़ी महत्वपूर्ण वात हमारे सामने रखी है। मगर यह तो हम लोगों के सामर्थ्य से वाहर है। साधारण मनुष्य किस गिनती में हैं इन्द्र भी इस शर्त को पूरी नहीं कर सकता। काल आ जाने पर बदले में हम अपने प्राण देकर भी आपकी रक्षा न कर सकेंगे। इसी प्रकार बीमारी को भी नही टाल सकते।

जम्बू—सत्पुरुषों! जब यह निश्चित नहीं हैं कि मृत्यु किस समय आकर मनुष्य को उठा ले जायेगी और हम यह भी नहीं जानते कि बीमारी कब आकर इस क्षण भंगुर शरीर को वेकार कर देगी तब धर्म की साधना करने में विलम्ब न करना ही श्रेयस्कर है। अतएव आप लोग मुझे आर्शीवाद दीजिए कि मै जिस पथ पर प्रयाण कर रहा हूँ उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हो।

नागरिक जन—आपके वैराग्य की आपकी आध्यात्मिक निष्ठा की, और आपके अनुपम त्याग की हम लोग हृदय से सराहना करते है, मुक्त कंठ से प्रशंसा करते है। आपका जीवन सफल और सार्थक हो गया। आपके निमित्त से आपका परिवार भी तर गया है। संसार में आपके समान धर्मात्मा पुत्र का संयोग मिलना तीव्र पुण्य का फल है। आपका चारित्र हम वूढ़ों के लिए जीवित

आदर्श है। आप प्रसन्नता के साथ दीक्षा ग्रहण कीजिए।

जम्बूकुमार! हमें धिक्कार है कि हम लोग सांसारिक मोह-ममता में बुरी तरह फंसे हुए हैं। रात-दिन अर्थ और काम रूप पुरुपार्थ की आराधना में ही निमग्न रहते हुए अपने जीवन को विगाड़ रहे हैं। धर्म की आराधना से सर्वथा पराङ् मुख हो रहे हैं। परम पुरुपार्थ मोक्ष का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। पहले भवों में जो पुण्य उपार्जन किया था उसके फल स्वरूप यह जन्म, मानव भव, उच्च कुल, धर्म श्रद्धा, परिपूर्ण इन्द्रियां—आदि सब सामग्री प्राप्त हुई है। इसे भोग रहे हैं पर भविष्य की जरा भी चिन्ता नहीं करते हैं। मूल पूंजी खाने वाले व्यापारी के समान हमारा भविष्य एकदम अन्धकार में है। फिर भी मोह के जाल में पड़े हैं और संसार को त्यागने में असमर्थ हैं।

जम्बू०—सज्जनों! आप धर्म के स्वरूप को समझते हैं। वास्तव में धर्म ही एक मात्र सारभूत वस्तु है। संसार के सुख भी धर्म के निमित्त से ही प्राप्त होते हैं। कहा भी है—

धम्मेण कुलपसूई, धम्मेण य दिव्यरूप संपत्ती।
धम्मेण धन समद्धि, धम्मेण सुवित्थड़ा कित्ती॥

अर्थात् धर्म के प्रभाव से सत्कुल में जन्म होता है, धर्म से दिव्य रूप की प्राप्ति होती है, धर्म से धन-वैभव मिलता है और धर्म से ही विशाल कीर्ति फैलती है।

इसके अतिरिक्त परलोक में भी एकमात्र धर्म ही सहायक होता है। सांसारिक नाते-रिश्तेदार और धन आदि सब यहीं रह जाते हैं। कोई साथ नहीं देता—

भीमंमि मरणकाले मोत्तणं दुक्खसंविढ़त्तं पि।
अत्थं देहं सजणं धम्मोच्चिय होइ सुसहाओ॥

भावार्थ—भयंकर मृत्यु का समय जब आ उपस्थित होता है तब अत्यन्त क्लेश सहन करके-चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहा—कर-प्राप्त किया हुआ धन धरा रह जाता है। यह देह और स्वजन भी साथ देने में समर्थ नहीं होते। उस समय केवल धर्म ही सहायक होता है।

इस प्रकार जब अन्त में स्वजन-सखा आदि कोई भी सहायक नहीं होता तब उन्हें सच्चा बन्धु नहीं कहा जा सकता। सच्चा बन्धु तो वही है जो अन्त तक-परलोक में भी-साथ देता है। जैसा कि कहा है—

धम्मो बन्धू सुमित्तो य, धम्मो य परमो गुरु।
मोक्खमग्गो पयट्टाणं, धम्मो परमसन्दिणो॥

अर्थात् धर्म बन्धु है, धर्म सच्चा मित्र है, धर्म परम गुरु है, और मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने वाले पथिकों के लिए धर्म ही श्रेष्ठ रथ है।

सज्जनों! ऐसा समझ कर प्रत्येक प्राणी को धर्म का संचय करना चाहिए। जितनी मात्रा में धर्म का अर्जन किया जायगा उतनी ही मात्रा में आत्मा का हित और सुख होगा। जो लोग क्रियात्मक धर्म की आराधना न कर सकते हों उन्हें धर्म भावना का चिन्तन तो प्रतिदिन प्रातः काल अवश्य ही करना चाहिए। ऐसा करने से धर्म की रुचि हृदय में जागृत होगी और एक दिन आएगा जब वह रुचि क्रिया का रूप धारण करेगी।

जम्बूकुमार ने नगर के प्रतिष्ठित पुरुषों को इस प्रकार धर्म का सन्देश सुनाकर विदा किया। उनके मार्ग में जो कठिनाइयां उपस्थित हुई, उन सब पर बड़ी वीरता के साथ विजय प्राप्त कर

जम्बूकुमार ने अपने पथ को सर्वथा सुरक्षित बना लिया। सच है जिसके हृदय में सच्ची धर्म की लगन होती है, जो अपने जीवन को धर्म में तन्मय बना लेते हैं, उन्हें च्युत करने की शक्ति तीन लोक में किसी के पास भी नहीं है।

इसके अनन्तर जम्बूकुमार, उनके माता-पिता, जम्बूकुमार की आठों पत्नियां और उनके भी माता पिता, इस प्रकार सत्ताईस व्यक्ति एक साथ मिल कर संयम की साधना के लिए चलने को उद्यत हुए तो उसी समय महापुरुष प्रभव भी अपने साथियों के साथ आ गये। इस प्रकार दीक्षाभिलाषियों की संख्या पांच सौ सत्ताईस हो गई। सब एक साथ जब नगर में होकर श्रीसुधर्मा स्वामी के चरणारविन्द में पहुँचने के लिए निकले तो नगर में दर्शकों के समूह के समूह उमड़ पड़े। उस समय का दृश्य अलौकिक था! सबके हृदय वैरागियों के प्रति अतिशय आदर और शुद्ध श्रद्धा से ओतप्रोत हो गये थे। सब एक स्वर से उनके त्याग और वैराग्य की प्रशंसा कर रहे थे। नगर भर में एक प्रकार का धर्ममय वायुमण्डल बन गया था। सभी लोग इस आदर्श परिवार की धर्मनिष्ठा से प्रभावित हो रहे थे।

सभी दीक्षार्थी अन्त में भगवत्सुधर्मा स्वामी के समीप आ पहुँचे। सब ने उन्हें विधिपूर्वक वन्दना की, नमस्कार किया और कहने लगे—भगवान्! यह संसार जन्म-जरा-मरण की वेदना रूप भट्टी में जल रहा है, चारों ओर से जला रहा है। संसार के समस्त प्राणी विविध प्रकार की आधियों-व्याधियों के जंगल में बुरी तरह फंसे हुए हैं। संयोग का सुख भोगते-भोगते ही वियोग की वेदना आकर सताने लगी है। हृदय में रही हुई कामनाएं

मनुष्यों को अत्यन्त दुःख दे रही हैं। किसी को साता नही है! कोई संतुष्ट नही है। सभी जीव अपने जीवन को दुःखों से मुक्त कराने वाले है। अतएव हम लोग आपके चरणों के शरण में उपस्थित हुए हैं। कृपा कर हमें स्वीकार कीजिए। हमारे पथ-प्रदर्शक बनिये। जिस दीक्षा को जिनेन्द्र भगवान् स्वयं धारण करते है, वह दीक्षा हम लोग भी धारण करना चाहते हैं। कृपया हमें अपना आश्रय दीजिए। हम आपके अनुचर बनेंगे। आपकी इस लोकोत्तर दया के लिए हम कृतज्ञ होंगे।

इसके अनन्तर सभी वैरागी ईपान् कोण में गये और वहां जा कर पहले के वस्त्रों एवं अलकारों को त्याग कर साधु का पावन वेश धारण कर लिया। सभी ने मुंह पर मुखवस्त्रिका बांधी, कांख में रजोहरण लिया। और हाथ में झोली लटकाई। शरीर पर एक स्वच्छ सफेद चादर ओढ़ी। वह श्वेत चादर शुक्ल ध्यान के आदर्श का स्मरण कराती थी। आत्मा को कपाय आदि के विकारों से मुक्त कर स्वच्छ बनाने की साक्षी भूत थी। इसी आदर्श को प्रकट करने के लिए सफेद चोलापट्टा पहना गया था। इस प्रकार साधु का दिव्य वेप बनाकर सब दीक्षार्थी अत्यन्त विनय और नम्रता के साथ श्री सुधर्मा स्वामी के समक्ष उपस्थित हुए।

श्री सुधर्मा स्वामी ने सब को मुनि पद की गुरुता का बोध कराया। यह दीक्षा सामान्य दीक्षा नहीं है। इसे जिनेन्द्र भगवान् भी आत्मकल्याण के लिए धारण करते है। संसार-सागर से तारने वाली इस दीक्षा को अनादि काल से अनन्त तीर्थङ्करों ने चक्रवर्तियों ने, सम्राटों ने, तथा अन्य अनेक महापुरुपों ने धारण किया हैं। इसे प्रभूत पुण्य का उदय होने पर ही धारण किया जा

सकता है। जो इस दीक्षा से दीक्षित होते हैं वे संसार में रहते हुए भी उससे सर्वथा अलिप्त रहते हैं। संसार को नाटक समझते हैं। उसमें लेश मात्र भी अनुराग नहीं करते। यह दीक्षा सिंह-वृत्ति है। सूरवीर और धीर पुरुषों का कर्त्तव्य है। कायर इस पथ पर नहीं चल सकते। विषयों के दास इस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते। अतएव हे मुमुक्षुओं! इस पद की गम्भीरता, गुरुता और महत्ता को बराबर समझो। प्राणपण से तुम्हें इस पद की रक्षा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि तुम संसार के आकर्षणों से आकृष्ट हो कर अपने पद से डिग गये तो स्मरण रखना, अपनी आत्मा का घोर अकल्याण करोगे। इतना ही नहीं, इससे जिन भगवान् के मार्ग की अपकीर्ति होगी। धर्म का उपहास होगा। संसार की चक्षुएं चर्ममय हैं। वह मोटी बात जानता है। धर्म की आराधना करने वालों के सदाचार-दुराचार से धर्म की श्रेष्ठता-निकृष्टता का परीक्षण करता है। अतएव तुम सब को धर्म की साक्षात् मूर्ति बनना होगा। तुम्हारा प्रत्येक व्यवहार धर्म की कसौटी होगा। अतएव प्रत्येक व्यवहार में धर्म के आदर्श को अपने सामने रखना।

एक चेतावनी और देना है। यह दीक्षा जीवन-पर्यन्त की दीक्षा है। जिस उत्कृष्ट भाव से आज तुम इसे स्वीकार करना चाहते हो, वह उत्कृष्ट भाव स्थायी बनाये रखना। यदि किसी मोह के वश हो कर इस कंटक-पथ पर अग्रसर हो रहे होओ या क्षणिक विरक्ति की तरंग में वहकर यह निर्णय किया हो तो फिर एक बार विचार कर लो। दृढ़ निश्चय के बिना, आरंभ शूरता से भविष्य उज्जवल बनने के स्थान पर अधिक मलीन बन जाता है।

यदि तुम्हें संसार दुःखों का आकार दीखता हो, संसार की माया से मुक्त होने में ही सच्चा कल्याण दृष्टिगोचर होता हो तो फिर यह मार्ग बहुत कठिन भी न होगा। देवानुप्रियों ! इस लिए मै कहता हूँ, पुनः पुनः कहता हूँ कि दीर्घ दृष्टि से अपने हित का विचार करो। शाश्वत कल्याण की कामना अन्तःकरण मैं बलवती हो गई है तो आओ, मैं तुम्हें दीक्षित करता हूँ।

श्रीसुधर्मा स्वामी की समयोचित सूतना पाकर सब ने उन्हें फिर वन्दना-नमस्कार किया। सबने अपने निश्चय को पुनः प्रकट किया। तब श्री सुधर्मा स्वमी ने सब मुमुक्षुओं को यावज्जीवन पांच महाव्रत रूप मुनि दीक्षा से दीक्षित कर दिया। इसके पश्चात् नव-दीक्षित मुनियों को इस प्रकार शिक्षा दी।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं नवंधई॥

अर्थात् यतना पूर्वक— अत्यन्त विवेक और सावधानी के साथ ही चलना, यतना पूर्वक खड़ा होना, यतना पूर्वक बैठो यतना पूर्वक सोओ, यतना पूर्वक आहार करो और यतना पूर्वक भाषण करो। जो यतना के साथ प्रवृत्ति करता है अर्थात् अपने मन वचन काय की प्रवृत्ति को विवेक के साथ जोड़ लेता है, वह पाप कर्मो का बंध नहीं करता।

अतएव अब तुम यतना के साथ प्रवृति करना। माया, मिथ्यात्व और निदान रूप शल्यों का सर्वथा परित्याग करना ! मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों पर राग-द्वेप मत करना। रूखा-सूखा, बचा-खुचा निर्दोष आहर लेना। आदर-सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा न करना। मन्त्र-तन्त्र या

भविष्य भापण आदि कार्य न करना। लौकिक लाभ की प्राप्ति के लिए किसी गृहस्थ आदि की प्रशंसा न करना। कोई आहार-पानी न दे या अन्य योग्य वस्तु के लिए मना कर दे तो रुष्ट न होना। देने वाले पर अनुरक्त न होना राग-द्वेप को अपने पास न फटकने देना। देव-दानव-मानव या तिर्यञ्च के द्वारा किये हुए उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करना। विकथा न करना। कपाय से दूर रहना आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को त्यागना। व्रतों में, समितियों और गुप्तियों में सदा दृढ़ रहना। आठ मदों को परित्याग करना नौ ब्रह्मचर्य की वाड़ों का पालन करना। दस यति धर्मों का सदा आराधना करना। भिक्षु की ग्यारह प्रतिमाओं के पालन करने की चेष्टा करना। सदा आत्मा की निगरानी रखना। हृदय में कभी कुत्सित भाव उत्पन्न न होने देना। आत्मिक निर्बलता के कारण यदि कभी स्खलना हो जाय तो तत्काल उसकी निन्दा-ग्रर्हा करना, जिन वचन के अनुसार उसका प्रायश्चित लेना। शत्रु-मित्र पर समता भाव रखना।

जो साधु क्षणिक वैराग्य के वश हो कर महाव्रत ग्रहण कर लेता है फिर मन चाहा व्यवहार करने लगता है वह पाप श्रमण कहलाता है। अतएव तुम पाप—श्रमण से सदा वचते रहना। निद्राशील होना अर्थात् खा-पीकर सुख से सो रहना, आचार्य, उपाध्याय और रत्नाधिक का विनय न करना, उन पर क्रोध करना, उन्हें सन्तुष्ट न रखना, पट्काय की रक्षा न करना शय्या, संथारे आदि का बिना प्रतिलेखन और प्रमार्जन किये ही उपयोग करना, जल्दी-जल्दी अयतना से चलना, क्रोधशील

होना, विना यतंना के प्रतिलेखन आदि करना, गुरु का तिरस्कार करना, मायाचार का सेवन करना, अधिक बातें करना, अभिमान करना, लोभी होना, इन्द्रियों और मन का निग्रह न करना, वाद विवाद खड़ा करना, कलह-उपजना चंचल होना, हंसी मजाक करना, जहां-तहां बैठ जाना, रजयुक्त पैरों से सो जाना, दूध-दही-घी सहद आदि विगयों का वारवार सेवन करना, तपस्या में अनुराग न रखना, सूर्यास्त हो जाने पर खाना, आचार्य का परित्याग कर स्वच्छन्द विचरना, एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में चला जाना, अपनी जाति के प्रति अनुराग रखना, गृहस्थ के घर बैठ जाना, इत्यादि पाप-श्रमण के लक्षण हैं। पाप-श्रमण अपना इस लोक और परलोक-दोनों को विगाड़ लेता है। अतएव इन दोपों का कभी आचरण न करना। परमार्थ में एकाग्रह, एक निष्ठ और तन्मय रहना।

प्रातः काल और सांयकाल प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएं निरन्तराय करना। प्रतिलेखन के समय का व्यतिक्रम न करना। ज्ञान रूपी घोड़े पर सवार होकर, तप रूप तलवार को हाथ में लेकर कर्म रूप रिपुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करना। प्रथम पहर में स्वाध्याय करना, दूसरे में ध्यान करना, तीसरे पहर में गोचरी करना और चौथे में फिर आत्मा का ध्यान करना।

इस प्रकार चारित्र का पालन करने से आनन्द-आनन्द असीम और अनन्त आनन्द के पात्र वन जाओगे।

सव ने सुधर्मा स्वामी की शिक्षा अत्यन्त आदर के साथ श्रवण की विनय के साथ शिक्षा को स्वीकार किया। अन्त में

भक्ति के साथ उन्हें नमस्कार कर अपने को धन्य और कृतार्थ माना।

जम्बूकुमार अब दीक्षा धारण करके जम्बू स्वामी हो गये। जम्बूस्वामी ने मुनि अवस्था में ज्ञान और चारित्र की सम्पूर्ण शक्ति लगाकर आराधना की। ज्ञान और चारित्र दोनों ही मुक्ति के मार्ग हैं अतएवं उन्होंने दोनों को समान रूप से साधन करने में जरा भी कसर नहीं रक्खी। साथ ही कर्मों की निर्जरा के हेतु उन्होंने तीव्रतर तपश्चरण का अनुष्ठान किया।

श्रमणोत्तम भगवान् महावीर का प्रवचन, जो आज हमें उपलब्ध है, प्रायः श्री जम्बूस्वामी के प्रश्नों और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तर रूप में है। जम्बूस्वामी ने अपनी जिज्ञासा की पूर्ति करने के साथ जगत् के जीवों का उपकार करने के अभिप्राय से यह प्रश्न पूछे थे। अतएव संसार पर जम्बू स्वामी का असीम और अमिट उपकार है।

जम्बू स्वामी सोलह वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम में रहे। फिर आठ पत्नियों को छोड़कर तथा निन्नायानवें करोड़ मोहरों की धन-सम्पत्ति को तिनके की तरह त्यागकर मुनि व्रती बने। मुनि व्रतों का पालन करने से तथा तीव्र तपस्या के प्रभाव से आप को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवल ज्ञान की प्राप्ति होने पर लोक-अलोक, भूत, भविष्य तथा वर्तमान के समस्त पदार्थों को और समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक साथ हस्तकमलावत जानने लगे। आप महावीर भगवान् के निर्वाण से चवालीस वर्ष तक केवली पर्याय में विराजमान रहे। अस्सी वर्ष की आयु में आपने इस अशुचि, अनित्य और दुःख के मूल शरीर का सदा के

लिए परित्याग कर दिया। अशरीर होकर सिद्ध, बुद्ध और विशुद्ध होकर लोक के अग्रभाग में विराजमान हुए।

जम्बू स्वामी इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली थे। उनके पश्चात् फिर कोई भी महापुरुष सिद्धि-लाभ करने में समर्थ नहीं हुए। यही नहीं, आपके मोक्ष-गमन के पश्चात् निम्नलिखित दस बोलों का विच्छेद हो गया जो अभी तक कायम है:—

(१) मनः पर्यव ज्ञान (२) परमावधि ज्ञान (३) पुलाक लब्धि (४) आहारक शरीर (५) केवल ज्ञान (६) क्षायिक सम्यक्त्व (७) जिनकल्प (८) परिहार विशुद्धि चारित्र (९) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र और (१०) यथाख्यात चारित्र।

इस प्रकार महामहिम जम्बूस्वामी इस अवसर्पिणी युग की अन्तिम ज्योति थे।



परिशिष्ट



पट्टावली का संक्षिप्त परिचय

पहला पाट—चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर पहले पट्ट पर उनके सुप्रसिद्ध पांचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी विराजमान हुए। आप वीर निर्वाण से २० वर्ष बाद मोक्ष-धाम में पहुँचे।

दूसरा पाट—श्रीसुधर्मा स्वामी के मुक्त होने पर उनके शुशिष्य और इस चरित के नायक श्री जम्बूस्वामी उनके पट्ट पर आसीन हुए। आपका विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ में मौजूद है।

तीसरा पाट—श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण पद को प्राप्त होने पर उनके पाट पर श्रीप्रभव स्वामी विराजमान हुए। इन्होंने वीर निर्वाण सं० ७६ में देवलोक प्राप्त किया।

चौथा पाठ—शय्यंभव स्वामी, प्रभव स्वामी के पाट पर विराजे। वी० नि० सं० ६८ वें ६२ वर्ष की उम्र में स्वर्गारोहण किया।

पांचवां पाट—श्री यशोभद्रस्वामी ने अलंकृत किया। १४ वर्ष दीक्षा पालकर ८६ वर्ष की उम्र में वी० सं० १४८ में स्वर्गवासी हुए।

छठा पाट—श्री सम्भूतविजय स्वामी ने सुशोभित किया।

आपने ४० वर्ष मुनिव्रत पाला, ६० वर्ष की उम्र में वी० नि० सं० १५६ में स्वर्ग को प्रयाण किया।

सातवां पाट—इस पाट पर श्रीभद्राबाहु स्वामी विराजमान हुए। १७ वर्ष मुनि दीक्षा पाली। वी० सं० १७० में स्वर्ग को सुशोभित किया। कहते हैं भद्रबाहुस्वामी अन्तिम चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। आपके बाद चौदह पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया।

आठवां पाट—श्रीस्थूलिभद्र स्वामी, भद्रबाहु महाराज के पाट पर विराजे। ६६ वर्ष की उम्र में वी० सं० २१५ में आपने स्वर्ग-प्रयाण किया।

नौवां पाट—इस पाट पर आर्य महागिरी स्वामी विराजे। १०० वर्ष की उम्र भोग कर, ४० वर्ष दीक्षा पालकर वी० सं० २४५ में स्वर्ग सिधारे आपके एक प्रशिष्य श्रीश्यामाचार्य ने प्रज्ञापन सूत्र की रचना की है।

इन महापुरुष के अनन्तर निम्नलिखित पाट पर हुए:—(१०) बलिसिंह स्वामी (११) सोवन (१२) वीर स्वामी (१३) स्थंडिल स्वामी (१४) जीवंधर स्वामी (१५) आर्य समेद स्वामी (१६) नंदिल स्वामी (१७) नागहस्ती स्वामी (१८) रेवंत स्वामी (१९) सिंहगणिजी (२०) थंडिलाचार्य (२१) हेमवंत स्वामी (२२) नागजित स्वामी (२३) गोविन्द स्वामी (२४) भूतदिन्न स्वामी (२५) छोगगणिजी (२६) दुःसहगणिजी (२७) * देवर्षि गणि क्षमाश्रमण (२८) वीरभद्र (२९) शकरभद्र (३०) यशोभद्र (३१) वीरसेन (३२) वीरसंग्राम (३३) जिनसेन (३४) हरिसेन (३५) जयसेन (३६) जगमाल (३७) देवऋषि (३९) भीमऋषि

*क्षमाश्रमणजी के समय से उपलब्ध आगम साहित्य लिपिबद्ध किया गया।

[३९) कर्मऋषि (४०) राज-ऋषि (४१) देवसेन (४२) संकरसेन (४३) लक्ष्मीलाभ (४४) रामऋषि (४५) पद्मसुरि (४६) हरि स्वामी (४७) कुशलदत्त (४८) उवनी ऋषि (४९) जयसेन (५०) विजय ऋषि (५१) देवसेन (५२) सूरसेन (५३) महासूरसेन (५४) महासेन (५५) गजसेन (५६) जयराजजी (५७) मिश्रसेन (५८) विजयसेन (५९) शिवराजजी (६०) लालजी ऋषि (६१) ज्ञानजी ऋषि (६२) भाणजी ऋषि (६३) रूपजी ऋषि (६४) जीवराजजी ऋषि (६५) तेजराजजी (६६) कुंवरजी स्वामी (६७) हर्षऋषिजी (६८) गोधाजी स्वामी (६९) परशुरामजी स्वामी (७०) लोकपालजी स्वामी (७१) महाराज स्वामी (७२) दौलतराम स्वामी (७३) लालचन्दजी स्वामी (७४) हुक्मीचन्दजी स्वामी (७५) शिवलालजी स्वामी (७६) उदयचन्द्रजी स्वामी (७७) चौथमलजी स्वामी।

श्री चौथमलजी स्वामी के पट्ट पर पूज्य श्रीलालजी स्वामी और इनके पट्ट पर पूज्य ;श्री मुन्नालालजी स्वामी और पूज्य श्री जवाहिरलालजी स्वामी पूज्य श्री जवाहिरलालजी म० के पट्ट पर पुज्य श्री गणेशीलालजी महाराज और पुज्य श्री मन्नालालजी म० के पट्ट पर पुज्य श्री खूबचन्दी म० तथा इनके पट्ट पर पुज्य श्री सहस्समलजी महाराज बिराजमान हुये।

संवत् २००६ में जब पांच सम्प्रदाय वालों ने स्वर्गीय श्रीमद् जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज की प्रेरणा से सम्मेलन व्यावर में कर अपनो पदवियें संघटन के लिये छोड़ दी। उस अवसर पर पुज्य पण्डित र० श्री सहस्समलजी महाराज ने अपनी पुज्य पदवी, वयोवृद्ध पण्डित रत्न श्री

किस्तूरचन्दजी महाराज ने अपनी गणी पदवी, एवं पण्डित र० श्री प्यारचन्दजी महाराज ने अपनी उपाध्याय पदवी को छोड़ी। तत्पश्चात् सादड़ी (मारवाड़) में जब बाइस सम्प्रदायों का एकीकरण हुआ और श्रमण संघ कायम होकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज को बनाए। फिर सम्मेलन भीनासर में पण्डित र० श्री प्यारचन्दजी महाराज, पण्डित र० श्री आनन्दऋषिजी महाराज प० रत्न श्री अमरचन्दजी महाराज, पण्डित रत्न श्री हस्तीमलजी महाराज को उपाध्याय पद दिया गया और अन्य मुनिराजों को मन्त्री एवं प्रधान मन्त्री बनाये।

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!



मुद्रक :
मोतीलाल शर्मा
गीता आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस,
सनातन स्कूल रोड़ ब्यावर.
(राज.)

